

ज्ञानार्णवप्रवचन पञ्चदशभाग

सहजानंद शास्त्रमाला

ज्ञानार्णव प्रवचन

पञ्चदश व षोडश भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'ज्ञानार्णव प्रवचन पञ्चदश व षोडश' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है। इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री सुरेशजी पांड्या, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 3000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती अर्चनाजी जैन, साधनानगर, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं। सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी“सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम।।टेका।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।

अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊँ उतरूँ रम लूँ निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Table of Contents

प्रकाशकीय	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण	4
श्लोक-1294.....	13
श्लोक-1295.....	14
श्लोक-1296.....	15
श्लोक-1297.....	16
श्लोक-1298.....	17
श्लोक-1299.....	18
श्लोक-1300.....	18
श्लोक-1301.....	19
श्लोक-1302.....	20
श्लोक-1303.....	20
श्लोक-1304.....	21
श्लोक-1305.....	22
श्लोक-1306.....	22
श्लोक-1307.....	23
श्लोक -1308	24
श्लोक-1309.....	26
श्लोक-1310.....	27
श्लोक-1311.....	27
श्लोक-1312.....	28
श्लोक-1313.....	28
श्लोक-1314.....	30
श्लोक-1315.....	30

श्लोक-1316.....	31
श्लोक-1317.....	32
श्लोक-1318.....	33
श्लोक-1319.....	35
श्लोक-1320.....	35
श्लोक-1321.....	36
श्लोक-1322.....	37
श्लोक-1323.....	37
श्लोक-1324.....	38
श्लोक-1325.....	39
श्लोक-1326.....	39
श्लोक-1327.....	40
श्लोक-1328.....	41
श्लोक-1329.....	41
श्लोक-1330.....	42
श्लोक-1331.....	42
श्लोक-1332.....	43
श्लोक-1333.....	43
श्लोक-1334.....	44
श्लोक-1335.....	44
श्लोक-1336.....	45
श्लोक-1337.....	46
श्लोक-1338.....	46
श्लोक-1339.....	47
श्लोक-1340.....	47
श्लोक-1342.....	48

श्लोक-1343.....	50
श्लोक-1344.....	50
श्लोक-1345.....	51
श्लोक-1346.....	52
श्लोक-1347.....	52
श्लोक-1348.....	54
श्लोक-1349.....	55
श्लोक-1350.....	55
श्लोक-1351.....	56
श्लोक-1352.....	57
श्लोक-1353.....	57
श्लोक-1354.....	58
श्लोक-1355.....	59
श्लोक-1356.....	59
श्लोक-1357.....	59
श्लोक-1358.....	60
श्लोक-1359.....	60
श्लोक-1360.....	61
श्लोक-1361.....	62
श्लोक-1362.....	62
श्लोक-1363.....	63
श्लोक-1364.....	64
श्लोक-1365.....	65
श्लोक-1366.....	66
श्लोक-1367.....	66
श्लोक-1368.....	67

श्लोक-1369.....	67
श्लोक-1370.....	68
श्लोक-1371.....	69
श्लोक-1372.....	69
श्लोक-1373.....	70
श्लोक-1374.....	71
श्लोक-1375.....	72
श्लोक-1376,1377.....	72
श्लोक-1378.....	73
श्लोक-1379.....	74
श्लोक-1380.....	74
श्लोक-1381.....	75
श्लोक-1382.....	76
श्लोक-1383.....	77
श्लोक-1384.....	77
श्लोक-1385.....	78
श्लोक-1386.....	79
श्लोक-1387.....	79
श्लोक-1388.....	81
श्लोक-1389.....	81
श्लोक-1390.....	82
श्लोक-1391.....	82
श्लोक-1392.....	83
श्लोक-1393.....	84
श्लोक-1394.....	85
श्लोक-1395.....	85

श्लोक-1496.....	89
श्लोक-1497.....	91
श्लोक-1498.....	93
श्लोक-1499.....	95
श्लोक-1500.....	96
श्लोक-1501.....	96
श्लोक-1502.....	97
श्लोक-1503.....	99
श्लोक-1504.....	100
श्लोक-1505.....	100
श्लोक-1506.....	101
श्लोक-1507,1508.....	102
श्लोक-1509.....	103
श्लोक-1510.....	104
श्लोक-1511.....	104
श्लोक-1512.....	105
श्लोक-1513.....	106
श्लोक-1514.....	106
श्लोक-1515.....	107
श्लोक-1516.....	109
श्लोक-1517.....	113
श्लोक-1518.....	115
श्लोक-1519.....	116
श्लोक-1520.....	118
श्लोक-1521.....	119
श्लोक-1522.....	125

श्लोक-1523.....	129
श्लोक-1524.....	131
श्लोक-1525.....	136
श्लोक-1526.....	137
श्लोक-1527.....	138
श्लोक-1528.....	138
श्लोक-1529.....	139
श्लोक-1530.....	140
श्लोक-1531.....	141
श्लोक-1532.....	141
श्लोक-1533.....	142
श्लोक-1534.....	142
श्लोक-1535.....	143
श्लोक-1536.....	143
श्लोक-1537.....	144
श्लोक-1538.....	145
श्लोक-1539.....	145
श्लोक-1540.....	146
श्लोक-1541.....	147
श्लोक-1542.....	148
श्लोक-1543.....	149
श्लोक-1544.....	150
श्लोक-1545.....	150
श्लोक-1546.....	151
श्लोक-1547.....	152
श्लोक-1548.....	153

श्लोक-1549.....	154
श्लोक-1550.....	155
श्लोक-1551.....	156
श्लोक-1552.....	156
श्लोक-1553.....	157
श्लोक-1554.....	158
श्लोक-1554.....	162
श्लोक-1555.....	165
श्लोक-1556.....	167
श्लोक-1557.....	169
श्लोक-1558.....	172
श्लोक-1559.....	174
श्लोक-1560.....	177
श्लोक-1561.....	178
श्लोक-1562.....	179
श्लोक-1563.....	179
श्लोक-1564.....	180
श्लोक-1565.....	181
श्लोक-1566.....	182
श्लोक-1567.....	184
श्लोक-1568.....	184
श्लोक-1569.....	185
श्लोक-1570.....	186
श्लोक-1571.....	187
श्लोक-1572.....	187
श्लोक-1573.....	188

श्लोक-1574.....	190
श्लोक-1575.....	194
श्लोक-1576.....	196
श्लोक-1577.....	197
श्लोक-1578.....	197
श्लोक-1579.....	198
श्लोक-1580.....	198
श्लोक-1581.....	199
श्लोक-1582.....	200
श्लोक-1583.....	200
श्लोक-1584,1585.....	202
श्लोक-1586.....	203
श्लोक-1587.....	204
श्लोक-1588.....	206
श्लोक-1589.....	207
श्लोक-1590.....	209
श्लोक-1591.....	209
श्लोक-1592.....	210
श्लोक-1593.....	212
श्लोक-1594.....	213
श्लोक-1595.....	214
श्लोक-1596.....	214
श्लोक-1597.....	215
श्लोक-1598.....	220

ज्ञानार्णवप्रवचन पञ्चदशभाग

(प्रवक्ता— अध्यात्मयोगी पूज्य श्री 105 क्षु. मनोहर जी वर्णी)

अब ध्यान के योग्य स्थानों को कहकर आसन का विधान करते हैं। ध्यानार्थी पुरुष को कैसे आसन में स्थिरता होनी चाहिए जिससे ध्यान की सिद्धि बने। आसन बताने से पहिले उन स्थानों का वर्णन करते हैं जो स्थान ध्यानसाधना के योग्य हैं। किस जगह बैठकर ध्यान जमायें? वे स्थान कौन-कौन से हो सकते हैं उसे कुछ श्लोकों में कहेंगे।

श्लोक-1294

सिद्धक्षेत्रे महातीर्थे पुराणपुरुषाश्रिते।

कल्याणकलिते पुण्ये ध्यानसिद्धिः प्रजायते॥1294॥

जो सिद्धक्षेत्र है, जिस स्थान से अनेक महापुरुष अष्टकर्मों को नष्ट करके सिद्ध परमात्मा हुए हैं ऐसे स्थान में आसन मारकर ध्यान करने वाला पुरुष, अंतस्तत्त्व का उपयोग रखने वाला पुरुष एक विलक्षण विशुद्ध आनन्द-आनन्द को प्राप्त होता है, जिस स्थान पर रहकर चित्त में उन साधुसंतों की महिमा बसी रहती है उन्होंने जिस उपाय से शान्ति प्राप्त की, कर्मों से मुक्ति प्राप्त की वह उपाय इसके चित्त में बसा करता है जिससे हृदय विशुद्ध रहता है और विशुद्ध हृदय में आत्मतत्त्व की बात समाई जाती है अतएव सिद्धक्षेत्र जिस स्थान से साधु संतों ने तपश्चरण करके परमात्मपद प्राप्त किया है ऐसे स्थान में ध्यान की सिद्धि होती है। जिस स्थान में बड़े-बड़े तीर्थकर रहते हैं योगी संतपुरुषों ने जहाँ निवास किया है ऐसा महातीर्थकरों का स्थान ध्यान की सिद्धि के लिए योग्य है। उन स्थानों में रहकर चित्त में ख्याल बना रह सकता है कि यहाँ ऐसे-ऐसे महापुरुष हुए, यहाँ यह भगवान हुए थे, यहाँ इन महापुरुषों का, तीर्थकरों का और-और भी बलभद्र आदिक

महान संतजनों का निवास रहा है उनका ख्याल चित्त में रहेगा तो चित्त शुद्ध होगा। उस चित्त में फिर आत्मध्यान की सिद्धि होती है। जो पुराण पुरुषों के द्वारा आश्रित है, जहाँ आदर्श पुरुष रहा करते हैं उन स्थानों में रहने से भी चित्त की विशुद्धि जगती है, ध्यान की सिद्धि होती है। जहाँ तीर्थकरों के कल्याणक हुए, गर्भकल्याणक, तपकल्याणक, दीक्षाकल्याणक, मोक्षकल्याण

आदि ऐसे स्थानों में ध्यान की सिद्धि होती है। तो ध्यानार्थी पुरुषों को ऐसे पुराणरूप पवित्र स्थानों में अपने आसन को जमाना चाहिए। उस आसन की बात कुछ श्लोकों के बाद आगे बतावेंगे। अभी तो ध्यान योग्य स्थानों को बताया जा रहा है और कौन-कौन से स्थान हैं, जो ध्यान के योग्य हैं जिनका ध्यान करना चाहिए?

श्लोक-1295

सागरान्ते वनान्ते वा शैलश्रृङ्गान्तरेऽथवा।

पुलिने पद्मखण्डान्ते प्राकारे शालसङ्कटे॥1295॥

समुद्र के तट पर ध्यान किया जा सकता है क्योंकि वहाँ जलाशय बड़ी गम्भीर स्थिति में रहता है और गम्भीर जलाशय के समीप रहने से गम्भीर आशय की सिद्धि वाले पुरुष गम्भीरता का शिक्षण लेते हैं और चूँकि ऐसे उस विशाल गम्भीर जलाशय के निकट रहने से चित्त बड़े विशाल भावों को लेकर रहता है तो वहाँ रागद्वेष बैर ईर्ष्या आदिक विकल्पों का अवकाश नहीं रहता, वह ध्यान की सिद्धि का स्थान है। यों ही वन के निकट का स्थान भी ध्यानसिद्धि के योग्य है। वहाँ एकान्त स्थान है, लोगों का आवागमन नहीं है, रागद्वेष के साधन वहाँ नहीं हैं अतएव उनके बीच भी, वन के निकट भी ध्यान के योग्य स्थान है। जो पर्वतों की गुफायें हैं, प्रासुप स्थान है, गिरिकंदरा आदिक भी ध्यान के योग्य स्थान माने गए हैं। जिसे आत्मा के स्वरूप की धुन बनी है वह बाहर में शरीर का कोई विश्राम नहीं चाहता। उसके तो ऐसे स्थान में ही मन रहता है जो स्थान रागद्वेष की बाधाओं से दूर रखता हो। तो ऐसा यह स्थान जहाँ निजनता है, पक्ष नहीं, रागद्वेष के साधन नहीं वह स्थान ध्यान के लिए आसन जमाने योग्य है। अथवा नदियों के किनारे पर, पुल के आस-पास कमल वनों के निकट, नदियों के किनारे, साल वृक्षों के समूह में, बड़े-बड़े दुर्ग, किला प्राकार के निकट ध्यान के योग्य स्थान होते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा का उद्धार आत्मा के स्वरूप के ध्यान से ही सम्भव है, अन्य कोई वैभव परिग्रह का संचय कर लेना आत्म उद्धार का उपाय नहीं है तो ऐसे आत्मा के

ध्यान की सिद्धि उन्हीं स्थानों में सम्भव हैं जिन स्थानों में रागद्वेष के कोई साधन नहीं प्राप्त होते। जो पुरुष जहाँ जन्मा है उसका निवास स्थान ध्यानसिद्धि का कारण नहीं बन पाता। वासनाएँ, रागद्वेष, मोह के संस्कार उसके उखड़ते रहते हैं। यों ही अन्य-अन्य ऐसे परिचित स्थान ध्यानसाधना के योग्य नहीं माने गए हैं। केवल अपने आपका परिचय किया जा सके, परिचित पुरुषों पर अपनी दृष्टि न फँसे वैसा ही स्थान इस ध्यानार्थी पुरुष के योग्य हुआ करता है। जिसे आत्मउद्धार की वाञ्छा है वह जिस किसी भी प्रकार सब ओर के विकल्पों से हटकर केवल आत्मस्वरूप के उपयोग में लगायें उनको ही ध्यान की सिद्धियाँ हुआ करती हैं। आत्मध्यान से बढ़कर और कुछ पुरुषार्थ नहीं है। आत्मा का स्वरूप जो ज्ञानमय है वह ज्ञान में बना रहे इससे बढ़कर और कुछ पुरुषार्थ भी नहीं है इनके सत्संग से, स्वाध्याय से, अनेक उपायों से योग मिलाना चाहिए ताकि आत्मा अन्तरङ्ग में प्रसन्न रहे और शीघ्र ही समस्त विपदाओं से मुक्त हो सके।

श्लोक-1296

सरितां सङ्गमे द्वीपे प्रशस्ते तरुकोटरे।

जीर्णोद्याने स्मशाने वा गुहागर्भे विजन्तुके॥1296॥

ध्यान करने योग्य स्थान कौन-कौन हैं, उसके प्रसंग में कहा जा रहा है कि ध्यानार्थी योगी पुरुष को ऐसे स्थानों में ध्यान करना चाहिए। ध्यान नाम है बाह्य पदार्थों में चित्त न जाय, मोह रागद्वेष न उपजे, उसमें कल्पनाएँ न जगें, केवल अपने आपका जो सहज विशुद्ध स्वरूप है उसमें मग्नता हो उसे कहते हैं ध्यान। सारभूत कर्तव्य तो यही है ऐसा ध्यान किन स्थानों में बनता है? जहाँ नदियों का संगम हो। कोई नदी किसी दिशा से आये कोई किसी दिशा से, जहाँ दोनों का मिलाप हो वह स्थान अद्भुत होता है। ऐसा स्थान जैन तीर्थ में एक सिद्धकूट है। तो जहाँ नदियों का संगम हो ऐसे स्थान में मन कुछ ऐसा अन्य पदार्थों से हटा हुआ रहता है कि स्वयं ही आत्मा के ध्यान करने की पात्रता जगती है और यों कह लीजिये कि जिसको ध्यान करने की उत्सुकता नहीं वह नदियों के संगम पर रहेगा ही क्यों? जहाँ समुद्रों के बीच कोई टापू हो ऐसा प्रशस्त द्वीप हो, एकान्त हो, कोई आने जाने का रास्ता न हो, ऐसा स्थान हो जहाँ सुगमता से कोई आ न सके। सीधी सी बात यह है, और वह स्थान होता है निर्जना। वह स्थान जब रागद्वेष के आश्रयभूत बाह्य जीव और परिकर न मिलें तो अपने आप आत्मा की ओर उपयोग द्युक्तता है। ऐसी वृक्ष की खोल हो जो किसी बड़े मोटे पेड़ में बनी हो, एक तरफ से खुली हो, तीन तरफ से घिरी हो, जिस जगह जीव-जंतु न हों

ऐसे स्थान में ध्यान करना चाहिए। ऐसा खोल सड़क के पास नहीं हो। आवागमन जहाँ न हो वहाँ ध्यान करना चाहिए। जीर्ण उद्यान हो, बहुत बढ़िया सजा हुआ नहीं। वहाँ तो आराम के लिए लोग स्थान बनवाते हैं, मालिक नौकर आदि सभी रहते हैं। ऐसा उद्यान हो जो जीर्ण शीर्ण सा हो, जहाँ किसी का आवास न हो ऐसा स्थान ध्यानी के योग्य है। आत्मध्यान करे श्मशान में। वहाँ कोई पहुँचेगा ही क्यों? हाँ कोई मरकर वहाँ पहुँचेगा तो उसके संग में बरात पहुँचेगी। वैसे वहाँ कौन जायगा? तो ऐसे श्मशान के स्थान पर ध्यान करना ध्यानी के लिए योग्य है। वहाँ कुछ ख्याल रहता है कि एक दिन हमारा भी मरण होगा, ऐसी ही स्थिति सबकी आती है। इस संसार में अन्याय से रहकर लाभ क्या है? न्यायनीति से रहना, सदाचार से रहना ये सब बातें प्रेरणा में आती हैं, तो वहाँ भावनाएँ अच्छी बनती हैं। तो जीर्ण श्मशान में, खोलो के बीच, प्रासुप स्थान में ध्यानार्थी को ध्यान करना योग्य है।

श्लोक-1297

सिद्धकूटे जिनागारे कृत्रिमेऽकृत्रिमेऽपि वा।

महर्द्धिकमहाधीरयोगिसंसिद्धवाञ्छिते॥1297॥

सिद्धकूट में कोई ऐसा स्थान हो जहाँ से सिद्ध हुए हों अथवा सिद्ध की जहाँ मान्यता हो, कुछ स्थल बना हुआ हो मंदिर आदिक ऐसे स्थानों में कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालयों में जाकर ध्यान करे, जो स्थान बड़े-बड़े ऋद्धिधारी महाधीर योगीपुरुष चाहा करते हैं वह स्थान ध्यानार्थी को ध्यान के योग्य कहा गया है। इस लोक में आत्मा के ध्यान और उपयोग के सिवाय है क्या शरण जीव का? बाहर में कौनसा पदार्थ है? ऐसा जिसका शरण गहें तो आत्मा को शान्ति प्राप्त हो? कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है। जो चाहिए उससे भी बढ़ जायें तो उसमें भी शान्ति नहीं है। इज्जत, प्रतिष्ठा, नेतागिरी, देश विदेश के सम्मान ये भी बढ़ जायें तो उसमें भी शान्ति नहीं है। बाहर में कोई पदार्थ ऐसा हो ही नहीं सकता जिससे शान्ति की प्राप्ति हो। सभी बाह्य पदार्थ अपने स्वरूप से हैं हमारे स्वरूप से नहीं। दूसरी बात वे बाह्य पदार्थ भी अनित्य हैं, पर्यायरूप ही तो हैं। जो दिख रहे हैं नष्ट हो जायेंगे। उनका क्या विश्वास? किस संयोग में हर्ष मानते हो? संयोग में जो सुख माना है वह उस काल में तो मूढ़ है ही, पर इसके बाद में उसे बड़ा क्लेश भी होता है। ज्ञानभाव का शरण गहो तो वह स्वाधीन है, सुगम है, आत्महित करने वाला है।

श्लोक-1298

मनः प्रीतिप्रदे शस्ते शङ्ककोलाहलच्युते।

सर्वत्तुसुखदे रम्ये सर्वोपद्रववर्जिते॥1298॥

ऐसे ध्यान में ध्यान करना जो मन को प्रसन्न रखे। मन की प्रसन्नता विशुद्ध विचारों में है। संसार के सुखों में मन प्रसन्न तो रहता नहीं। मौज और बात है प्रसन्नता रहना और बात है। मौज क्षोभ को लिए हुए होती है और प्रसन्नता शान्ति का वातावरण लेकर होती है। जो प्रसन्नता उत्पन्न करना चाहे वह कोलाहल से रहित जो स्थान है उसमें ध्यान करे। मुझे कोई यहाँ से भगा देगा, उठा देगा ऐसी भी शंका हो तो वहाँ ध्यान क्या हो सकता है? जिस स्थान पर किसी का स्वामित्व नहीं, कोई कोलाहल नहीं ऐसे स्थान में ध्यानार्थी पुरुष ध्यान किया करते हैं। जब कभी बड़ा संकट सा मालूम पड़े, रोग का संकट हो या अन्य प्रकार की चिन्ताओं का संकट हो, कोई विपदा विडम्बना आये तो एक बार उपेक्षा करके तो देख लो, समस्त बाह्य पदार्थों का ख्याल छोड़कर, जो होता हो तो, कैसी भी स्थिति गुजरने, सर्व की ममता त्यागकर ऐसा अपने भीतर बैठ जायें। लो यह विपदा नहीं छोड़ती— मत छोड़ो, जिस बात पर विपदा आयी बात को छोड़ दो और अपने आपके स्वरूप में बैठ जावो, जो गुजरता हो गुजारो, मुझे कोई प्रयोजन नहीं। यह मैं तो अपने स्वरूप में इतना ही मात्र हूँ। यों भीतर में प्रेरणा करके सबसे हटकर अपने आपमें ठहर जाय तो वहाँ सारे संकट दूर हो सकते हैं। सबको इसी घाट आना पड़ेगा अगर सुख शान्ति चाहिए हो तो। चाहे जिन्दगी में इस घाट लग जाये चाहे मर मरकर किसी और जिन्दगी में, पर एक इस विशुद्ध ज्ञान के घाट पर आये बिना शान्ति नहीं हो सकती। ऐसे रम्य स्थान पर रहें जो सर्व ऋतुओं में सुख दे, जाड़े में न ज्यादा जाड़े, न गर्मी में अधिक गर्मी। ऐसा स्थान बहुत आगे दक्षिण में है ऐसा सुनते हैं। आस-पास भी कहीं ऐसा रम्य स्थान मिले तो वह स्थान ध्यान के योग्य बताया है। जिसके धर्मध्यान की धुन बन जाती है वह तो अपने मन के ध्यान के प्रोग्राम से चलेगा और कितने ही लोग तो ऐसे भी होते हैं कि जानबूझकर ऐसी कोई बात गढ़ देते कि जिससे लोक में हमारी बुराई फैल जाय जिससे लोग फिर हमारे पास न आयें। ऐसा कोई कौतूहल पैदा कर देते हैं वह अनेक झंझटों से बच जाता है। एक गुरु शिष्य थे, वे एक छोटी सी पहाड़ी पर रहते थे। वह गुरु एक संन्यासी था, इधर उधर से मांगकर भिक्षा लावें और खा लें। उनकी गाँवों में बड़ी महिमा पहुँची। राजा को भी खबर हुई तो एक दिन हजारों आदमियों के साथ सज-धजकर चल दिया। जब वह संन्यासी देखता है कि राजा आ रहा है तो झट उसे ध्यान आया कि अगर राजा मुझे मान लेगा तो फिर दिनभर मेरे पास लोगों का ठट्टा जमा रहा करेगा। जब राजा आयगा तो प्रजा के लोग भी बहुत आया करेंगे। सो संन्यासी ने सोचा

कि कोई ऐसी बात रच दें कि राजा को हमसे घृणा हो जाय। तो शिष्य को समझाया— देखो बेटा यह राजा आ रहा है, इसको अपन लोगों से घृणा हो जाय ऐसा काम करना है।....अच्छा बतलावो महाराज क्या करें?...देखो जब वह राजा पास आ जायगा तो हम तुम दोनों खाने-पीने की बात करने लगेंगे। जब राजा पास आया तो शिष्य से गुरु कहता हे कि बेटा आज तुमने कितनी रोटियाँ खाई?...महाराज ! 10 खाई,...हमने तो 8 ही खाई....महाराज ! कल तुमने 10 खाई थी हमने 8 ही खाई थी। इस प्रकार की बातें सुनकर राजा चला गया, सोचता है कि यह संन्यासी तो खाने-पीने के लिए लड़ता है। लो संन्यासी बहुत सी झंझटों से बच गया और ध्यान स्वाध्याय आदि खूब करने लगा। अरे यश हो चाहे अपयश, साधुजनों को क्या परवाह? उनके लिए तो यश अपयश सब बराबर हैं, हाँ अपने आपमें अपना उपयोग ऐसा निर्मल बने कि जिससे अपनी शान्ति का रास्ता बराबर सही मिलता रहे। यह ध्यानार्थी पुरुषों के चित्त की एक बात कह रहे हैं।

श्लोक-1299

शून्यवेश्मन्यथ ग्रामे भूगर्भे कदलीगृहे।

पूरोपवनवेद्यन्ते मण्डपे चैत्यपादपे॥1299॥

सूने घर में, जंगल में या गाँव के बहुत अन्त में जहाँ से गाँव हट आया है वहाँ कोई सूना घर मिले तो उस घर में, जिसका अब कोई मालिक नहीं रहा, कोई उसका रखवाला भी नहीं रहा ऐसे घर में रहकर ध्यानी पुरुष ध्यान करें। ये ध्यानार्थी छुप छुपकर अपना आत्मीय आनन्दरस लूटते रहते हैं। उन्हें लोक में रहने का चित्त नहीं चाहता, अपने एक आत्माराम में ही रमकर सुखी रहते हैं। गृह में तो तलघर बने होते हैं उनमें ध्यानार्थी पुरुष ध्यान करते हैं। पहिले जमाने में लोग कदली गृहों में अर्थात् केलों के बीच में बैठकर ध्यान किया करते थे। पुर उपवन, बागबगीचा के अन्त में जहाँ से बाग शुरू होता, जहाँ निजनता रहती वहाँ भी ध्यानी पुरुष ध्यान करते हैं और चैत्य वृक्षों में, मण्डपों के स्थानों में भी ध्यान करते हैं।

श्लोक-1300

वर्षातपतुषारादिपवनासारवर्जिते।

स्थाने जागर्त्यविश्रान्तं यमी जन्मार्तिशान्तये॥1300॥

वर्षा, गर्मी, हिम, ठंड, प्रचण्ड ग्रीष्म आदिक उपद्रवों से रहित स्थान में ध्यानार्थी पुरुष निरन्तर ठहरें। मोही जनों को उनके इस एकान्त निवास के सम्बंध में यह शंका होती है कि इनके दिमाग में क्या फितूर आया, ये गाँव में नहीं रहते, महलों में नहीं रहते, सुख में नहीं रहते, भूख, प्यास, ठंड, गर्मी आदि की बड़ी वेदनाएँ सहते, क्या हो गया इनके, कुछ समझ में नहीं आता। जिस स्थान में कोई नहीं रहता, निर्जन स्थान है, पास में एक पैसा भी नहीं रखते हैं, ये कैसे रहते होंगे, ऐसा मोही जनों को आश्चर्य हुआ करता है। लेकिन उन तत्त्वज्ञानी धर्मार्थी योगी पुरुषों को भी एक ऐसा शरण मिल गया, अपने आपके आत्मा से ही बातें करते रहते हैं। अनुभव में आ गया जब चाहे झट अपने स्वरूप में मग्न होकर सुखी रहते हैं। गुण विकसित हो जायें तो उससे भी अधिक विकास की सामर्थ्य से बातें करके प्रसन्न रहते हैं। कोई पाप हो जाय तो अपने आपके इस परमपिता के निकट बैठकर खूब रोकर पछता कर यों दुःखदर्द निकालकर भाररहित बन जाते हैं। ऐसी शरण अपने आपको छोड़कर बाहर में कहाँ मिलेगी? कौन है ऐसा रक्षक शरण समर्थ प्रभु जो इन दीन पुरुषों को हस्तावलम्बन दे सके। ध्यानार्थी पुरुषों को ऐसे ध्यान योग्य श्लोक-1301

श्लोक-1301

यत्र रागादयो दोषा अजस्रं शान्तिं लाघवम्।

तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः॥1301॥

जिस स्थान में रागादिक दोष हल्के हो जायें उस ही स्थान में साधु को बसना चाहिए और ध्यान के समय में तो विशेष करके ऐसे ही योग्य स्थान को ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् जब किसी ध्यानार्थी योगी पुरुष के यह संकल्प दृढ़ बन जाय कि मुझे तो ध्यान की साधना करना है तो उसका प्रोग्राम ध्यान के लिए ही रहा करता है। अन्य काम करना पड़े तो उसके लिए समय निकालकर करता है। काम तो मेरा केवल विशुद्ध ध्यान की साधना से है, इस प्रकार किस स्थान में बैठकर ध्यानार्थी को ध्यान करना चाहिए? इसका वर्णन किया। अब उन स्थानों में किस तरह से बैठना चाहिए, उन बैठने के प्रकारों का अथवा आसनों का वर्णन करते हैं।

श्लोक-1302

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले।

समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्युस्थिरासनम्॥1302॥

धीर वीर पुरुष समाधि की सिद्धि के लिए काठ के तख्तों पर भली प्रकार अपने लिए स्थल आसन बनायें। बढई के बनाये तखत नहीं, कारीगर से बनाये तखत नहीं, किन्तु जंगल में कोई पड़ा हो उस पट्ट पर बैठकर ध्यानार्थी पुरुष ध्यान करें। जितनी अपेक्षा रहेगी बैठने, उठने, सोने, रहने में उतनी ही ध्यान में बाधा आ सकती है। ध्यानार्थी पुरुष धन के लिए क्या-क्या कष्ट नहीं सह सकता? देश विदेश घूमे, सर्दी गर्मी में घूमे, भूखा प्यासा रहे, बीसों आदमियों की बात सुने, धर्मशाला वगैरह में छोटे से चपरासी द्वारा कितने ही प्रकार की बातें सुनने को मिलें, यों कितनी ही प्रकार के कष्ट सहता है वह ध्यानार्थी पुरुष। तो ध्यानार्थी पुरुष भी अपने ध्यान की सिद्धि के लिए जगह-जगह घूमते हैं, उनका सर्वत्र विहार है। जहाँ मन चाहा तहाँ चले गए, जितने दिन चाहे रहे निर्जन स्थान में और अपनी जरूरी सामान पुस्तक आदि की पोटली लेकर किसी निर्जन स्थान को चले जाते हैं। उनके पास सामान इतना अल्प है कि उन्हें दूसरों की अपेक्षा नहीं रहती। ऐसी स्थिति वाले योगी पुरुष ध्यान की साधना करते हैं। तो ये धीर वीर पुरुष शिलापट्ट पर अथवा भूमि पर या रेतीले स्थान में समाधि की सिद्धि के लिए अपना आसन बनायें, यह बात कैसे हो? इसका वर्णन अब आगे होगा।

श्लोक-1303

पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा।

सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः॥1303॥

ध्यान करने के सम्बन्ध में कितने आसन का विधान है, उसका इस श्लोक में वर्णन है। पर्यंक आसन जिसका दूसरा नाम पद्मासन है। बायें पैर को दाहिने पैर पर रखना, फिर दाहिने पैर को बायें पर रखना और पीठ छाती बिल्कुल सीधी करके बैठना यह है पर्यंक आसन। आसन में भी कुछ प्रभाव है। जैसे सामायिक करने के लिए पद्मासन लगाकर बिल्कुल सीधे बैठ जाय तो इस आसन के कारण भी थोड़ा बहुत चित्त पर प्रभाव होता है, कुछ बाहरी विकल्प कम होते हैं और साथ ही यदि मोटे स्वर से धीमी हल्की

आवाज से ॐ शब्द का देर तक उच्चारण करे तो उसका भी प्रभाव होता है। उस समय ऐसी स्थिति सही बनती है कि सब जगह से बाहर से हटकर हम अपने में प्रवेश करने का कार्य कर रहे हैं। तो आसन में भी प्रभाव हुआ करता है। दूसरा आसन है अर्द्ध पर्यंक की बात। दाहिने पैर को बायें पैर पर रखना, यही है अर्द्ध पर्यंक। एक पैर ही रखा गया, बायां पैर नीचे ही रहा, इस अर्द्ध पर्यंक आसन में कई जगह मूर्तियाँ पायी जाती हैं। दक्षिण में जैनबद्री की तरफ ऐसी कुछ मूर्तियाँ हैं जो अर्द्ध पर्यंक आसन में पायी जाती हैं। तो अर्द्ध पर्यंक भी एक आसन होता है जिसमें ध्यान की सिद्धि की जाती है। तीसरा है वज्रासन। दोनों पैरों पर बैठना यह है वज्रासन। चौथा बताया है वीरासन। बायें पैर पर तो वज्रासन की तरह बैठना और दाहिने पैर पर खड़े रहना जैसे वीर पुरुष बैठते हैं और जब चौकन्ना होने के लिए बैठते हैं तो इस तरह बैठते हैं। इसके बाद बताया है सुखासन। जैसे आप सब लोग सुखपूर्वक बैठते हैं वह सुखासन है। आप लोग दोनों पैर नीचे किए हुए हैं और पर्यंक के आसन जैसी मुद्रा में आप बैठे हुए हैं तो यह हुआ सुखासन। और कायोत्सर्ग भी एक आसन है। एकदम खड़े हो गए और हाथ को ढीला करके छोड़ दिया वह है कायोत्सर्ग आसन। तो इस आसन में ध्यान की विशेषता लाने का कुछ प्रभाव है। कायोत्सर्ग में खड़े होकर भी देख लीजिए, हाथ को ढीला करके अथवा हाथ को कड़ा करके कोई खड़ा रहे कई दिन तो ध्यान जैसी बात नहीं आती है और कोई सोचते होंगे कि बहुत देर तक खड़े रहने में ध्यान यदि जम जाय किसी एक ओर और शरीर की दृष्टि न रखे तो कहीं गिर न जाये। तो ध्यान से नहीं गिरता, मगर नींद आ जाय तो गिर जाय, पर कायोत्सर्ग से ध्यान करे तो ध्यान में नहीं गिरता। यों अनेक बातें आसन के योग्य बतायी गई हैं।

श्लोक-1304

येन येन सुखासीना विदध्युनिश्चलं मनः।

तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम्॥1304॥

जिस-जिस आसन से सुख रूप भी बैठे हुए मुनि अपने मन को चलित न कर सकें, बाह्यपदार्थों में अपना मन न फँसे, यों निश्चल बन सकें वे सभी सुन्दर आसन मुनियों को स्वयं करना चाहिए। पद्मासन में यदि कठिनाई पड़ती हो तो उन आसनों में भी ध्यान नहीं बनता। इसका जिसे अभ्यास हो, घंटों बैठ सके और रंच कष्ट का अनुभव न हो तो वह आसन ध्यान के योग्य है, इस दृष्टि से सभी सुखासन हो जाते हैं। सुखपूर्वक जो आसन है, जिस आसन में आकुलता न हो वह आसन ध्यान के योग्य माना गया है।

श्लोक-1305

कायोसर्गश्च पर्यङ्कः प्रशस्तं कैश्चिदीरितं।

देहिनां वीर्यवैकल्यात्कालदोषेण संप्रति॥1305॥

तथा इस समय कालदोष से जीवों की शक्ति की विकलता है, सामर्थ्य की कमी है, इस कारण आचार्यों ने दो आसन ही प्रशस्त कहे हैं। पद्मासन और कायोत्सर्ग। लगता होगा ऐसा कि इन सब आसनों में ये दो ही तो कठिन हैं और बताया है ऐसा कि सामर्थ्य में कमी है तो ये दो बात प्रशस्त बताया है, लेकिन अन्य आसन से बैठकर देख लो उनमें भी कष्ट मालूम करने लगेंगे। यह सुख आसन ही देख लो— पैर के नीचे की गुट्टी जब जमीन में गड़ने लगती है तो उस पैर को भी बदल लेते हैं कि नहीं। तो पद्मासन में तो पैर की गुट्टी जमीन में गड़ने का सवाल ही नहीं है। वह अच्छा आसन है, आराम से बैठ सकते हैं, हाँ अगर अभ्यास न हो तो यह आसन कठिन मालूम होता है। कायोत्सर्ग का आसन इन सबसे सरल है। पद्मासन में खड़े ही तो रहना है। चलना है और पीछे ही बैठा रहे, खड़े होने को न मिले तो उनकी श्वास खराब हो जाय तो ये आसन पद्मासन और कायोत्सर्ग प्रशस्त माने गए हैं।

श्लोक-1306

वज्रकाया महासत्त्वा निष्कम्पाः सुस्थिरासनाः।

सर्वावस्थास्वलं ध्यात्वा गताः प्राग्योगिनः शिवम्॥1306॥

जो वज्रकाय है, जिसका शरीर वज्र की तरह दृढ़ है, वज्रवृषभनाराचसंघनन के जो धारक थे, बड़े पराक्रमी धीर वीर स्थिर आसन वाले वे योगी सब अवस्थाओं में ध्यान करके पहिले समय में मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, जिस किसी भी आसन से ध्यान विशुद्धि बन जाय तो किसी भी आसन के बाद वे मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, पर अधिकतर कथन ऐसा है कि उसके बाद अरहंत हुए, पर वे बहुत समय रहते हैं तो उनके निसर्ग से पद्मासन या कायोत्सर्ग होता है, पर ध्यान के आसन कोई भी हो सकते हैं।

श्लोक-1307

उपसर्गैरपि स्फीतैर्देवदैत्यारिकल्पितैः।

स्वरूपालम्बितं येषां न चेतश्चाल्यते क्वचित्॥1307॥

जो पूर्वकाल में महापराक्रमी थे, उनका स्वरूप उन देव दैत्य आदिक से बड़े हुए उपसर्गों से कदापि चलित न होता था। मुख्य बात है चित्त का स्वरूप में आलम्बन लेना। उसमें ऐसा महान बल है कि उपसर्गों के होने पर भी चलित नहीं होते, और भीतर में चित्त की, मग्नता की स्थिति न हो तो कितना ही कोई पहलवान हो पर उपसर्गों से चलित हो जायगा। उपसर्गों से चलित होने में मुख्य कारण तो मन है। खूब दृढ़ हैं, हट्टे-कट्टे हैं, पर किसी मनुष्य का कुछ थोड़ा सा भी काम करने को मन नहीं चाहता और उस समय किसी विवश स्थिति में करना पड़े तो वह उसे भी उपद्रव समझता है। यदि मन नियंत्रित न हो तो उपसर्ग उपद्रव अधिक मालूम होते हैं और जिसका मन नियंत्रित हो और वज्रकाय हो उसे वह बल प्रकट होता कि ऐसे-ऐसे उपसर्ग जो देव, दैत्य, शत्रु आदिक द्वारा किए गए हों, उन उपसर्गों से भी वह कभी आत्मध्यान से विचलित नहीं होता। परिणामों की बड़ी विचित्रता है। एक मुनिराज पूर्वकाल में ऐसे हुए जो कि छोटी उम्र के थे, राजघराने में सबसे बड़े प्रिय थे, वन में जाकर साधु हो गए। तो राजा ने कुछ सैकड़ा सेना के लोग ऐसे भेज दिये वन में कि बहुत दूर तक तुम पहरा देते रहना, इस पर कोई उपद्रव न कर सके। खर्च करने के लिए खर्च बाँध दिया और सैकड़ों सुभट वहाँ लगा दिया इसलिए कि कोई उसे सता न सके। कुछ दिन चलते रहे और कुछ ही समय बाद राजा का ऐसा चित्त बिगड़ा कि सेना को तो हटा ही दिया और फिर ऐसा उपसर्ग किया उस पर कि जिसे सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। चाकू से उसके शरीर का चमड़ा छीला और उस पर नमक छिड़कवाया। पर जिनका चित्त स्वरूप में अवलम्बित हो जाता उनको उपसर्ग नहीं जँचते। स्वरूप की ऐसी पकड़ है कि उन्हें यह शरीर भी इस तरह लगता कि जैसे दूसरे के शरीर। एक साधना है, वास्तविकता है, बैठती नहीं बात मन में। जैसे कंजूस को कई करोड़ का दान करने वाला धनिक हो तो उसके चित्त में उसकी बात नहीं बैठती। अजी गप्पें हैं, लिखा है शास्त्रों में, ऐसी बात हो कैसे सकती? तो जैसे कंजूसों के चित्त में धनिक दानी कुबेरों की बातें घर नहीं करती और कभी समझ भी लें कि हाँ होते भी हैं ऐसे तो उन्हें बेवकूफ समझेंगे। उनकी बुद्धि में यह बैठ ही नहीं सकता कि उन लोगों ने यह अच्छा किया। ऐसे ही मोही पुरुषों के चित्त में यह बात नहीं बैठ पाती कि ऐसे भी ज्ञानी विरक्त संत होते हैं कि जिनके शरीर को चाकू से छीलकर नमक छिड़कें, ऐसी दारुण वेदना करें तिस पर भी वे अपने स्वरूप से चलित नहीं होते। स्यालिनियों ने खाया तीन दिन सुकुमाल का शरीर, यह तो प्रसिद्ध कथा है। सुकौशल की माता का

जीव शेरनी बनकर सुकौशल के शरीर का भक्षण किया यह भी प्रसिद्ध बात है। अनेक मुनियों को राजा ने कोल्हू में पेला, दण्डक वन की बात थी, यह भी कथाओं में प्रसिद्ध है। ऐसे-ऐसे दारुण उपसर्ग हुए और उनसे चलित नहीं हुए, तो सोचो ऐसी स्थिति बनने के लिए भीतर में कितनी ऊँची तैयारी होना चाहिए? तो उनको आत्महित की धुन थी और समझ लिया था कि हित इसमें है। जिसमें हित है उससे विचलित न होना चाहिए। उन्होंने हित समझा था इस ज्ञानस्वरूप आत्मा में अपने ज्ञान को लगाये रहने में, और इस स्थिति में जो अद्भुत आनन्द प्रकट होता है उस आनन्द के सामने फिर ये शरीर आदिक कैसे उपेक्ष्य न बन जायेंगे?

जैसे कोई व्यापारी बड़ा लाभ होने के प्रसंग में छोटे लाभ की उपेक्षा कर देता है, उस ओर ध्यान भी नहीं देता, ऐसे ही जिसको विशुद्ध आनन्द के लाभ का अवसर मिला है वह इस बड़े लाभ के सामने शरीर आदिक का कुछ ख्याल नहीं करता, वचनालाप की छोटी-छोटी बातों का ख्याल नहीं करता। यह बात जब बन जाती है तब ये सब सुगम हो जाते हैं। यहाँ की भी कुछ वर्ष पहिले की कहानी है कि देश की स्वतंत्रता के आन्दोलन के समय कुछ क्रान्तिकारी लोगों को उस समय की सरकार ने बहुत वेदना दी, और बहुत वेदना देकर पूछा कि तुम्हारे इस क्रान्ति में कौन-कौन सम्मिलित हैं? और यहाँ तक कि उनकी अँगुली आग से जलायी, बहुत बड़ी मोमबत्ती जला दी और उसी आग पर उनकी अँगुली रख दी, अँगुली आग में जलकर गिरने लगी, इतनी वेदना को सहकर भी वे आनन्द में ही थे, जो उनका लक्ष्य था उसी बात पर वे डटे रहे। तो फिर इस विशुद्ध ज्ञानानन्द लाभ के होने पर तो फिर ये बातें सह लेना सब एक बहुत छोटी सी बातें हो जाती हैं। अभी यहाँ देख लो, अच्छा जितने भी मनुष्य हैं ये सब मरेंगे या नहीं? अरे मरण तो सभी का होगा। तो उनमें से कुछ ऐसे भी होंगे जो मरण से घबड़ाने वाले होंगे, कुछ हिम्मत करने वाले होंगे और कुछ ऐसे दृढ़ होंगे कि क्या है, कल मरण होना हो तो आज हो जाय। हुए नहीं क्या ऐसे लोग? अभी निकट पूर्व में जो आन्दोलनों में गोली के सामने छाती करके हँसी खुशी गुजरते हैं उनके क्या ऐसी दृढ़ता न थी कि मरना तो है ही कल मरना है तो आज ही सही। तो जैसे यहाँ भी लोग मृत्यु का नाम सुनकर या मृत्यु की सम्भावना के समय दृढ़ रहते हैं तो कोई भीतर में विशेषता तो है, बल तो है कोई ऐसा जिसके कारण वे धीर रहा करते हैं। तो जिनका चित्त आत्मस्वरूप में अवलम्बिता हुआ है वे कहीं भी किसी भी उपसर्गों से चलायमान नहीं होते।

श्लोक-1308

श्रूयन्ते संवृतस्वान्तः स्वतत्त्वकृतपिश्चयाः।

विसह्योग्रोपयर्गाग्निं ध्यानसिद्धिं समाश्रिताः॥1308॥

जिन्होंने अपने मन को सम्बरूप किया, मन को रोका, संकल्पों का द्वार बन्द किया, स्वतत्त्व में निश्चय किया ऐसे ही पूर्व पुरुष तीव्र उपसर्गों को सहकर ध्यान करते सुने गए हैं और अनेक तो ऐसे हुए कि उपसर्गों के कारण उनकी जल्दी सिद्धि हो गयी, उपसर्ग उन्हें वरदान हो गए। तो उपसर्ग जैसे वेदना को सह लेने का कारण है स्वतत्त्व में निश्चय। मैं यह हूँ। जो कोई यह मान ले कि यह मेरा घर है तो सामने के घर चाहे बरसात में गिर जायें पर उतनी वेदना न जगेगी जितनी कि अपना माना हुआ घर गिर जाने पर जगेगी। तो जिसे मान लिया कि यह मेरा वैभव है, उसके अतिरिक्त जो कुछ भी हो बाह्य में वह सब किसी भी स्थिति को प्राप्त हो उसमें वेदना नहीं मानता यह जीव। तो जिन्होंने अपने इस ज्ञानानन्दस्वरूप को माना कि यह मैं हूँ। यह मेरा सब कुछ है। उसको इस स्वरूप से अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ बाह्य नजर आते। उसी में यह शरीर भी बाह्य है। तो बाह्य की कुछ भी परिस्थिति हो उस परिस्थिति में विह्वलता नहीं हुआ करती। तो बड़े-बड़े उपसर्ग अग्नि को उन्होंने सहा जिन्होंने अपना मन नियंत्रण में किया और निज अन्तस्तत्त्व का निश्चय बनाया। वे उपसर्ग अग्नि को सहकर ध्यानसिद्धि को प्राप्त हुए। ज्ञानवस्तुतः वह कहलाता है जो ज्ञान-ज्ञान के स्वरूप का ज्ञान करता रहे। जैसे कोई जड़ को जाने तो कहते हैं क्या जड़ में उपयोग देकर जड़ बनते हो? तो जो जिसमें उपयोग दे वह अपने को वही अनुभवने लगता है। जैसे कोई लड़का अपने बारे में ऐसा सोचने लगे कि मैं तो घोड़ा हूँ। दोनों पैर और दोनों हाथ जमीन पर धरकर चले और पीठ पर किसी को बैठाल ले, यह मेरा सवार है और मुँह में एक रस्सी दाब ले, यह मेरा लगाम है, सवार को पकड़ा दे, वह घोड़ा बनकर चलता है, अपने को घोड़ा मान लेता है और सामने से ऐसे ही बने हुए लड़के का एक घोड़ा और आया। आमने-सामने आने पर कुछ हाथ मारने से लगे, उस समय वे भूल जायेंगे कि मैं तो बालक हूँ। वे तो घोड़े बन गए अपने-अपने ज्ञान में, थोड़ी उनमें आपस में ठुकाई पिटाई हुई और ठुक पिटकर वे अपने-अपने घर चले जाते हैं। तो जिस ओर ज्ञान हुआ उसको वही कह देते हैं। जो ज्ञान अज्ञान को विषय कर रहा हो वह ज्ञान भी जड़ है, जो ज्ञान पर को भी विषय कर रहा हो वह ज्ञान भी पर है। यों चलते-चलते अन्तर में देखने लगे कि जो ज्ञान ज्ञान के स्वरूप को जानता हो वह ज्ञान है। जो असली सोने का पारखी हो उसके पास कोई जरा भी खोटा सोना लायें तो वह फेंककर कहता कि यह क्या पीतल लाये, उसको सोने की सुध छूट गयी। यों ही जो ज्ञान अपने स्वरूप को विषय न करके जड़ को विषय करे तो तत्त्वज्ञान की दृष्टि में वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं कहलाता, वह अज्ञानभाव है। ऐसा ज्ञान में जिसके निश्चय बना हुआ है 'यह मैं हूँ' वे कठिन से कठिन उपसर्गों में भी चलित नहीं होते और उन्हें सहकर ध्यान की सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं।

श्लोक-1309

केचिज्ज्वालावलीढा हरिशरभगजव्यालविध्वस्तदेहाः,
 केचिक्रूरादिदैत्यैरदयमतिहताश्चक्रशूलासिदण्डैः।
 भूकम्पोत्पातवातप्रबलपविधनव्रातरुद्धास्तथान्ये,
 कृत्वा स्थैर्यं समाधौ सपदि शिवपदं निःप्रपञ्चं प्रपन्नाः॥1309॥

जिनका चित्त वश में है उनको बड़े-बड़े कठिन उपसर्ग भी आ जायें तब भी वे अपने पथ से विचलित नहीं होते हैं। सुना गया है कि पूर्वकाल में अनेक महामुनि अग्नि की ज्वाला की पंक्ति से जलकर समाधि में दृढ़ रहने से तत्काल मोक्ष को प्राप्त हो गए। जलती हुई अग्नि में उन्हें पटक दिया, पर ध्यान उनके विशुद्ध रहा, भेदविज्ञान रहा, समस्त विश्व से निराला, शरीर से भी निराला केवल ज्ञानस्वरूपमात्र मैं हूँ इस प्रकार का उनके यथार्थ संकल्प रहा, उसके प्रताप से वे इतने बड़े उपसर्ग में शीघ्र मोक्ष को प्राप्त हुए। कोई मुनि ऐसे हुए जिनको सिंहादिक क्रूर जानवरों ने भखा लेकिन वे अपने स्वरूप से विचलित नहीं हुए और वे समतापरिणाम धारण करके तत्काल मोक्ष को प्राप्त हुए। तथा कितने ही मुनि क्रूर, वीर, दैत्य, देव, चक्र, शूल, तलवार दण्ड से निर्दयता के साथ मारे गए लेकिन समाधि में लीन रहने के कारण तत्काल मोक्ष को प्राप्त हुए, ऐसे ही कितने ही मुनि भूमि कम्पन के उत्पात से, प्रचण्ड आँधी के चलने से, बड़ा वज्रपात होने से और बड़े उपसर्गों को जीत करके मोक्ष को गए। ऐसे-ऐसे कठिन उपसर्गों को जीतने का कारण था अपने स्वरूप की खबर। जब केवल ज्ञानस्वरूप में ही अपने आपका अनुभव किया तो फिर उपद्रव क्या रहा? उपसर्ग क्या रहो? वे तो अपने आनन्द रस में तृप्त रहते थे। ऐसे भी अनेक मुनि नाना प्रकार के उपसर्गों को सहकर प्रपंचरहित मोक्षपद को प्राप्त हुए, ऐसे उत्तम संघनन वाले के आसन का नियम नहीं है पर यह बात बता रहे थे कि ध्यान के लिए आसन कैसा लगाना चाहिए? सो आसन का विधान तो बताया पर जिनके वज्रवृषभनाराचसंघनन है, जिनका शरीर अद्भुत, वज्र की कीली, ऐसा वज्रमय जिनका शरीर है, तत्त्वज्ञानी हैं, विरक्त हैं उनके आसन का कोई नियम ही नहीं रहा। किसी को आग में पटका होगा तो क्या आसन मारकर पटका होगा? एकदम उठाया और पटक दिया। ध्यान की खूबी है कि उन्होंने ऐसा विशुद्ध ध्यान किया कि वे अटपट आसन में रहकर ही मोक्ष को प्राप्त हुए। किसी को पानी में पटक दिया, छेद किया, कोल्हू में पेल दिया। वहाँ कोई आसन है क्या, पर वे मोक्ष को प्राप्त हुए। अतः वज्रकाय पुरुषों के आसन का कोई नियम नहीं है। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि पूर्वकाल में मनुष्य का जो धैर्य, बल, वीर्य था वह इस काल में नहीं है। इसी तरह पहिले जैसी स्थिरता वर्तमान काल के मनुष्य स्वप्न में भी करने में असमर्थ हैं। और जितना

जो कुछ जो लोग इस समय करते हैं वे धन्य हैं। जैसे आजकल साधुओं की हर एक कोई चर्चा निन्दा करने लगता है— अजी साधुओं को तो वन में रहना चाहिए, उन्हें नगर में रहने से क्या मतलब? यों अनेक प्रकार की जो आलोचना करते हैं सो वे स्वयं तो साधु होने की मन में उमंग नहीं रखते और तब फिर उन्हें पता क्या है कि कैसे क्या निभता है? यहाँ आचार्यदेव कह रहे हैं कि पहिले जैसी स्थिरता, पहिले जैसा उपसर्ग विजय आजकल सम्भव नहीं है फिर भी, उस दिशा में जो जितना प्रयत्न करते हैं वे मुनि धन्य हैं। देखो मूल तत्त्व यह बताया कि जिसके तत्त्वज्ञान है और तत्त्वज्ञान के कारण वैराग्य उपजा है ऐसे मुनीश्वरों को उपसर्ग के बीच में सफलता प्राप्त होती है और जो यों ही अपने गुजारे के लिए अथवा बचाव के लिए भेष बना लेते हैं उनको तो उस भेष का निभाना ही कठिन है, उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने की बात तो दूर रही। सम्यग्ज्ञान जगे बिना, अपने आपके मन को वश में किए बिना वह आत्मस्फूर्ति उत्पन्न नहीं हो सकती।

श्लोक-1310

तद्वैर्यं यमिनां मन्ये न संप्रति पुरातनम्।

अथ स्वप्नेऽपि नामास्थां प्राचीनां कर्तुमक्षमाः॥1310॥

जो पुरुष इन्द्रिय के विषयों से उत्तीर्ण हैं अर्थात् रहित हैं, संसार के परिभ्रमण से जिनका चित्त विरक्त हो गया है, जिनका मन स्वयं के अपने आधीन है ऐसे पुरुष ध्यान के योग्य हो गए हैं। जो इन्द्रिय के विषयों में चित्त लगाये हों वे पुरुष ध्यान क्या कर सकते हैं? जो पुरुष संसारभ्रमण से विरक्त नहीं हैं उनके अभी आत्मस्वरूप में दृष्टि नहीं जगी है। तो ऐसे पुरुष जो अभी संसार से विरक्त नहीं हैं वे ध्यान के योग्य कैसे हो सकते हैं। जिनका मन अपने आपके आत्मा के वश में नहीं, ऐसा मन के आधीन रहने वाले पुरुष क्या ध्यान कर सकेंगे? यों आत्मध्यान का पात्र वही है जो विषयों से विरक्त चित्त हो, जिसका मन अपने आत्मा के अधीन हो।

श्लोक-1311

निःशेषविषयोतीर्णो निर्विण्णो जन्मसंक्रमात्।

आत्माधीनमनाः शश्वत्यर्वदा ध्यातुमर्हति॥1311॥

जिस समय मुनि का चित्त क्षोभरहित हो, आत्मस्वरूप के सम्मुख ही उस काल की ध्यान की सिद्धि निर्विघ्न होती है। जब चित्त में किसी प्रकार का क्षोभ है, किसी के प्रति राग है, किसी के प्रति द्वेष है, अपने आत्मा के स्वरूप के सम्मुख नहीं होता, मैं वास्तव में क्या हूँ, ऐसे अपने आपके विशुद्ध स्वरूप की जिसे खबर नहीं वह पुरुष ध्यानसिद्धि क्या करेगा? जो आत्मस्वरूप के अभिमुख है वह ही पुरुष ध्यान की साधना करता है।

श्लोक-1312

अविक्षिप्तं यदा चेतः स्वतत्त्वाभिमुखं भवेत्।
मुनेस्तदैव निर्विघ्ना ध्यानसिद्धिरुदाहृता॥1312॥

ध्यान की सिद्धि का कारण स्थान और आसन का सही होना है। ये दो बातें सर्वप्रथम चाहिए। ध्यानार्थी के लिए प्रथम तो ध्यान करने का स्थान योग्य हो जैसा कि पहिले बताया जा चुका है। वीतरागता का वातावरण हो, जहाँ किसी असंयमीजनों का आवागमन न हो ऐसा विशुद्ध निर्जन एकान्त स्थान ध्यानार्थी के योग्य होता है। इस प्रकार योग्य स्थान पर पहुँचने पर फिर विशुद्ध आसन से रहे, पद्मासन, कायोत्सर्ग आदिक आसनों से रहे तो उसमें ध्यान की सिद्धि होती। यों ध्यान सिद्धि के लिए दो बातें खास आवश्यक हैं, जिस मुनि के इन दोनों में से एक भी बात नहीं होती, उसका चित्त विक्षेपरहित नहीं बन पाता। स्थान यदवा तदवा और आसन में भी कोई बल न हो। शरीर के सुखियापन के कारण शरीर के मोह के कारण बराबर मिनट-मिनट में आसन बदलता रहता हो ऐसा शरीर का अनुरागी पुरुष ध्यान के योग्य नहीं होता।

श्लोक-1313

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्निबन्धनम्।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः॥1313॥

यह जो एक आसन का विधान बताया है यह साधारणजनों के लिए जो ध्यान में अभ्यस्त नहीं हैं किन्तु ध्यान चाहते हैं ऐसे पुरुषों को कहा गया है। वस्तुतः तो जो यथार्थ में तत्त्वज्ञानी हैं, विरक्तचित्त पुरुष

हैं, सम्बेग परिणाम से युक्त हैं अर्थात् धर्म में अनुराग होना और संसार शरीर योगों से विरक्त होना ऐसा धर्मानुराग और वैराग्य से युक्त हैं वे पुरुष तो सभी अवस्थाओं में ध्यान कर सकते हैं। जिसके चित्त में वस्तु का यथार्थस्वरूप प्रतिभासता है वह पड़ा हुआ बैठा हुआ कैसे भी हो, उसका चित्त ध्यान में बना रहता है। हाँ साधारण जनों के लिए अभ्यास का धुन बताया है। स्थान उत्तम हो और आसन भी स्थिर हो लेकिन बड़े-बड़े भी तत्त्वज्ञानी पुरुष करते सब विधि का ही कार्य हैं। योग्य स्थान में रहना और दृढ़ आसन करके रहना, पर जो अभ्यस्त योगीश्वर हैं वे किसी आसन में भी न हों। यथा तथा बैठे हों तो भी उनके ध्यान बन जाता है। ध्यान तो मन की वृत्ति के अनुसार बनता है। मन चलित न हो, मन वश हो तो लो ध्यान बन गया और ध्यान भी क्या उत्तम ध्यान वही है जिस ध्यान में केवल यह अनुभव चलता हो— ज्ञान ज्योतिमात्र को निरखकर कि मैं तो यह ज्ञानमात्र हूँ। इस प्रकार केवल ज्ञानानुभूति जिसके चलती हो उनके ध्यान है। ध्यान में और चाहिए क्या? एक यह अनुभव चाहिए। जैसा है, आत्मा का सहजस्वरूप है उस स्वरूपमात्र अनुभव चाहिए। केवल एक ही बात चाहिए धर्म के लिए, अनेक झगड़े नहीं हैं। जैसा मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ वैसा मैं अपने को प्रतीति में ले लूँ, यह हूँ मैं। ऐसी प्रतीति अनुभूति आत्मा के ध्यान का विशेष स्थान पाती है। जो पुरुष सम्वृत है, अपने इन्द्रिय और मन को वश किए हुए है, धीर है, स्थिर चित्त वाला है, जिसको आशय में निर्मलता है वह पुरुष आत्मध्यान को कर लेता है। निर्मल आशय में अपने लिए तो एक विशुद्ध ज्ञानस्वरूप के अनुभव की बात होना, मुझे चाहिए क्या— इसके उत्तर में जिसको केवल यह आता है कि मैं सहजस्वरूप से जैसा हूँ ऐसा ही रहूँ, और कुछ चाहिए ही नहीं। जो रागद्वेष मोह की विडम्बनाएँ बखेड़े उत्पन्न हुए थे वे सब दूर हों, जो पुरुष निर्मल आशय हों उनके तो एक ज्ञानस्वरूप की दृष्टि रहती है और दूसरों के प्रति निर्मल आशय होने का भाव यह है कि समस्त जीव सुखी हों ऐसी भावना दूसरे लोगों के प्रति जगना और अपने आपको सर्व वैभवों से, परिग्रहों से निर्मल मानना, केवल ज्ञानस्वरूप अनुभवना यह ही निर्मल आशय कहलाता है। सदोष आशय यह है कि बाह्य पदार्थों में ममता होना, आत्मीयता होना, यह ही मैं हूँ, इससे ही मेरी जिन्दगी है, यों वस्तुस्वरूप के प्रतिकूल भाव बनाना यह सदोष आशय कहलाता है। अपनी रक्षा केवल एक इस अनुभव में हैं कि मैं तो मात्र ज्ञानस्वरूप एक स्वतंत्र पदार्थ हूँ। दूसरे जीवों से या वैभव आदिक से मुझ आत्मा में कोई अतिशय उत्पन्न नहीं होता। किसी भी परपदार्थ से मुझमें कोई परिणति नहीं होती। यह मैं भी जो कुछ कर पाता हूँ अपने आपके प्रदेशों में ही, जो कुछ ज्ञानमय भाव करता हूँ सो ही कर पाता हूँ। ऐसा विशुद्ध सर्व विविक्त ज्ञानमात्र अपने आपको निरखना यही निर्मल आशय है। सो ऐसे धीर वीर पुरुष निर्मल चित्त वाले समस्त अवस्थाओं में सब जगह सब समय ध्यान करने के योग्य बनते हैं।

श्लोक-1314

संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः।
सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वदा ध्यातुमर्हति॥1314॥

कैसा स्थान हो जहाँ मनुष्यों का आवागमन नहीं, जनता से रहित क्षेत्र है अथवा जनसंकीर्ण क्षेत्र हो, बहुत से पुरुष जहाँ निवास करते हैं, आते हैं, जाते हैं ऐसा कोई क्षेत्र हो, अथवा कोई योगी अच्छी प्रकार बैठा हो आसन से, ढंग से अथवा कोई खोटे प्रकार बैठा हो, यदि चित्त स्थिरता को धारण करता है तो समझिये कि उसके आत्मा में ध्यान की पात्रता है। ध्यानों में ध्यान एक है आत्मध्यान। ध्यान के बिना यद्यपि कोई पुरुष रह नहीं सकता। प्रत्येक जीव के ध्यान निरन्तर रहता है लेकिन वे सब ध्यान तो संसार में रूलाने के ही कारण बन रहे हैं। तो वह ध्यान नहीं है किन्तु अपने आपके आत्मा का ध्यान ही वास्तविक ध्यान है। जैसे ज्ञानों में ज्ञान-ज्ञान का ज्ञान करते हैं ऐसे ही ध्यानों में ध्यानी ध्यान का आधारभूत अन्तस्तत्त्व का आश्रय लेते हैं। तो किसी भी स्थिति में हो, कैसी भी जगह में हो, कैसे ही आसन में हो यदि चित्त स्थिरता को प्राप्त है, मन जिसका चलित नहीं है ऐसे पुरुष को ध्यान की सिद्धि होती है, उसका निषेध नहीं है।

श्लोक-1315

विजने जनसंकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽपि वा।
यदि धत्ते स्थिरं चित्त न तदास्ति निषेधनम्॥1315॥

ध्यानी मुनि ध्यान के समय प्रसन्न मुख होकर या तो सीधा पूर्व दिशा में ही मुख करते हैं अथवा उत्तर दिशा में भी मुख करके ध्यान करते हैं। पूर्व दिशा में ध्यान करने की बात अधिकतर क्यों कही गई है कि उस दिशा में मन प्रसन्न रहता है, सूर्य का उदय पूर्व दिशा में होता है उसकी सुध बनी रहती है। और अपने आपमें इस प्रकार घटता है जैसे सूर्य का उदय पूर्व दिशा से होता ऐसे ही ध्यान के फल में जो कुछ भी विशुद्ध वृत्ति होगी, वह आत्मा से होगी पर बाह्य साधनों में पूर्व दिशा कुछ शुभकारी दिशा है ध्यान जमाने वाली और स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रातः काल पूर्व दिशा में बैठकर पूर्व दिशा को मुख करके जितना अधिक सूर्य की किरणों का सेवन किया जाय तो उसमें ज्ञानबल की भी विशेषता आ जाती है। यों पूर्व दिशा के सम्मुख

होकर ध्यानी पुरुष ध्यान करते हैं और उत्तर की तरफ मुख करके ध्यान किया जाता है उसका कारण है कि उत्तर दिशा में विदेह क्षेत्र है जहाँ हमेशा तीर्थकर रहा करते हैं। तो उत्तर दिशा में मुख करके बैठने से सामने देखा नजर में विचार में कि यह तीर्थकर देव हैं, ये धर्मात्मा साधु-संत ऋषिजन विराजे हैं, विदेह क्षेत्र का दृश्य देखने में आ जाय ऐसी थोड़ी सी सुध रहती है तो उत्तर दिशा में मुख करने से उन 'धर्मयोनियों' का ध्यान रहता है। इस कारण उत्तर दिशा में मुख करके अथवा पूर्व दिशा में मुख करके ध्यान करने की बात आचार्यदेव ने बतायी है। वैसे ही कोई किसी भी दिशा में मुख करके ध्यान करने बैठ जाय, तत्त्वज्ञानी है, विरक्त है तो क्या उसके ध्यान न बनेगा? बनेगा, लेकिन एक आम रीति की बात है। तत्त्वज्ञानी विरक्त पुरुष तो किसी भी दिशा में मुख करके ध्यान करे, किसी भी आसन से ध्यान करे तो सिद्धि हो सकती है। नियम नहीं है कि ऐसा आसन लगाये तब ही वह धर्म का मुक्ति का पात्र होगा। अपने आपमें कोई दोष न हो, ऐब न हो, दूसरे का अकल्याण न विचारे, जो इस प्रकार शुद्ध आशय से अपने आपके दर्शन में लगता है ऐसा पुरुष ध्यान का उत्तम पात्र माना गया है। ध्यान करना हो तो एक तो यह ज्ञान रखना कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और फिर पर के विकल्प न होना, अवश्यमेव ध्यान की सिद्धि होगी।

श्लोक-1316

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा।

प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते॥1316॥

ऐसे योगी जो चारित्र और ज्ञान से सम्पन्न हैं, जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया है, जिनमें दूसरों के प्रति मात्सर्य और द्वेष नहीं है ऐसे योगीश्वर अनेक अवस्थाओं में रहकर भी मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। यहाँ आसन का प्रसंग चल रहा है। आसन स्थिर लगाने से चित्त में एकाग्रता होती है। ध्यान का कारण है कि आसन स्थिर रहे। पद्मासन से बैठे तो, , कायोत्सर्ग से बैठे तो, चित्त की एकाग्रता रहे तो ध्यान की सिद्धि है और उस ध्यान से मुक्ति की प्राप्ति है। लेकिन जो बड़े तत्त्वज्ञानी हैं, ब्रह्म जैसा जिनका शरीर है, विषयों को जिन्होंने जीत लिया है ऐसे योगीश्वर किसी भी स्थिति में बैठे हों, एक पैर ऊँचा कर एक नीचा कर किसी भी बैठक में हों, ध्यान के आसन में भी न हों लेकिन ऐसे अनेक योगीश्वरों ने किसी अन्य आसन में रहकर ध्यान के बल से मुक्ति की प्राप्ति की है। एक अपना चित्त अपने वश में है तो उसको सब समृद्धि मिल गयी और जब चित्त वश नहीं रहता तो दूसरों से आशा रखता है, उनके वश बनता है और आशा बना बनाकर

अपने को दुःखी बनाया जाता है। मन वश हो गया तो संकट दूर हो गए समझिये। एक कहावत है कि मन चंगा तो कठौती में गंगा। इसका तात्पर्य क्या है? एक कथा है कि एक चमार अपने द्वार पर बैठा जूते बना रहा था। सामने से निकला एक ब्राह्मण। चमार ने कहा राम राम। आप कहाँ जा रहे हैं? तो ब्राह्मण बोला कि हम गंगा नदी नहाने के लिए हरिद्वार जा रहे हैं।....किसलिए?...गंगामाई को फूल चढ़ाने के लिए।....अच्छा ये दो पैसे हमारे भी ले लो, इन्हें गंगामाई में चढ़ा देना, लेकिन गंगामाई जब अपने हाथ बाहर निकाले तब चढ़ाना। यों ही न चढ़ा देना। सस्ते जमाने की बात है। उस समय दो पैसे में पेट भी भर लिया जाता था। ब्राह्मण सोचता है कि वे दो पैसे अपने पास रख लेंगे और वापिस आकर चमार से कह देंगे कि तुम्हारे दोनों पैसे चढ़ा दिया। ब्राह्मण हो चला गया और उन दोनों पैसों को अपने खर्च में ले लिया। जब ब्राह्मण लौटकर आया तो चमार ने पूछा कि क्या आपने हमारे दो पैसे गंगामाई को चढ़ा दिये थे? तो ब्राह्मण कहता है— हाँ हाँ चढ़ा दिये थे।....तो क्या गंगामाई ने अपने हाथ बाहर निकाला था?....अरे बेवकूफ कहीं गंगामाई नदी से हाथ भी बाहर निकाला करती है। तो चमार बोला कि तुम्हारी श्रद्धा में, भक्ति में अभी कमी है। अरे हम तो वहाँ न जायेंगे, गंगामाई हमारी इस कठौती में ही हाथ निकाल लेगी। कुछ लोग यह देखने के लिए खड़े हो गए कि देखे तो सही कि यह चमार कैसे गंगामाई के हाथ अपनी इस कठौती में निकाल पाता है। आखिर हुआ क्या कि ये जो कौतूहल प्रिय व्यंतरदेव घूमा करते हैं वे आये उस कौतूहल को देखने। वह भी एक कौतूहल की बात थी। जब वह चमार गंगामाई का ध्यान करने बैठा तो एक व्यंतरदेव ने उस कठौती में से अपना हाथ निकाल दिया। तब से यह बात प्रसिद्ध हो गयी कि मन चंगा तो कठौती में गंगा। तो सारी बातें इस मन के नियंत्रण पर निर्भर हैं। आज मनुष्य इतना दुःखी क्यों हो रहे हैं कि मन पर नियंत्रण नहीं है। तो जितना मन नियंत्रित है, उन्हें उसका अच्छा फल मिलना है और जब मन नियंत्रित नहीं है तो चाहे कितना ही परभेट हो— मन ने एक चाह कर ली कि अमुक चीज खानी है तो जब मन नियंत्रण में नहीं रहता तब संकट सामने आ जाते हैं। तो जिन योगियों का मन वश में है, विषयों को जिन्होंने जीत लिया है, ध्यान, ज्ञान, तत्त्वज्ञान से जो सम्पन्न हैं ऐसे योगीश्वर किसी भी स्थिति में रहें तो ऐसे योगीश्वर पूर्वकाल में बिना किसी विशेष आसन के मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। तो ध्यान के लिए सही बात यद्यपि बताया है अच्छे स्थान पर रहना, स्थिर आसन लगाना, प्राणायाम आदिक करना, पर जिनके तत्त्वज्ञान विशाल है ऐसे पुरुषों को अपने ज्ञान वैराग्य बल से बिना ही प्राणायाम, बिना ही आसन आदिक से मुक्ति की प्राप्ति हो गयी।

श्लोक-1317

चरणज्ञानसम्पन्न जिताक्षा वीतमत्सराः।

प्राग्नेकास्ववस्थासु संप्राप्ता यमिनः शिवम्॥1317॥

अब ध्यान के स्वामी कौन हैं? इस सम्बंध में बता रहे हैं। मुख्य रूप से तो प्रमत्त मुनि जिनमें प्रमाद नहीं रहा, छठे और 7 वें गुणस्थान से ऊपर के मुनिराज तो मुख्य रूप से ध्यान के स्वामी हैं और उससे नीचे प्रमत्त जिनके प्रमाद हैं, अभी कषाय जीवित हैं ऐसे प्रमादी, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उपचार से स्वामी कहे गए हैं। प्रमाद नाम है आत्मा के हित में उत्साह न जगने का। जैसे यहाँ अनेक लोग बहुत अधिक श्रम करते हैं, रात दिवस अधिक परिश्रम किया करते हैं, रोजगार कि लिए, कृषि के लिए और अनेक अपनी आजीविका के लिए श्रम किया करते हैं लेकिन क्या वे निष्प्रमाद हैं? नहीं। प्रमाद का अर्थ है आत्मा की भलाई में उत्साह न जगना। मेरे आत्मा का कैसे कल्याण हो, कल्याण का क्या स्वरूप है ऐसी आत्मकल्याण के लिए इच्छा जगना सो निष्प्रमाद है और आत्महित में प्रमाद रहना सो प्रमाद है। जो जीव ज्ञानी हो गए पर प्रमाद नहीं निकला, तीव्र उत्साह नहीं जगा धर्म के लिए ऐसे ज्ञानी प्रमत्त पुरुष उपचार से ध्यान के स्वामी हैं और जिनके निष्प्रमादता उत्पन्न हुई है ऐसे तत्त्वज्ञानी जीव मुख्यरूप से ध्यान के स्वामी हो गए।

श्लोक-1318

मुख्योपचारभेदेन द्वौ मुनी स्वामिनौ मतौ।

अप्रमत्तप्रमत्ताख्यौ धर्मस्यैतौ यथायथम्॥1318॥

जो प्रमत्त हैं, आत्महित में जिनका उत्साह नहीं जगा है ऐसे ज्ञानी पुरुष भी ध्याता तो माने गए हैं परन्तु वे उत्कृष्ट ध्याता नहीं हैं। जो विकल्प रखते हैं, घर में रहते हैं, किन्तु हैं ज्ञानी, यथार्थ निर्णय उनके हो गया है ऐसे जन अधिक से अधिक पंचम गुणस्थान तक के होते हैं और प्रमाद तो छठे गुणस्थान तक होता है, तहाँ तक तो यह जीव एक साधारण ध्याता है और जब प्रमाद भी मिट गया और आत्मा के दर्शन में निरन्तर सावधानी रहती है तो वह अप्रमत्त है, वह ध्यान का मुखरूप से स्वामी है और जो प्रमत्तविरत हैं वे ध्यान के उपचार से स्वामी कहे गए हैं। हम आप भी गृहस्थावस्था में रहकर मुख्यतया ध्याता नहीं हो सकते। अनेक विकल्प अनेक शिथिलताएँ बसी हुई हैं तो मुख्यरूप से ध्याता अप्रमत्त पुरुष ही होता है। तो जो अप्रमत्त हो, जिसका संस्थान उत्तम हो और शरीर भी वज्रवत् हो, अपनी इन्द्रिय को वश रखने वाला हो, और ज्ञान भी बहुत अधिक बढ़ा चढ़ा हो, जो अपने आपके मन को रोक सकते हैं ऐसे स्वरक्षित आत्मा उत्कृष्ट

ध्यान के ध्याता कहे गए हैं। ध्यान में असल में बाधा तो आती है विषयकषायों के भावों से। रंच भी किसी भी विषय में अनुराग हो तो धर्म में ध्यान कहाँ से जमेगा? परिग्रह वैभव में अनुराग हो वहाँ मंदिर में कब तक बैठा जा सकेगा? तो जो समृद्ध आत्मा है, अपने मन को वश में रखने वाला है वह पुरुष उत्तम ध्यान का ध्याता होता है जिसके प्रसाद से मुक्ति प्राप्त होती है। तो जो वज्रकाय हों, स्थिर चित्त वाले हों, पूर्व के ज्ञाता हों, अपने को स्वरूप जिन्होंने कर लिया हो ऐसे पुरुष धीर वीर सम्पूर्ण लक्षण वाले ध्याता माने गए हैं। ध्यान का सम्बन्ध ज्ञान से है, जिसने अपने आपके सम्बरूप का परिचय पा लिया है वह ज्ञानी पुरुष निराकुल रहा करता है। आकुलता है किसी परपदार्थ में चित्त लगाने में। सब जगह निर्णय कर लो, सभी परिस्थितियों में देख लो।

सर्व समय देख लो, जब भी कभी कोई आकुलता होती है तो वह आकुलता किसी न किसी परपदार्थ में इच्छा, आशा, वासना बनाये रहने के कारण है। तो आकुलता है अज्ञान की भ्रम की। भ्रम मिटा कि आकुलता मिटी, झट वहाँ सुखी हो गए। परपदार्थों में ममता का परिणाम करने का कितना कठिन भ्रम जीवों को लगा है, पर हैं अपने प्रदेशों से अत्यन्त भिन्न। मेरे सोचने से किसी भी परपदार्थ में कोई परिणमन होता नहीं है, ऐसे अत्यन्त भिन्न हैं समस्त पदार्थ मेरे आत्मा से, फिर भी उस ही ममता की ओर अपने को ले जायें तो स्वयं दुःखी होते हैं। जीव को सुखी अथवा दुःखी करने वाला कोई बाहर में नहीं है, भ्रम मिटा कि वे सब दुःख मिट जाते हैं। जैसे स्वप्न में कोई गड़बड़ बात देख लिया, वन में फँस गए, कोई शेर आ रहा है, वह मुझ पर पंजा मारने वाला है, ऐसी खोटी बात स्वप्न में कोई देख ले तो उस समय यह कितना दुःखी रहता है? स्वप्न में यह मालूम नहीं होता कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ, फिर स्वप्न ही क्या रहा, तो जैसे स्वप्न में देखी हुई बात मायारूप है, परमार्थभूत नहीं है इसी प्रकार ये सब अज्ञान, ये सब मायारूप हैं, ये मेरे नहीं हैं, यों सबसे निराले अपने आपके स्वरूप की दृष्टि करना सो धर्मपालन है, और इस धर्म के होते सन्ते अशान्ति नहीं हो सकती। अशान्ति तो परपदार्थों में ममत्व करने से है। ममता छोड़ दें अभी अशान्ति मिट गयी। तो अशान्ति दूर करने के लिए यत्न होना चाहिए तत्त्वज्ञान के अर्जन का। तत्त्वज्ञान का मतलब संक्षेप में इस प्रकार समझिये जगत में जितने भी पदार्थ हैं वे सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूप को लिए हुए हैं। जैसे यहाँ हम आप सब जीव हैं हम सुखी हों, खुश हो जायें तो सब कहाँ सुखी हो पाते हैं? इससे जाना जाता है कि वे भिन्न हैं। यों सर्व पदार्थों से अपनी भिन्नता निरखना यही है तत्त्वज्ञान। जब कभी कोई संकट की स्थिति आये तो तुरन्त ख्याल बदल लें। संकट है क्या? बाह्य पदार्थों में, जड़ अथवा चेतन पदार्थों में किसी प्रकार का कुछ परिणमन हो तो वह मेरा स्वरूप है। ऐसे ही समस्त पदार्थ अपने आपके स्वरूप में परिणमन करते हैं। मेरा किसी भी परपदार्थ से संबंध नहीं। जो कुछ करता हूँ उसका फल स्वयं भोगता हूँ। मैं

तो केवल अपने आपके इस चैतन्य स्वरूप में रमा करता हूँ, ऐसी दृष्टि कोई बनाये तो उसका संकट क्षण भर में दूर हो जाता है।

श्लोक-1319

अप्रमत्तः सुसंस्थानो वज्रकायो वशी स्थिरः।

पूर्ववित्संवृतो धीरो ध्याता संपूर्णलक्षणः॥1319॥

अभी पहिले श्लोक में बताया है कि जो अंग पूर्वी का ध्याता हो वह शुद्ध ध्यान का वास्तविक दृष्टि में पात्र होता है। यहाँ अब यह बतला रहे हैं कि चाहे ज्ञान सम्पूर्ण न हो, श्रुत विकल हो अथवा शास्त्र का ज्ञान न हो वह भी यदि सम्यग्दृष्टि है, मिथ्यात्व से दूर है तो वह इस अपनी नीची श्रेणी में अपनी योग्यतानुसार इन सब साधनों को छोड़कर आत्मध्यान का पात्र होता है, ऐसा शास्त्र में कहा गया है। ध्यान है ज्ञान पर निर्भर। ज्ञान ही न हो आत्मा का तो ध्यान किसका करें? तो जो कम श्रुत का धारी हो वह पुरुष भी ध्यान का स्वामी तो है किन्तु वह एक नीची श्रेणी के ध्यान का स्वामी माना गया है। ध्यानविशुद्धि हो तो यही सच्चे धर्म की कमाई है। और जिसका मन छल प्रपंचों से परिपूर्ण है उसके ध्यान की कहाँ सिद्धि है?

श्लोक-1320

श्रुतेन विकलेनापि स्वामी सूत्रे प्रकीर्तितः।

अधःश्रेण्यां प्रवृत्तात्मा धर्मध्यानस्य सुश्रुतः॥1320॥

कितने ही आचार्यों ने यह बताया है कि धर्मध्यान के ध्यानी 4 प्रकार के जीव होते हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त विरत, और अप्रमत्त विरत। असंयत सम्यग्दृष्टि तो वह श्रावक है जिसके व्रत तो नहीं हो पाता, पर सम्यक्त्व जग गया है। जिसके सम्यक्त्व जग जाता है उसे व्रत धारण करने की ओर प्रीति जगती है। यद्यपि यह बात है और सम्यक्त्व जग जाने पर जब तक संयम नहीं बना तब तक वह अविरत सम्यग्दृष्टि जीव कहलाता है। तो ध्यान के ये भी स्वामी हैं तत्त्वज्ञानी पुरुष और इससे ऊँचे स्वामी हैं पंचम गुण स्थान वाले जीव। उनके मन है, चर्चयें करते हैं और ज्ञानावरण का ऐसा क्षयोपशम है कि उनके ज्ञान

जग रहा, विवेक जग रहा, पर संयम नहीं है, पर उसके सम्यग्ज्ञान हो जाय, वह कहलाता है अविरत सम्यग्दृष्टि जीव। ध्यान उसके भी होता है। तो यहाँ असंयत सम्यग्दृष्टि जीव ध्यानी पुरुषों में एक छोटी श्रेणी के ध्यानी हैं और उससे बढ़कर ध्यानी है देशविरत, जिसको संयमासंयम प्रकट हो गया है, सम्यग्दर्शन भी हो गया है वह जीव देशविरत गुणस्थान वाला कहलाता है। इसके त्रस जीव की हिंसा का सर्वथा त्याग है और प्रयोजन बिना स्थावर हिंसा भी नहीं करता। झूठ, चोरी, कुशील आदि का भी त्याग है। ऐसे पुरुष कहलाते हैं देशविरत वाले जीव। ये असंयत सम्यग्दृष्टियों से बढ़कर है। तीसरी पदवी है प्रमत्तविरत की। मुनि हो गए पर अभी प्रमाद है, धर्म के धारण का उत्साह नहीं है, ऐसे जो प्रमादी जीव हैं किन्तु तत्त्वज्ञान जगने के कारण उनके भीतर में वैराग्यता है, तो जो ज्ञानी हैं, विरक्त हैं और कर्मोदय के कारण उनके संयम प्रकट नहीं हो सका है अथवा संयम हो भी गया है किन्तु प्रमाद नहीं हटा, ऐसे योगीश्वर प्रमत्त गुणस्थान वाले जीव कहलाते हैं, उनके भी ध्यान होता है। और अंतिम हैं अप्रमत्त जीव, सप्तम गुणस्थान वाले जीव। यह ध्यान सप्तम गुणस्थान के अधिकारी जीवों को माना गया है। ये जितने भी ध्याता जीव हैं सबके मूल में एक कला बराबर पड़ी रहती है। तो ये 4 प्रकार के जीव ध्यान के अधिकारी बताये गए हैं और जब तत्त्वज्ञान जग जाता है किसी को तब वे ध्यान के अधिकारी होते हैं। प्रमाद न रहे तो वह उत्कृष्ट ध्याता है। सब कुछ गाड़ी ध्यान पर चल रही है। खोटे ध्यान हैं तो संसार चलता है, कुछ विशुद्ध ध्यान है तो संसार की अच्छी-अच्छी पदवियाँ प्राप्त होती हैं, पूर्ण विशुद्ध ध्यान हो तो उससे मुक्ति की प्राप्ति होती है। यों ध्यान के ध्याता पुरुष 4 तरह के बताये गए हैं। संयमशील, सम्यग्दृष्टि पंचम गुणस्थान वाले सम्यग्दृष्टि। जो प्रमादरहित योगीश्वर हैं ऐसे अप्रमत्तविरत ये सब ध्यान के अधिकारी कहे गए हैं।

श्लोक-1321

किं च कैश्चिच्च धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः।

सद्दृष्टयाद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना॥1321॥

ध्यानी पुरुष तीन तरह के बताये गए हैं उत्तम, मध्यम और जघन्या। तो जैसे विशुद्ध ध्यान होता है, अपने आत्मस्वरूप की ओर दृष्टि जगे वहाँ ही वे बलवान ध्यानी होते हैं और फल भी उन्हें उत्कृष्ट ध्यान का मिलता है। बस करने योग्य काम यही है कि अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पहिचानें और ऐसे ही शुद्ध स्वरूप के निरखते रहने में अपना उपयोग लगायें। बीच-बीच में यह उपयोग टूटता है, अन्य प्रकार के

परिणाम होते हैं। फिर भी तत्त्वज्ञान में अपना चित्त बसाये रहें, अपने आपको सबसे निराला समझते रहें, तो किसी प्रकार के भी संकट नहीं आ सकते। एतदर्थ कर्तव्य है कि हम अपने आपको अमूर्त ज्ञानस्वरूप मात्र ही मानते रहें, चाहे बाहर में कुछ भी स्थिति हो, तत्त्वज्ञान से जिन्हें प्रेम है उनको मुक्ति की अवश्य प्राप्ति होती है।

श्लोक-1322

ध्यातारस्त्रिविधा ज्ञेयास्तेषां ध्यानान्यपि त्रिधा।
लेश्याविशुद्धियोगेन फलसिद्धि रुदाहता॥1322॥

योगी पुरुषों के लिए शिक्षा दे रहे हैं कि इन्द्रिय को जीतकर वे आसन का विजय प्राप्त करें क्योंकि जिनका आसन स्थिर होता है वे समाधिभाव में खेद को प्राप्त नहीं होते। आसन विजय करने के लिए जितेन्द्रिय होने का गुण जरूरी है। जो इन्द्रिय के विषयों में इच्छा रखते हैं, और शरीर के आराम में जिनकी रुचि रहती है वे आसन स्थिर नहीं रख सकते। और जब स्थिर आसन नहीं होता है तब सामायिक में, समता में, समाधि में वे खेद मानते हैं। जिनका आसन स्थिर हो उन्हें समाधि में खेद नहीं प्राप्त होता। आसन को जीतने से ध्यान में चलायमान नहीं हो सकते। अभी प्रयोग करके देख लो, ठीक पद्मासन मारकर शरीर को एकदम सीधा रखकर और कुछ भीतर में मीठी मधुर ध्वनि से ओम् बोलें तो चित्त में कितनी प्रसन्नता जगती है? तो स्थिर आसन में होना ध्यानार्थी के लिए आवश्यक है।

श्लोक-1323

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः॥1323॥

जिस पुरुष को आसन का अभ्यास है उसको तो खेद नहीं होता, पर जिसे आसन का अभ्यास नहीं है उसके शरीर की स्थिरता नहीं रहती और समाधि के समय शरीर की विकलता से भी निश्चय से वह खेदरूप हो जाता है। आसन का अभ्यास न होने से शरीर में भी खेद बना रहता है और सीधी बात तो यह है

कि जिसने अपने आत्मा के सहजस्वरूप का निर्णय किया है और अपने को जिसने चिदानन्दस्वरूप निरखा है उसके शरीर में खेद नहीं होता अथवा वह खेदरूप अपने को अनुभव नहीं करता। तब उस आत्मतत्त्व में अपना उपयोग स्थिर रखने के लिए बाह्यसाधन है आसन मारकर ध्यान करना।

श्लोक-1324

आसनाभ्यासवैकल्याद्यपुःस्थैयं न विद्यते।

खिद्यते त्वङ्गवैकल्यात्समाधिसमये ध्रुवम्॥1324॥

जिन्होंने आसन को जीत लिया है अर्थात् स्थिरता से अपना आसन लगा सकते हैं ऐसे योगी पुरुष उपद्रवों से भी पीड़ित हो जायें तो भी खेदरूप अनुभव नहीं करते और वहाँ भी थोड़ा अंदाज कर लेते हैं कि सामायिक में यदि ढीले-ढाले बैठे हों तो उस समय मच्छरों से बाधा ज्यादा मालूम पड़ेगी और जब आसन स्थिर करके सुदृढ़ होकर बैठ जायें तो मच्छरों से बाधा ज्यादा मालूम होती है, मच्छर वही हैं, उनकी वृत्ति वही है पर अपना-अपना मन बदल जाता है। तो स्थिर आसन होने पर बहुत से उपसर्ग सह लेने में सुगमता हो जाती है। जिनका आसन स्थिर है ऐसे योगियों को वायु से भी ज्यादा बाधा नहीं पहुँचती। वह योगी पद्मासन मारकर देह को बिल्कुल दृढ़ करके बैठा रहता है, और जब देह को ढीला-ढाला करके बैठता है तो उसे वायु से भी बाधा मालूम होती है। इसी प्रकार गर्मी का आताप, सूर्य की गर्मी स्थिर आसन वाले को कम महसूस होती है। किसी गर्म जगह पर भी वह योगी बैठा हो, पर देह को स्थिर करके सुदृढ़ होकर यदि बैठ जाय तो उसके लिए वही जगह ठंडी बन जायगी। पसीने से, पानी से, किसी से भी स्थिर आसन से बैठने वाले योगी को बाधा नहीं मालूम होती। इसी प्रकार तुषार से भी उस स्थिर आसन वाले योगी को बाधा नहीं मालूम होती। बहुत से जंतु समूह के द्वारा भी पीड़ित हो जाय तो भी स्थिर आसन का करने वाला योगी पुरुष पीड़ित नहीं होता। ध्यान का साधन स्थिर आसन में रहता है। उस स्थिर आसन में ऐसा गुण है कि सुगमतया चित्त बाह्य पदार्थों में जाने से रुक जाता है और आपके जानने में, अनुभवन में वह विशेष उत्सुक रहता है और सफल भी होता है। तो यों जिसने आसन को जीत लिया ऐसे साधु पुरुष अनेक उपद्रव और उपसर्गों से पीड़ित होने पर भी खेदरूप नहीं बनते हैं।

श्लोक-1325

वातातपतुषाराद्यैर्जन्तुजातैरनेकशः।

कृतासनजयो योगी खेदितोऽपि न खिद्यते॥1325॥

सर्वप्रथम तो चित्त को प्रसन्न करने वाले रमणीक स्थान में जाना चाहिए और फिर उस स्थान में बड़े हर्ष के साथ एक प्रभुभक्ति का यत्न रखकर आत्मस्मरण का पुरुषार्थ करके जो प्रदीपमान रहता है ऐसा श्रीमान योगी वैभववान पर्यंक आसन का आश्रय लेता है। सुरमणीक स्थान हो और चित्त में प्रसन्नता हो, आसन स्थिर हो तो आत्मा के अनुभव होने में उसे विलम्ब नहीं लगता। तो योगी पुरुषों को इन दो बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि एक तो रमणीक स्थान हो, अनेक दोषों से रहित हो, चित्त में प्रसन्नता देवे ऐसा स्थान हो, फिर वहाँ बड़ा हर्ष मानते हुए— मैं इस समय अपने आपके कारणपरमात्मतत्त्व का अवलम्बन ले रहा हूँ, उसमें बड़ा हर्ष मानते हुए पद्मासन को स्थिरता से मारें, ऐसा आचार्यदेव योगी जनों को उपदेश कर रहे हैं।

श्लोक-1326

आसाद्याभिमतं रम्यं स्थानं चित्तप्रसत्तिदम्।

उद्भिन्नपुलकः श्रीमान्पर्यङ्कमधितिष्ठति॥1326॥

अब पद्मासन से बैठने का यह तरीका है कि प्रथम तो बायाँ पैर दाहिने पैर पर रखे, फिर दाहिना पैर बायें पैर पर रखें और उस पद्मासन के बीच में दोनों हस्तों को विकसित कमल की तरह निश्चल रखें। न मुट्टी बाँधकर बैठें और न सीधा हाथ करके, किन्तु जैसे विकसित कमल की मुद्रा होती है उसमें अपने हाथ हथेली को बनायें, और पहिले बायाँ हाथ रखें और ऊपर दाहिना हाथ रखें, यों उत्तम रमणीक देश में जाकर उस स्थान में अपने आसन को स्थिर बनाकर उस आसन के बीच पद्मासन के बीच दोनों हाथों को कमल की तरह विकसित मुद्रा में रखकर निश्चलता से बैठे। दोनों हाथ अपनी गोदी में विकसित कमल की तरह निश्चल रूप से स्थापे, यह ध्यान की मुद्रा है। ये सब आसन अनन्त योगीश्वरों के द्वारा अनुभूत हुए हैं। इस

आत्मध्यान के आसन में एक प्रभाव है कि बाहरी पदार्थों में दृष्टि कम रहती है और अपने अंतःपरमात्मतत्त्व की दृष्टि अधिक रहती है।

श्लोक-1327

पर्यङ्कदेशमध्यस्थे प्रोत्ताने करकुञ्जल।

करोत्युफुल्लराजीवसन्निभे च्युतचापले॥1327॥

अत्यन्त निश्चल सौम्यभाव को लिए स्पंदरहित हैं मंद तारे जिसमें, ऐसे दोनों नेत्रों को ध्यानार्थी योगी नासिका के अग्रभाग पर ठहरते हैं। पद्मासन पहिले तो वीरों का आसन बताया है, फिर हाथ किस तरह रखे यह दिखाया, अब मुख मुद्रा कैसी हो यह बात इस श्लोक में बता रहे हैं। दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर हो और वह एक सौम्य मुद्रा को लिए हो। क्रोध, मान आदि की मुद्रा न हो किन्तु सुगम सौम्य मुद्रा हो और फिर आकाश की जो तारायें हैं वे स्पंदरहित हों अर्थात् अगल-बगल ऊँचे-नीचे जोर से न जलें किन्तु जलें तो बिल्कुल मंद, वही के वही, थोड़ा सा स्थान बदलकर चलें ऐसे निष्पंद तारावों से रहित नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रहती है ध्यान अवस्था में। वहाँ ध्यान साधना के लिए लोग अनेक उपाय करते हैं अथवा एक बात यह भी है कि सामने भीत पर कोई एक बिन्दु देख ले और दृष्टि से उस मुद्रा को ही बहुत देर तक देखते रहें तो इस प्रक्रिया में मन पर ऐसा असर होता है कि वह मन बाहरी पदार्थों में नहीं अटकता। विकल्प उसके दूर हो जाते हैं। और जो नासिका के अग्रभाग पर एक सुगम रीति से दृष्टि रखा, उसमें भी यह गुण तो है कि बाहरी पदार्थों के विकल्प कम होते, पर साथ ही एक ऊँची बात यह भी है कि इससे कोई नया चिन्ह नहीं बनाना है। नाक तो अपने पास रहती है, उस पर दृष्टि रहे तो वह गुण आ जाता है, जो 20 हाथ दूर भीत पर कोई चिन्ह बनाकर उसे देखता रहता है। एक जगह दृष्टि लगाये रहने से बाहर की सुध यह छोड़ देता है और अपने आपके अन्तर में प्रवेश करना हो इस तरह उसका यत्न होता है। तो ध्यान की मुद्रा में तीसरी बात यह कही है कि ध्यानार्थी पुरुष अपनी दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर रखें और प्रसन्न होकर सौम्य मुद्रा से जहाँ आँखों का कटाक्ष न हो, यहाँ वहाँ चलना न हो और आँखों का जो मूल खास तारा है उस तारे में भी मंद-मंद ही स्पंद हो, चलन हो, ऐसी ध्यान की मुद्रा बताई गई है।

श्लोक-1328

नासाग्रदेशविन्यस्ते धत्ते नेत्रेऽतिनिश्चले।
प्रसन्ने सौम्यतापन्ने निष्पन्दे मन्दतारके॥1328॥

ध्यानार्थी पुरुष मुख को इस प्रकार करें कि भौहें तो विकाररहित हों, शान्त मुद्रा में रहें। जब कभी किसी को गुस्सा आती है तो लगता है कि भौहें कुछ चढ़ी सी दिखती हैं और जो शान्त रहता है उसकी भौहें गिरी हुई होती हैं। तो ध्यान में प्रथम बात तो यह चाहिए कि भौहें विकाररहित हों, दूसरी बात— जो मुख के ओंठ हैं ये न बहुत खुले हों और न बहुत मिले हों। जैसे जब किसी को गुस्सा आता है तो ओंठ परस्पर में बहुत तेज भिड़ते हैं, ऐसी मुद्रा ध्यान के योग्य नहीं है और मुख खुला भी नहीं रहता। केवल ओंठों से यह विदित होता है कि कुछ खुला मुख है। तो ओंठ न बहुत खुले हों और न ज्यादा मिले ही हों। और सोते हुए मच्छ के हृदय की तरह जिनका मुख कमल हो, धीर हो, गम्भीर हो, शान्त हो, ऐसी मुद्रा ध्यान के योग्य कही गई है।

श्लोक-1329

भ्रूवल्लीविक्रियाहीनं सुश्लिष्टाधरपल्लवम्।
सुप्तमत्स्यहृदप्रायं विदध्यान्मुखपङ्कजम्॥1329॥

योगी साधुओं को चाहिए कि अपने शरीर को अगाध दया के समुद्र में मग्न हो गया है सम्बेद सहित मन जिनका, ऐसा सीधा और लम्बा रखें। जैसे दीवार पर चित्र उकेरे जाते हैं तो वे खड़े स्थिर होते हैं, इस ही प्रकार अपने मन को ऐसा सीधा धर्मानुरागी दया से भीगा हुआ बनायें तो ऐसे हृदय में ध्यान की साधना का विशेष अवसर होता है।

श्लोक-1330

अगाधकरुणाम्भोधौ मग्नः संविग्नमानसः।

ऋज्वायतं वपुर्धत्ते प्रशस्तं पुस्तमूर्तिवत्॥1330॥

मुनि जब ध्यान का आसन जमाकर बैठता है तब उसे ऐसा होना चाहिए कि प्रथम तो भेदविज्ञानरूप समुद्र की लहरों से निर्मल हुआ मन बने। सर्वसुखों का आधार भेदविज्ञान है। संसार से छुटकारा पाने का उपाय भेदविज्ञान है। ध्यानार्थी पुरुष को प्रथम तो भेदविज्ञानरूप समुद्र की कल्लोलों से निर्मल मन वाला बनना चाहिए, फिर ज्ञानरूप मंच से निकाल दिया है समस्त रागादिक विषम गृह पिशाच जिसने, ऐसे हों। प्रथम तो तत्त्वज्ञान हो, भेदविज्ञान हो और फिर वह ज्ञानभेद को छोड़कर अभेदस्वरूप अपने आत्मा में लगे। बहुत देर में सब पदार्थों को निरखकर यह ज्ञान किया कि प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे से अत्यन्त जुड़े हैं। इस भेदविज्ञान के प्रताप से आकुलता-व्याकुलता नहीं रहती। जहाँ यह निर्णय हो गया कि मैं तो अकेला अपने ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूँ। जब यों निर्णय कर लिया गया तो फिर उसे विह्वलता किस बात की? विह्वल तो लोग परपदार्थों में आत्मीयता और ममता का भाव बनाकर होते हैं। मान लो किसी प्रकार अन्याय से या अपने आपमें ममता आदिक विकारों के कारण कुछ उद्यम हो, सो इस कारण थोड़ा बहुत वैभव इकट्ठा हो गया या अपना थोड़ा यश हो गया, पर उससे लाभ क्या? योगी पुरुष को चाहिए कि वह सर्वप्रथम सर्व पदार्थों का परस्पर में भेद निर्णय करें और फिर दूसरे पदार्थों को भूल ही जायें, जिनसे न्यारा अपने आपके आत्मा को जाना जा रहा था। अब तो आखिरी सीधी उस अपने आपके स्वरूप की भावना रखें, इस उपासना के प्रताप से सर्व लौकिक संकट दूर हो जाते हैं। तो ये ध्यानार्थी पुरुष इस ज्ञानरूपी मंत्र के द्वारा समस्त रागादिक विभावों को दूर कर देते हैं, इसी कारण रागादिक विषम गृह, दैत्य, राक्षस, पिशाच ये पीछा छोड़ देते हैं, ऐसे पुरुष भी आत्मा के ध्यान में सफल होते हैं।

श्लोक-1331

विवेकवार्द्धिकल्लोलैर्निर्मलिकृतमानसः।

ज्ञानमन्त्रोद्धृताशेषरागादिविषमग्रहः॥1331॥

रत्नाकर की तरह तो अगाध हो, जैसे समुद्र बड़ा गम्भीर है इसी प्रकार ध्यानार्थी पुरुष का हृदय बड़ा गम्भीर रहता है। उसके चित्त में यों ही साधारण साधनों के द्वारा क्षोभ नहीं होता। जो समुद्र की तरह अगाध हो, गम्भीर हो और मेरुपर्वत की तरह निश्चल हो, जैसे मेरुपर्वत सीधा निश्चल रहता है, उसका नाम ही इसी कारण यह पड़ा है तो जैसे मेरुपर्वत निश्चल है इसी प्रकार ध्यानी योगी का मन भी निश्चल रहना चाहिए। जैसे सभी कार्यों में, दान आदिक कार्यों में चित्त लगाया जा रहा है वैसे ही यह बात भी मुख्यतया से रखनी चाहिए कि यह आत्मस्वरूप स्वयं निश्चल है और गम्भीर है और प्रशान्त में समस्त विश्व है, उसके स्पंदन से रहित होकर सारा भ्रम जिनका दूर हो गया है, ऐसा निश्चल मन मेरुपर्वत की तरह अगाध बने।

श्लोक-1332

रत्नाकर इवागाधः सुराद्रिरिव निश्चलः।

प्रशान्तविश्वविस्पन्दप्रणष्टसकलभ्रमः॥1332॥

क्या यह लोक निश्चल है अथवा पाषाण की मूर्ति है? इस प्रकार स्थिर आसन से रहकर योगी पुरुष विषयकषायों पर विजय प्राप्त करते हैं। यदि यों ध्यानी पुरुष स्थिर आसन को लगायें और जैसे उस ध्यान की साधना करते हैं उन छोटे-छोटे साधनों का भी उपयोग करें तो फिर समीप में रहने वाले पुरुषों के द्वारा वे चित्त में प्रशान्त रहते हैं। जो ध्यानी पुरुष हैं उन्हें निरखकर दूसरे लोग ऐसा चिन्तन करें कि क्या यह पत्थर की मूर्ति है, क्या यह चित्राम है? इस तरह दृढ़ आसन में बैठकर फिर प्रभुभक्ति आत्मचिन्तन सहित धर्मध्यान को करना चाहिए।

श्लोक-1333

किमयं लोष्ठनिष्पन्नः किं वा पुस्तप्रकल्पितः।

समीपस्थैरपि प्रायः प्राज्ञैर्ध्यानीति लक्ष्यते॥1333॥

जिन्होंने सिद्धान्त का निर्णय किया है ऐसे मुनिजनों के ध्यान की सिद्धि के लिए, चित्त की स्थिरता के लिए, अन्तरात्मा में उपयोग स्थिर बना रहे इसके लिए प्राणायाम की प्रशंसा की है। प्राणायाम

श्वास को अन्दर लेकर उसे अन्दर बनाये रहना और फिर धीरे-धीरे नाक से छोड़ना इसका नाम है प्राणायाम। जिनका जितना अभ्यास होवे उतनी देर तक करते हैं। अनेक लोग घंटों तक प्राणायाम कर लेते हैं। सो प्राणायाम ध्यान की सिद्धि में साधन तो है, पर प्राणायाम कोई मुख्य साधन नहीं है। मुख्य साधन तो ज्ञान है। तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो तो उस आत्मा को ध्यानसाधना में, मन की स्थिरता में प्राणायाम साधक बनता है, पर मुख्यता है ज्ञान की, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र की।

श्लोक-1334

मुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते।

मुनिभिर्ध्यानसिद्धयर्थं स्थैयार्थं चान्तरात्मनः॥1334॥

इस कारण बुद्धिमानी से इस प्राणायाम को सीधा कुछ समझ लेना चाहिए, अन्यथा चित्त का वश करना थोड़ा भी शक्य नहीं है। एक तो जिसके तत्त्वज्ञान है वैराग्य जगा है, बाह्य विषयों में प्रीति नहीं है अपने अंतस्तत्त्व की ओर ही झुकाव रहता है उनके प्राणायाम भी स्वयमेव बनता है। जैसे हम आप किसी एक ध्यान में लग जायें चाहे, वह दूकान का ध्यान हो या अन्य किसी व्यापार का हो, सांसारिक हो तो ध्यान में लगने से यह श्वास का आना-जाना जल्दी नहीं होता अर्थात् रुककर श्वास होता है। तो जो आत्मा के ध्यान में लग रहा हो, आत्मस्वरूप का यथार्थ ज्ञान चल रहा हो उसके प्राणायाम सुगम बन जाता है। जो अज्ञानी जन हैं वे तो विधि से प्राणायाम की सिद्धि करते है। श्वास को रोकना, फिर भरना ये सब अभ्यास करते हैं लेकिन ज्ञानी पुरुषों के जब कि एक आत्मस्वरूप की धुन बन जाती है तो प्राणायाम स्वयमेव बनता है तो प्राणायाम की भी साधना कुछ-कुछ होना चाहिए उससे चित्त स्थिर रहता है। पहिले तो रमणीक स्थान हो, फिर आसन पर विजय हो। किसी एक विशुद्ध आसन से बैठ सकें, फिर प्राणायाम की साधना हो तो इससे ध्यानसाधना में बहुत बल मिलता है। अब प्राणायाम किन विधियों से किया जाता है? उसका प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक-1335

अतः साक्षात्स विज्ञेयः पूर्वमेव मनीषिभिः।

मनागप्यन्यथा शक्यो न कर्तुं चित्तनिर्जयः॥1335॥

पूर्वाचार्यों ने प्राणायाम को तीन भागों में बांटा है— एक पूरक, दूसरा कुम्भक और तीसरा रेचक। पूरक का अर्थ है हवा से पूरना अर्थात् श्वास में हवा को खींचना, कुम्भक का अर्थ है— कुम्भ मायने घड़ा। जैसे घड़े में जल भरा जाता है इसी तरह पेट के नाभि स्थान में हवा को रोकना—इसका नाम है कुम्भक। और फिर धीरे-धीरे नासिका से हवा छोड़ना इसका नाम है रेचक। इन तीन प्रकार की क्रियाओं का क्रम से वर्णन कर रहे हैं।

श्लोक-1336

त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः।

पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम्॥1336॥

ऐसे श्वास से जो 12 अंगुल दूर से हवा खींच सके इस रफ्तार से श्वास को लेना अथवा ऐसी शान्त मुद्रा में श्वास का ग्रहण करना कि जिससे यह प्रतीति हो कि नासिका से श्वास ली जा रही है और सिर के बीच में जो तालू स्थान है उससे भी कुछ-कुछ ध्वनि आती रहती है। यों द्वादश अंगुल बाहर से, इसका नाम पूरक है। श्वास में पूर्वा की भी कुछ विधियाँ हैं। प्राणायाम की बात में जैसे बाईं नाक से श्वास को खींचना और फिर भीतर हवा का भरना, फिर दाहिनी नासिका छिद्र से हवा का निकालना, फिर दाहिनी नासिका से हवा का खींचना भरना, फिर बायें से निकालना। फिर दोनों से खींचना भरना और दोनों से निकालना। इसके अलावा और ऐसी स्वरित क्रियाएँ होती हैं। तो इससे प्रथम तो हृदय की शुद्धि होती है, शारीरिक शुद्धि होती है और शारीरिक शुद्धि के साथ सम्बंध है आत्मशुद्धि का। यदि कुछ तत्त्वज्ञान है, वैराग्य है, जैसे स्नान करने का गृहस्थ जनों को क्यों विधान है कि स्नान करने से शरीर में कुछ हल्कापन हो जाता है शरीर में हल्कापन होने की स्थिति में विशुद्ध ध्यान का अवसर होता है। जैसे किसी समय बालगंगाधर तिलक ने अपने भाषण में यह कहा था कि जो लोग मानते हैं कि गंगास्नान करने से मुक्ति होती है उसका मर्म क्या है? लोग तो उन शब्दों के पीछे पड़ गए, पर उसका मर्म यह है कि वह गंगाजल अनेक औषधियों के बीच से आता है, ठंडा होता है। वह जल मलशोधक है, उसके स्नान करने से शरीर में हल्कापन होता है, मन भी प्रसन्न रहता है और ऐसे समय में आत्मा का ध्यान बन जाता है, अतएव ध्यान में साधक वह गंगास्नान है। यह मर्म न जानकर लोग शब्दों को ही पकड़कर रह गए। तो जैसे गृहस्थजनों को स्नान करना एक मनशुद्धि का कारण बताया है ऐसे ही यह प्राणायाम की विधि भी मन की शुद्धि का कारण है। तो यहाँ

पूरक प्राणायाम का विधान कहा गया है कि ऐसी मँद चाल से श्वास लेवें जिसमें द्वादशाङ्ग से हवा खींच सके। उसका नाम है पूरक।

श्लोक-1337

द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते।

स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदैः॥1337॥

फिर नाभिरूप कमल में श्वास को स्थिर करके रोकना अर्थात् घड़े की तरह जल से उसे निर्भर बनाना, पूरित बनाना यह कुम्भक प्राणायाम कहलाता है। कुम्भक में दो बातों का समावेश है। प्रथम तो हवा का शरीर में रोकना, दूसरे नाभि के स्थान पर ही रोकना, उस स्थान से अन्यत्र न चलने देना, ऐसी विधि को कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। इस क्रिया में उपयोग कुछ विलक्षण बन जाता है और बाहरी साधनों में विषयों में चित्त नहीं फँसता है। यह है कुम्भक नामक प्राणायाम। अब रेचक प्राणायाम का वर्णन करते हैं।

श्लोक-1338

निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपङ्कजे।

कुम्भवन्निर्भरः सोऽयं कुम्भकः परिकीर्तितः॥1338॥

अपने कोष्ठ से पवन को अति यत्न से मंदरूप बाहर निकाले उसका नाम है रेचक प्राणायाम। यों प्रायः करके लोग जल्दी ही तो श्वास ले लेते हैं और जल्दी ही उसे निकाल लेते हैं, पर प्राणायाम में श्वास भी बहुत धीरे-धीरे लेते जाते हैं। श्वास लेते रहने में समय अधिक लगे और फिर उस पवन को नाभिस्थान पर रोकना और छोड़ देना, धीरे-धीरे छोड़ना, ताकि छोड़ने में समय अधिक लगे, यह है प्राणायाम का विधान, पर लोग जल्दी ही श्वास लेते और जल्दी ही उसे छोड़ देते हैं। उसमें उपयोग की विशेषता नहीं हो पाती। तो उस कुम्भक में भरे हुए पवन को बड़े यत्न से धीरे-धीरे अपने उदर कोष्ठ को बाहर निकालना इसका नाम रेचक बताया है।

श्लोक-1339

निःसार्यतेऽतियत्नेन यत्कोष्ठाच्छ्वसनं शनैः।

स रेचक इति प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे॥1339॥

अभी कुम्भक में जो वायु को नाभिस्थान पर रोक रखा था उस वायु को नाभि के स्थान से निकाले और हृदयकाल के मध्य भाग से उसे निकाले, फिर तालू के स्थान पर उसे कुछ विश्राम दे और उस तालू भाग से श्वास निकाले ऐसी स्थिति बने तो प्राणायाम की सिद्धि अथवा समाधि की सिद्धि समझियेगा। तालू के स्थान को देखा होगा बीच के सिर पर। जहाँ सिर के ऊपर बीच में बहुत कोमल स्थान है, अँगुली से दबावों तो कुछ दब भी जाता है, और वह स्थान ऊँचा-नीचा बराबर उठता रहता है। वहाँ से पवन का गमनागमन होता है। जब यह योगी अपने नाभि में रोकी हुई हवा को हृदय के मार्ग से लेकर तालू के स्थान तक तो विश्राम कराता है और फिर जब उस ही स्थान से धीरे-धीरे वह पवन निकलने लगती है तो वह प्राणायाम की स्थिति समझियेगा। विदित नहीं हो पाता कि जैसे नाक से श्वास निकलती है ऐसे ही सिर के ऊपर मध्यभाग से भी श्वास निकली ऐसा विदित नहीं होता, लेकिन तालू स्थान पर ऐसा प्रभाव होता है कि वहाँ से श्वास कुछ-कुछ आती है। ऐसा जब होने लगता है तब उस योगी को विलक्षण अनुभव होता है, अनहाध्वनि विदित होती है। जो कुछ न समझा हो, न जाना हो ऐसी बातें भी ज्ञान में आने लगती हैं। उस समय योगी के प्राणायाम की सिद्धि समझना चाहिए।

श्लोक-1340

नाभिस्कन्धाद्विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम्।

द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेयं परमेश्वरम्॥1340॥

अब प्राणायाम की साधना में कुछ लौकिक चमत्कार भी होते हैं। उस पवन में चलने की गति को जानकर और उसके रोकने को समझकर उस वायु के प्रकारों से आयु समय भवितव्य शुभ अशुभ ये सब जान लिए जाते हैं, इसका वर्णन इसी ग्रन्थ में आगे आयगा। प्रथम तो प्राणायाम के विधान में एक प्राकृतिक मर्म यह है कि यह जीव जब श्वास लेता है तो स्व की आवाज आती है और जब श्वास छोड़ता है तो हं की

आवाज आती है। इस बात को आप इस समय भी प्रयोग करके देख लीजिए। श्वास का खींचना और बाहर निकालना यह है सोहं की प्रक्रिया। अब सोहं का अर्थ क्या है? सोहं का अर्थ है जो वह है सो मैं हूँ। वह कौन? परमात्मा, प्रभु, जो प्रभु है, सो मैं हूँ। जब श्वास ले रहे हों उस काल में स्व की आवाज आती है। जितनी देर श्वास लेते हैं उतनी देर प्रभु का ध्यान रहता। वह प्रभु किस स्वरूप वाला है? निष्कलंक है, ज्ञानानन्द का पिण्ड है, वे सब बातें विचार में लायें और जब श्वास बाहर निकलती है तो उस समय हं का शब्द निकलता है। तो उस समय हम अपने स्वरूप का ध्यान करने लगें, तो श्वास की प्रक्रिया में अपने ज्ञान की प्रक्रिया मिला दें तो इस मेल से इस आत्मा में विकास उत्पन्न होता है। अशान्ति संकट सब समाप्त हो जाते हैं। तो पवन की जो गति है उस गति की परख से शुभ अशुभ जान लिया जाता है और इसमें एक सीधी यह भी बात है कि ध्यान के समय शुभ अशुभ जानने के समय किसी का भविष्य साधारण तथा उत्तम मध्यम जघन्य होता है, इस प्रकार निर्णय करने के समय जो एक सर्वप्रथम कुछ बिन्दुसा दिखता है, आँखें बन्द करने के बाद जब आँखें खोलने की तैयारी करते हैं उस समय कुछ बिन्दु, कुछ रूप नजर आता है। वह रूप यदि पीला, नीला आदि नजर आया तो इन रंगों की नजर से शुभ और अशुभ का विभाग किया गया है। और भी किसी प्रकार से हम इन पवनों के द्वारा शुभ अशुभ का निर्णय करें वह बात भी संक्षेप से इस ग्रन्थ में आयगी। तो प्राणायाम से एक मुख्य प्रयोजन तो यह निकलता है कि आत्मा का ध्यान बन जाय, एक आत्मस्वरूप में ही चित्त लग जाय, एक तो यह लाभ है ही, मगर लौकिक लाभ भी है। प्राणायाम की साधना वाले अपने उन पवनों की परख से शुभ अथवा अशुभ को जान लिया करते हैं। कैसा काल होगा, कैसी आयु है, क्या शुभ फल है, क्या अशुभ फल है— ये सब बातें बता दी जाती हैं। कोई रोगी आकर प्रश्न करे तो उसका भविष्य भी इस प्राणायाम वाले को कुछ-कुछ अनुमान में आते रहते हैं। यों प्राणायाम से लौकिक चमत्कारों की भी सिद्धि होती है और वह चमत्कार है ज्ञान कर लेना, शुभ अशुभ जान लेना।

श्लोक-1342

अत्राभ्यासं प्रयत्नेन प्रास्ततन्द्रः प्रतिक्षणम्।

कुर्वन् योगी विजानाति यन्त्रनाथस्य चेष्टितम्॥1342॥

इस पवन का अभ्यास बड़े यत्न से निष्प्रमाद होकर जो निरन्तर करते हैं वे योगी जीव की समस्त चेष्टाओं को जान लेते हैं। देखिये जीव में ज्ञान स्वभाव है और स्वभाव अपने हृद में तो रहता है पर वह

अपेक्षित नहीं होता। स्वभाव किसी दूसरे की अपेक्षा करके सदा बनाये, ऐसा नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ में स्वभाव स्वरसतः होता है अथवा पदार्थ ही स्वभावमय है। स्वभाव कुछ पदार्थ से जुदी चीज नहीं है। यों ऐसे यत्न से मन रुकता है, उपयोग स्थिर होता है जिससे स्वयं ज्ञान का विकास होने लगता है। पवन के प्राणायाम बड़े यत्न से निष्प्रमाद होकर जो निरन्तर करते हैं वे योगी जीव की समस्त चेष्टाओं तो जानने लगते हैं। मनःपर्ययज्ञानी पुरुष तो प्रत्यक्ष दूसरे के मन की बात जान लेते हैं। वह है एक स्पष्ट प्रत्यक्षज्ञान। लेकिन यह प्राणायाम का साधक पुरुष भी हवा की साधना से जो शरीर में उसे विशुद्धि जगती है उसके प्रताप से वह यंत्रनाथ के मन की बात को जान लेता है। यंत्रनाथ का अर्थ है यह जीव। यंत्र मायने शरीर। ये देहधारी प्राणी इस शरीर यंत्र को लादे हुए जा रहे हैं, इस शरीर यंत्र के ये नाथ हैं और उन यंत्रनाथ के मन की बात को ये प्राणायाम के सिद्ध करने वाले पुरुष सुगमतया पहिचान लेते हैं। यों तो बहुत से अनुभवी पुरुष ऐसे हैं कि दूसरे मनुष्य का चेहरा निरखकर, उसकी चालगति देखकर उसके जीवन का वृत्तान्त बता देते हैं। देखो अब यह हुआ और अब यह होगा। तो एक प्राणायाम में जो आत्मसाधना की है, शरीर की चेष्टा त्यागकर केवल एक चिदानन्द धन आत्मतत्त्व में ही जो रमते हैं उन पुरुषों के ज्ञान का एक अतुल विकास होता है। यह भी लाभ लेते हैं। इसको क्या है, किस चिन्ता में है। यह आराम करना चाहता है अथवा नहीं, इस प्रसंग में इसका चित्त जमता है अथवा नहीं— ये सब बातें एक प्राणायाम के साधन से जान ली जाती हैं और फिर ध्यानसाधना से तो प्राणायाम की आवश्यकता है, चाहे वह सम्यक् हो जाय, चाहे उसके विधि मिलान से कुछ कार्य प्रयोग से सिद्धि हो जाय, पर प्राणायाम की साधना शरीर को भी लाभदायक है और आत्मा को भी लाभदायक है। अतएव इस ध्यान के प्रकरण में प्राणायाम का वर्णन करने वाला परिच्छेद चल रहा है। प्राणायाम का सही अर्थ तो प्राणों का आयाम करना है। प्राण है हवा, पवन—जैसे लोग कहते हैं कि खाने के बिना चल जाय, पानी के बिना भी चल जाय पर हवा के बिना नहीं चलता। जैसे दो दिन बिना खाने के चल जाय, एक दिन बिना पानी के चल जाय, पर हवा बिना तो एक दो घंटा भी नहीं चल पाते। अब उन सबका जो एक विशुद्ध प्रयोग है हवा का वह है प्राणायाम और प्राणायाम से आत्मा के उपयोग में बहुत सहयोग होता है। तो अभ्यास करने से प्रयत्न करने से इसका आलस्य दूर होता है और प्रतिक्षण यह जीव की अंतरङ्ग भावना को परख लेता है। प्राणायाम का स्वयं पर भी तत्काल प्रभाव होता है और अनेक जानकारियाँ भी प्राणायाम की साधना करने वाले को हो जाती हैं। तो इस प्रकार योगियों को आचार्यदेव कह रहे हैं कि प्राणायाम की साधना भी बनाये रहो, उससे ध्यान की सिद्धि होगी।

श्लोक-1343

समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः।

नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः॥1343॥

चित्त को स्थिर बनाने के लिए एक साधन है प्राणायाम का। प्राणायाम में श्वास को धीरे-धीरे खींचना और फिर पेट में हवा को रोकना, फिर उस वायु को धीरे-धीरे नाक से निकालना, इस क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। इस श्लोक में पूरक और कुम्भक का वर्णन है। जो श्वास लेता है उसे तो कहते हैं पूरक याने हवा को पूरे और बीच में हवा को नाभि की जगह रोकना इसका नाम है कुम्भक। और हवा को छोड़ना इसका नाम है रेचक। इससे शरीर को भी लाभ है। और प्राणायाम की विधि से जानते हैं कि रोग का इलाज प्राणायाम से कर लेते हैं और प्राणायाम से सारे देह में सिद्धि हो जाती है और चित्त भी एक ओर लग जाता है। तो पहिले पूरक का तो वर्णन किया था, अब यह कह रहे हैं कि जिस समय यह योगी हवा को खींचकर प्राणों को धारण करता है तो शरीर में पूर्णतया उसे थाम ले इसका नाम पूरक है और नाभि के मध्य में स्थिर करके रोक लेना इसका नाम कुम्भक है। प्राणायाम में हवा यदि शान्त मुद्रा से बैठी हुई होगी तो 12 अंगुल दूर से हवा खिंचती है। जैसे कभी अनुभव किया हो— जोर से यदि श्वास लेते हैं तो कुछ दूर तक की चीज नाक में भिड़ जायगी, कोई कागज के टुकड़े पड़े हों तो श्वास भीतर लेने से वे अपनी ओर खींच जाते हैं तो उसे मानते हैं कि इतनी दूर से हवा खींची और उससे भी दूर से हवा खिंचती है, पर वहाँ असर नहीं होता। तो जो शान्त मुद्रा से प्राणायाम किया जाता है वहाँ अधिक से अधिक 12 अंगुल दूर से हवा खिंचती है और साथ ही जो मस्तक में अधर तालू है, जो बच्चों का कँपता रहता है, तालू में तालू से भी हवा अन्दर से अपने आप स्वमेव खींचती है उस हवा को नाभि की जगह रोक लेना इसका नाम है कुम्भक। खूब पद्मासन लगाकर अपने पीठ पेट को बिल्कुल सीधा रखकर धीरे-धीरे हवा को अन्दर ले जाय और धीरे-धीरे हवा को फैंके तो उसकी क्रिया में अनेक रोग दूर हो जाते हैं, चित्त स्थिर होता है और ध्यान के लिए इससे बहुत सहयोग मिलता है।

श्लोक-1344

यत्कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुरातनैः।

बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः॥1344॥

फिर उस वायु को उस कोष्ठ से, उस नाभि के स्थान से बड़े प्रयत्न से बाहर फेंके उस रेचक नामक प्राणायाम का अंग कहते हैं। और नासा ब्रह्म में विशारद है वह इस तरह इसमें प्राणायाम के अंग का वर्णन करते हैं।

श्लोक-1345

शनैःशनैःर्मनोऽजस्रं वितन्द्रः सह वायुना।

प्रवेश्य हृदयाम्भोजकणिकायां नियन्त्रयेत्॥1345॥

इस पवन का अभ्यास करने वाले योगी प्रमादरहित होकर बड़े ही प्रयत्न से अपने मन को वायु के साथ-साथ मंद-मंद निरन्तर हृदय कमल की कर्णिका में प्रवेश कराकर वहाँ ही नियंत्रण करें। जैसे हवा को खिंचा और साथ ही साथ ऐसा स्वभाव रहे कि जो हवा भीतर गयी और इसमें रुक गयी, ऐसा मन हो जाय हवा के साथ-साथ तो जैसे हवा एक जगह रुकती है उसी तरह मन रुक जाता है। प्रयोग करके भी कभी देखना। यद्यपि हवा आँखों नहीं दिखती, पर सोचने से उसका अनुमान हो जाता है, और ऐसा लगता है कि हम इस हवा को देख रहे हैं, हवा लेवें तो उसे देखते रहें यह खिंची है उस हवा को देखते रहें। देखने जैसा मन बना लें तो उस पद्धति से यह मन बाहर में रुक जाता है और अपने आपमें नियंत्रित हो जाता है। यह ध्यान के साधना की बात बताई जा रही है। जैसे यह एक काम सा हो गया, एक काम पड़ा है यह करने का कि हम प्रत्येक श्वास को जब लें तो तब भी उसे देखें और मालूम करें कि यह ली श्वास। जब हवा को रोके तो भीतर में मालूम करते रहें कि यहाँ श्वास रोक ली। जब श्वास छोड़ें तो भी देखते रहें, मन द्वारा सोचते रहें कि यह श्वास गयी। इससे होता क्या है कि और अधिक मन न रुके तो कम से कम श्वास में मन आयगा, उस स्थिति में बाहरी विकल्प दूर हो जाते हैं। यह एक बाहरी क्रिया है। फिर और अधिक यत्न करें तो ऐसा कर लें कि मन को ऐसा एक जगह रोक लें कि किसी भी मोह ममता में यह मन न लगे। तो इस तरह वायु के साथ अपने मन को उस हृदय कमल की कर्णिका में नियंत्रित करें और जिस हृदय में कमल के आकार की रचना है। 8 पंखुड़ियों में कमल है तो वहाँ यह ध्यान करें कि अब हवा को इस कली में रोका, अब दूसरी कली पर ले गए। केवल एक मन का विचार बनाया जाता है और यह भी एक प्रभाव है कि हम

फिर जैसा मन से सोचें हवा भी वहाँ-वहाँ चलती जाती है। इतना तक प्रभाव हो जायगा तो हृदय की कर्णिकाओं में उस हवा को रोकें और उसके साथ-साथ मन में रोकें।

श्लोक-1346

विकल्प न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्तते।

अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते॥1346॥

फिर उस हृदय कमल की कणिका में उस हवा के साथ चित्त को स्थिर करने पर मन में विकल्प नहीं उठते और कषायों की आशा भी दूर हो जाती है तथा अन्तरङ्ग में विशेष ज्ञान का प्रकाश होता है। पवन की साधना का फल क्या है? मन का वश करना। उस हवा में, श्वास में, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र बसा हुआ है। वह तो आत्मा में ही है, पर उस प्राणायाम की विधि से एक मन की रुकावट होती है, मन नियंत्रित होता है और जब मन नियंत्रित होता है तब वहाँ ध्यान की सिद्धि होती है। इस प्राणायाम से एक ही ओर तो विकल्प रहा, बाहर में अनेक जगह के ख्याल विकल्प ये नहीं रहते। तो ऐसे जब हम मन को नियंत्रित कर लते हैं तो उसे हम अपने तत्त्वज्ञान में लगायें तो लगा भी सकते हैं। अतएव प्राणायाम करना एक ध्यान साधक को प्रारम्भ में कुछ आवश्यक सा भी है।

श्लोक-1347

एवं भावयतः स्वान्ते यात्यविद्या क्षयं क्षणात्।

विमदीस्युस्तथाक्षाणि कषायरिपुभिः समम्॥1347॥

इस प्रकार मन को वश में करके भावना करने वाले पुरुष के अविद्या तो क्षण मात्र में नष्ट हो जाती है और इन्द्रियाँ मंदरहित भी हो जाती हैं। उनके साथ ही साथ कषायें भी क्षीण हो जाती हैं। पवन रोकने से तो मन वश होता है। यह तो खुद अनुभव करके देखा जा सकता है। श्वास को रोक लीजिए तो मन बाहर में न दौड़ेगा, मन वश हो जायगा और मन के वश हो जाने से फिर भीतर में उपयोग लग जायगा। तो ज्ञान का प्रकाश स्वयमेव होगा, स्वयं ही ज्ञान आयगा। कुछ बाहर में पुस्तकें पढ़ना या ऐसा यत्न करना

इसकी जरूरत न रहेगी। तो मन के वश होने से अज्ञान दूर होता है, ज्ञान का प्रकाश होता है, आत्मा खुद ज्ञानमय है। तो यह बाहरी पदार्थों में नहीं लगा मन। यह उपयोग बाहर में न फँसे तो ज्ञान विकास स्वयमेव हो जाता है। और जब अविद्या दूर हुई, ज्ञान का विकास हुआ तो कषायें भी क्षीण हो जाती हैं। क्रोधभाव कब उत्पन्न होता है जब अपने आपकी सच्ची सुध नहीं रहती है। मैं क्या हूँ? इसका पता न हो, शरीर में ही आत्मीयता की बुद्धि हो तब अपने आपकी सच्ची सुध न हो। क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक कषायें भी इस पर्यायबुद्धि के कारण आती हैं। इस शरीर को यों ही आपा मान लिया तो अब उसे इसकी इज्जत बढ़ाने की पड़ती है। इज्जत बढ़ाने का भाव आयगा तो घमंड होगा, फिर मानकषाय जगता है। जग जाय, खैर मानकषाय उससे कोई नुकसान न था। यदि जैसा चाहता है वैसा हो जाना इसके वश का होता। चाहता है यह इज्जत लेकिन और लोग भी तो कुछ दम रखने वाले हैं, उससे हीन दीन नहीं बनना चाहते। कोई इज्जत न करेगा तो मानकषाय करने वाला दुःखी होता है।

मायाचार कब प्रकट होता है? किसी पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा रखना और उसके मिलने में अड़चन है तो हम लोगों से मायाचार करते हैं। मायाचार का भी साधन ममता है और लोभ का भी कारण स्पष्ट मानो कि ममता है। यों कषाय जगती है उसके जिसके तत्त्वज्ञान नहीं है। तो कषाय दूर करने के लिए तत्त्वज्ञान चाहिए और इन ज्ञानप्रकाश के अनुभव का साधन मन की एकाग्रता है और मन की एकाग्रता का साधन प्राणायाम है। इस कारण कुछ न कुछ प्राणायाम का अभ्यास करें और स्वयमेव हो अभ्यास, कुछ यत्न भी न करें, जैसे सामायिक करते, ध्यान करते तो उस समय शान्त बैठ जायें तो श्वास धीरे-धीरे चलेगी। कोई क्रोध करता हो तो उसका श्वास जल्दी-जल्दी निकलेगा। जब श्वास जल्दी चलता है तो ध्यान टिक नहीं पाता। जैसे जिसके श्वास रोग हो तो जब वह ध्यान में बैठेगा तो ध्यान क्या कर पायगा? ऐसी ही यहाँ भी बात है कि हम यदि पवन को वश नहीं कर पाते तो मन हमारा वश नहीं होता, फिर ज्ञानप्रकाश नहीं होता, फिर कषायें दूर नहीं होती। तो कषायें दूर करने के लिए चाहिए ज्ञान। ज्ञान के लिए चाहिए मनन। उसके लिए चाहिए चित्त की एकाग्रता। और चित्त की एकाग्रता का साधन है प्राणायाम। धीरे से हवा को खींचना और अपने नाभिकमल पर उसे स्थिर करना और बाद में धीरे-धीरे छोड़ना, यही है साधन एक ध्यान में।

श्लोक-1348

कुत्र श्वसनविश्रामः का नाड्यः संक्रमः कथम्।

का मण्डलगतिः केयं प्रवृत्तिरिति बुद्ध्यते॥1348॥

अब इस पवन के साधन से ऐसा ज्ञात होता है कि इस श्वासरूपी पवन का कहाँ तो विश्राम है और नाड़ियाँ कितनी और कौन-कौन हैं? उन नाड़ियों का पलटना इस प्रकार होता है जैसे मण्डल गति कहाँ है, इसकी प्रगति कहाँ है, ये सब बातें प्राणायाम के साधनों से विदित होती हैं। जैसे आँखें मीचकर अथवा अंधेरे में हाथ से टटोलकर चीजों का परिज्ञान करते हैं, यह चौकी है, यह दरी है यों निरखते हैं इसी तरह जिसकी साधना अच्छी बन जाती है वह हवा से शरीर के अन्दर नाड़ियों को छू-छूकर जान लेता है। यह हमारी पशुली है, नाड़ी है, यों प्राणायाम की साधना करने वाले लोग जान जाते हैं। वे समझते हैं कि इस श्वासरूपी पवन का कहाँ विश्राम है, कहाँ रह जाती है वायु? किस जगह उसके रहने का स्थान है? देह में कितनी नाड़ियाँ हैं और उनकी पलटन किस प्रकार होती है? एक आसन है कि हवा भरकर बैठ जाय, नाड़ियों को नसों को चलाता फिरे, इस प्रकार का जो आसन करता है उसका साधन प्राणायाम है, हवा है। तो शरीर में बसने वाली हवाओं में तो इतनी शक्ति है कि अपने ही शरीर के अन्दर की नसाजालों को कहीं से कहीं पहुँचा दे, घुमा दे, इतना तक पवन का काम है। श्वास का काम, हवा का काम ऐसे रोगों को पैदा कर देता है जिसे उदर शूल बोलते। पेट में एक ऐसा दर्द हो जाता कि उसे रोगी सम्हाल न सके तो वह रोग उत्पन्न होता है वायु की रुकावट से, वायु के अनुचित जगह में पहुँच जाने से। जब वायु बिगड़ती है तो अनेक रोग उत्पन्न होते हैं और जब वायु शुद्ध रहती है उसका सही संचार किया जाता है तो उससे अनेक चमत्कार सिद्ध हो जाते हैं। तो ये भी सब ज्ञान हो जाते हैं प्राणायाम से कि नाड़ियाँ कितनी हैं और उन नाड़ियों को कैसे पलट लिया जाता है तथा इसकी मंगलगति कौनसी है? एक रुक करके रूप में रहकर गोल-गोल चलकर इस वायु की गति कहाँ-कहाँ होती है? ये फोड़ा फुंसी जो विशेष हो जाते हैं उसका कारण भी वायु का किसी जगह रुक जाना है। शरीर में हवा भीतर-भीतर चलती रहती है, और वह चलती हुई हवा बाहर में एक छोटे से स्थान पर रुक जाय तो वहाँ फोड़ा-फुंसी आदिक हो जाते हैं। तो जब हवा में रोग उत्पन्न करने की सामर्थ्य है तो उस ही हवा में बड़ी-बड़ी समृद्धियाँ भी उत्पन्न करने की सामर्थ्य है।

श्लोक-1349

स्थिरी भवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम्।
जगद्वृतं च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते॥1349॥

प्राणायाम का आलम्बन लेने वाले मुनियों का चित्त स्थिर हो जाता है। चित्त के स्थिर होने से ज्ञान विकास प्रकट होता है, फिर उसके द्वारा ज्ञान के प्रकट वृत्तान्त प्रत्यक्ष के समान जान लिए जाते हैं। यह जीव अनादिकाल से विषयकषायों के विकल्पों में उलझता हुआ चला आ रहा है। ऐसा पुरुष यदि कुछ साधन मिल जाय और इस ही आत्मतत्त्व में स्थिर होने का भीतर में यत्न बन जाय तो उसके ज्ञान में भूत भविष्य वर्तमान की अनेक बातें पर्यायें प्रकट हो जाती हैं। तो प्राणायाम का आलम्बन करने से इतना तक हो जाता कि पीठ पीछे का, पहिले समय का, अगले समय का जो कुछ होनहार है वह बहुत कुछ जान लिया जाता है।

श्लोक-1350

यः प्राणायाममध्यास्ते स मंडलचतुष्टयम्।
निश्चिनोतु यतः साध्वी ध्यानसिद्धिः प्रजायते॥1350॥

जो योगीश्वर प्राणायाम को स्वाधीन कर लेते हैं अर्थात् इतनी साधना करते हैं ऐसे मुनि मंत्र तंत्र के चतुष्टय का निश्चय करें जिससे समीचीन ध्यान की सिद्धि होती है। ध्यान में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के तत्त्व उत्पन्न होते हैं। जिससे जान लिया जाता है कि हमारा पृथ्वीमण्डल का श्वास चल रहा था जल मण्डल का या अग्निमण्डल का या वायुमण्डल का। और जब यह जान लिया जाता तो उससे भविष्य का निर्णय कर लेता है। वैसे पृथ्वी का रंग पीला माना है, जल का रंग सफेद माना है, अग्नि का रंग लाल और वायु का रंग नीला काला आदि माना है। तो इस श्वास लेने वाले को आँखों के बंद करने की हालत में कुछ बिन्दु दिखता है, वह बिन्दु किस रंग में दिखा करता है उस रंग से फिर शुभ अशुभ भविष्य का निर्णय कर लिया जाता है कि कैसा भविष्य है भला अथवा बुरा। तो प्राणायाम के साधनों में इन चार प्रकार के पवनों का अभ्यास होता है, ठहरना होता है। इसका वर्णन बहुत कुछ आगे किया गया और अपने शरीर की स्थिति से कि मेरी हवा

किस तरह चल रही है, उससे शुभ अशुभ का निर्णय कर सकते हैं। एक सामान्य रूप से कोई चलते-फिरते काम की बाबत पूछे और अपना स्वर चल रहा हो दाहिना तो कह देना चाहिए कि सफलता मिलेगी और किस स्थिर कार्य के लिए कोई पूछता है और चले बायाँ स्वर तो वह भी कार्य सिद्ध होने वाला माना जाता है। यह सब वायु शास्त्र के जानने वाले लोग समझते हैं। भोजन परोसने वाले का स्वर दाहिना चलता हो तब भोजन परोसना इस पवनशास्त्र में अच्छा माना है और न चलता हो दाहिना स्वर, बायाँ चलता हो तो अच्छा नहीं माना जाता है। बायें हाथ से भोजन परोसना अशुभ माना है, इसी से दाहिने हाथ से भोजन परोसने का रिवाज है। तो पवनशास्त्र के जानने वाले ये सब शुभ अशुभ समझते हैं। ऐसे ही अनेक प्रकार की बातों का निर्णय केवल एक इस श्वास पर जान लिए जाते हैं। पूछने वाले का स्वर जिस तरफ का चलता हो जिससे पूछा जा रहा है उसका भी स्वर उसी तरह चलता हो और उस ही ओर से आकर पूछे तो सगुणशास्त्र समझने वाले लोग कह देते हैं कि तुम्हारा काम सिद्ध है, ऐसे ही बहुत सी बातों के शुभ अशुभ का निर्णय कर लिया जाता है। तो प्राणायाम से लौकिक ज्ञान भी बढ़ता है और परमार्थ पथ में लगने के लिए विशुद्ध ज्ञान का प्रकाश होता है। यों यहाँ प्राणायाम का करना ध्यान की साधना में एक साधनभूत अंग बताया गया है। हम सामायिक के समय तो कम से कम ऐसा करें कि श्वास को धीरे-धीरे लें और फिर अन्दर रोककर उसे धीरे-धीरे बाहर निकालें। श्वास को धीरे-धीरे न लेना ध्यानसाधना में उतना बाधक नहीं है जितना बाधक श्वास को जल्दी छोड़ देना है। इस श्वास के रोकने से शरीर की शुद्धि बना ली जाती है, शरीर की शुद्धि से मन की एकाग्रता होती है। तो इस प्राणायाम की ओर यथाशक्ति अपनी दृष्टि और अपना यत्न रहना चाहिए।

श्लोक-1351

घोणाविवरमध्यास्य स्थितं पुरचतुष्टयम्।

पृथक् पवनसंवीतं लक्ष्यलक्षणभेदतः॥1351॥

प्राणायाम में चार प्रकार की पवनों का वर्णन है। नासिका के छिद्र का आशय करके जो चार प्रकार के मण्डलरूप वायु निकलती है सो लक्ष्य लक्षण के भेद से वे चार प्रकार से माने गए हैं। एक निमित्त ज्ञान का यह विषय है कि अपने श्वास की वायु की पहिचान से इष्ट और अनिष्ट का ज्ञान कर लिया जाता है। और वह वायु जो इष्ट अनिष्ट के ज्ञान से बनी है वह चार रूपों में बैठती है। पृथ्वीमण्डल, जलमण्डल, अग्निमण्डल और वायुमण्डल। उनका ही अब माहात्म्य और लक्षण आगे कहेंगे।

श्लोक-1352

अचिन्त्यमतिदुर्लक्ष्यं तन्मण्डलचतुष्टयम्।
स्वसंवेद्यं प्रजायेत महाभ्यासात्कथंचन॥1352॥

यह जो चार प्रकार का मण्डल है वह अचिन्त्य है, कठिनाई से लक्ष्य में आने वाला है। इस वायु को हर एक कोई पहिचानता है कि निकल रही है किन्तु वह किस स्वरूप से निकल रही है जिससे यह जान लिया जाय कि अमुक कार्य सिद्ध होगा, क्लेश न होगा, ऐसी बात समझना एक बहुत कठिन सा है, किन्तु अभ्यास उसका महान बन जाय तो वह स्वयं अपने आपके द्वारा समझ में आ जाता है। वह चार प्रकार का वायुमण्डल है, समस्त निमित्त ज्ञानों का एक आधार है, जिससे रोगी का रोग किस प्रकार का है, ठीक होगा अथवा न होगा और वह जीवन-मरण जन्य सभी प्रकार के प्रश्नों का समाधान इस मण्डल का सही अभ्यास करने वाला पुरुष दे दिया करता है।

श्लोक-1353

तत्रादौ पार्थिवं ज्ञेयं वारुणं तदनन्तरम्।
मरुत्पुरं ततः स्फीतं पर्यन्ते वह्निमण्डलम्॥1353॥

उन चार प्रकार के वायुमण्डलों में प्रथम तो है पृथ्वीमण्डल, द्वितीय है जलमण्डल, तृतीय है पवनमण्डल और चतुर्थ है अग्निमण्डल। इस प्रकार चार के नाम कहे— पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। ये सब श्वासों के ही नाम हैं। जो मुख नासिका से श्वास निकलती है तो वह किस ओर बहती है, कितनी दूर तक उसका प्रवाह है और वह वायु कुछ ऊपर की लैन रखकर बह रही है या सीधी लैन रखकर बह रही है, और कितनी तेजी से बह रही है? इन बातों को पहिचानकर मण्डल की पहिचान होती है, यह एक विज्ञान का प्रमाण है। अध्यात्म शास्त्र में तो इस मण्डल की सिद्धि तो होती है, पर उससे प्रयोजन कुछ नहीं है। प्राणायाम से तो अध्यात्म रुचि वाले मुमुक्षु पुरुष को केवल उसे चित्त स्थिर रखने का प्रयोजन है, जिससे विषयकषायों में अन्य बातों में यह चित्त न जाय। तो ये चार प्रकार के मण्डल क्रम से बताये गए हैं।

श्लोक-1354

क्षितिबीजसमाक्रान्तं द्रुतहेमसमप्रभम्।

स्याद्ब्रजलाञ्छनोपेतं चतुरस्रं धरापुरम्॥1354॥

अब इस मण्डल का क्रम से स्वरूप कहेंगे। सर्वप्रथम पृथ्वीमण्डल का स्वरूप कह रहे हैं, यह सिद्धि बीज से आक्रान्त है अर्थात् पृथ्वी के बीज अक्षर से सहित और गले हुए स्वर्ण के समान वीतरक्त हे जिनका और बज्र के चिन्ह से संयुक्त चौकोर पृथ्वीमण्डल है। यह जो पृथ्वीमण्डल है यह पृथ्वी बीज के अक्षरों से सहित है। पृथ्वी तत्त्व, पृथ्वी देवता आदिक रूप में जो कुछ माना गया है उसमें इसका जो बीच का अक्षर है, कम से कम एक ही अक्षर में जो पृथ्वी का परिचय कराये ऐसा जो बीजाक्षर है, क्षाम क्षीम आदिक उन बीजाक्षरों से जो सहित है और जिसकी...तपाये गए स्वर्ण की तरह है यह पृथ्वी का स्वरूप कहा जा रहा है। जो उत्तम पृथ्वी है वह पृथ्वी तप्तायमान स्वर्ण के समान रूप वाली है और पृथ्वी चूँकि खड़ी हुई है अतएव वह वज्र चिन्ह वाली मानी गयी है और उसका स्वरूप चौकोर है, इस स्वरूप की दृष्टि से इस नासिका से बहने वाली हवा में पहुँचा तो कुछ इस रूप से पहिचानने में आ गया कि जिसकी वायु बाँधकर न निकलती हो। नासिका से जो वायु निकलती है, श्वास निकलती है वह कभी फैली हुई सी निकलती है, कभी एक कोने से बँधी हुई सी निकलती है। तो जो वायु एक कोने से बँधी हुई न निकलकर एक-एक फैली हुई चतुरस्र निकला करे तो वह पृथ्वीमण्डल की वायु कहलाती है और उसकी वायु के साथ-साथ यदि आँखों को बन्द करके नासिका के अग्रिम स्थान पर कुछ निरखे तो पीत रूप का बिन्दु ज्ञात हुआ? ऐसा उस पृथ्वीमण्डल की वायु के निकलने के समय का सम्बन्ध है। जैसे अब भी आप आँखों को बन्द करके आँखों के संधिस्थान में निरखें तो वहाँ किसी न किसी रंग का बिन्दु ध्यान में आयगा। पृथ्वीमण्डल के समय एक पीताकार बिन्दु नजर आता है। यह पृथ्वीमण्डल है। आगे यह बतावेंगे कि पृथ्वीमण्डल की वायु के समय माना, क्या इष्ट समझें और क्या अनिष्ट समझें? यह एक सामान्यस्वरूप कहा जा रहा है। प्रमाण में कहीं-कहीं स्थलों में उसका विशेष स्वरूप कहा जायगा।

श्लोक-1355

अर्द्धचन्द्रसमाकारं वारुणाक्षरलक्षितम्।

स्फुरत्सुधाम्बुसंसिक्तं चन्द्राभं वारुणं पुरम्॥1355॥

अब यह वारुणमण्डल जलमण्डल का स्वरूप कहा जा रहा है कि आकार तो अर्द्धचन्द्र के समान है। जल की जो एक स्वरूप की मुद्रा बनाई जाती है वह अर्द्धचन्द्राकार बनायी जाती है और इसका यह मेल यों बैठाया गया है कि जल का मित्र चन्द्रमा है सूर्य नहीं। सूर्य तो जल का एक बैरी जैसा काम करता है। उसे सुखाये, तपाये, किन्तु चन्द्रकिरणों जल को बढ़ाती हैं अतएव जल की मुद्रा में अर्द्धचन्द्र की उपमा दी गई है। आकार जिसका अर्द्धचन्द्र हो और जिसमें स्फुरायमान अमृत हो, जल से सींचा हुआ चन्द्रमा शुक्ल वर्ण की तरह जिसकी आभा हो वह वरुणमण्डल है। अब इस वरुणमण्डल का विस्तार कैसे वायु निकली, कितने अंगुल प्रमाण प्रभाव हुआ और किस ढंग से हुआ? ये सब बातें आगे कही जायगी। यह तो वरुणमण्डल का एक सामान्यस्वरूप कहा गया है।

श्लोक-1356

सुवृत्तं बिंदुसंकीर्णं नीलाञ्जनघनप्रभम्।

चञ्चलं पवनोपेतं दुर्लक्ष्यं वायुमंडलम्॥1356॥

जो सुव्रत कहो गोलाकार है तथा बिन्दुओं सहित है, नीले घन के समान है वर्ण जिसका तथा बहता हुआ पवन, चूँकि वायु बहती है गोल रूप से, एकदम सीधी नहीं बहती। कुछ न कुछ उसका पशु आकार होता है अतएव उसे चंचल कहा गया है। गोलाकार बिन्दुओं सहित जिसका वर्ण नीले घन के समान है, नीला रंग वायु का बताया है, ऐसे पवन अक्षर सहित जो नासिका से निकलने वाली वायु है वह वायुमण्डल कहा जाता है।

श्लोक-1357

स्फुलिङ्गपिङ्गलं भीममूर्ध्वज्वालाशतार्चितम्।

त्रिकोणं स्वस्तिकोपेतं तद्वीजं वह्निमण्डलम्॥1357॥

अब अग्निमण्डल का स्वरूप कहते हैं अर्थात् अपनी ही नासिका से जो श्वास निकलती है, इस प्रकार की जो श्वास निकली उसे अग्निमण्डल कहते हैं। वह किस प्रकार का होता? जिसका वर्ण अग्नि के समान लाल हो, रौद्रगमन और अर्द्धगमनस्वरूप ज्वालों के त्रिकोण सहित अग्नि बीज का मण्डल अग्नि मण्डल समझियेगा। अग्नि का स्वरूप चूँकि रक्त है तो अग्निमण्डल जैसे वायु के निकलते समय वह पुरुष यदि अपनी आँखों को बन्द करके आँख और नाक के संधि स्थान पर दृष्टि भीतर से लगाकर सुनियेगा तो वहाँ जो रक्त वर्ण जिसका बिन्दु विदित होगा उससे भी पहिचान लिया जाता है कि इस समय यह पुरुष अग्निमण्डल की श्वास में चल रहा है, वह रौद्ररूप है अर्द्धगमनस्वरूप है। जिसमें से सैकड़ों ज्वालायें चल रही हों वह अग्नि बीज से मंडित है ऐसा यह अग्निमण्डल का स्वरूप कहा गया है।

श्लोक-1358

ततस्तेषु क्रमाद्वायुः संचरत्यविलम्बितम्।
स विज्ञेयो यथाकालं प्रणिधानपरैर्नरैः॥1358॥

यह चार प्रकार से श्वास की वायु निकलती है इसका स्वरूप बताया है। उसके अनन्तर यह बताया जायगा अथवा जान लीजिए संक्षेप में कि उन मण्डलों के क्रम से निरन्तर जो हवा चलती है उसे यथा समय उस ही काल में चिन्तन में तत्पर ऐसे पुरुषों को जानना चाहिए। निमित्तों में प्रधान निमित्त विज्ञान स्वरूप ज्ञान है। कैसा स्वर चल रहा हो जिसमें हम समझ जाते कि अब क्या इष्ट अनिष्ट होगा? इन सब बातों का आचार्य परमेष्ठी को बहुत विज्ञान होता है और वे निमित्त ज्ञान से अथवा आत्मज्ञान से, अवधिज्ञान से विदित कर लिया करते हैं कि इस देश में इस स्थान में हमको रहना उचित है अथवा नहीं है। कोई उपद्रव आयगा अथवा न आयगा, इन सबके ज्ञान के लिए यह स्वरविज्ञान बहुत सहायक है। कैसे सहायक है? वे सब बातें इसी ग्रन्थ में आगे कहेंगे।

श्लोक-1359

घोणविवरमापूर्य किञ्चिदुष्णं पुरन्दरं।

वहत्यष्टाङ्गुलः स्वस्थः पीतवर्णः शनैः शनैः॥1359॥

अब विशेषरूप से पृथ्वीमण्डल की वायु का स्वरूप कह रहे हैं। नासिका के छिद्र को भरपूर भरकर कुछ गर्म लेकिन 8 अंगुल दूर निकलवा ले वह पृथ्वीमण्डल की वायु कहलाती है। श्वास कभी गर्म मालूम होती है कभी गर्म नहीं मालूम होती है तो श्वास तेज गर्म तो न विदित हो, किन्तु साधारण रूप से कुछ गर्म विदित हो और जिसका बहाव 8 अंगुल का हो अर्थात् नासिका से 8 अंगुल दूर पर उल्टा-उल्टा रखकर उस श्वास को निरखा जाय कि वहाँ तक इसका प्रभाव है या नहीं अथवा इसके आगे प्रभाव नहीं है ऐसी 8 अंगुल तक बहने वाली वायु पृथ्वीमण्डल की वायु कहलाती है। यह स्वस्त है, चंचलता से रहित है, मंद-मंद बहने वाली है ऐसी यह पृथ्वीमण्डल की वायु है जिसका कि इन्द्र स्वामी है। एक स्वर विज्ञान में वायु के स्वरूप का अनुमान कराने में ऐसे-ऐसे विशेषण कुछ मदद करते हैं, अतएव इन विशेषणों से मण्डल का स्वरूप कहा जा रहा है। पहिचानने के लिए हम मोटे रूप में इस बात को समझें जो वायु कुछ साधारणरूप से गर्म हो और 8 अंगुल तक जिसका प्रभाव हो, धीरे-धीरे बहती हो, जिसमें चंचलता न नजर आये अर्थात् जल्दी बहना, श्वास लेना आदिक जिसमें न हो वह पृथ्वीमण्डल की वायु कहलाती है।

श्लोक-1360

त्वरितः शीतलोऽधस्तात्सितरुक द्वादशाङ्गुलः।

वरुणः पवनस्तज्ञैर्वहनेनावसीयते॥1360॥

अब जलमण्डल की वायु का विशेष स्वरूप कहा जा रहा है। जो शीघ्र बहने वाली वायु है और कुछ नीची बहती है, जब कभी देखा होगा कि नासिका छिद्र से कभी वायु ऊपर से बहती है, कभी नीचे से बहती है तो जो वायु कुछ नीलाई को लिए हुए बहती हो, शीतल से, शीघ्र बहने वाली हो, उज्ज्वल हो, शुक्ल वर्ण उस वायु को माना है और जिसके बहाव का प्रभाव 12 अंगुल तक पड़ता हो ऐसे पवन को पवन के जानने वालों ने “वरुण पवन” निश्चित किया है। इन चिन्हों से पहिचानना चाहिए कि यह जलमण्डल है। इसकी मुख्य पहिचान के लिए कुछ ये बातें बताई गई हैं कि जो जरा शीघ्र बहता हो, जो पवन कुछ सच्चाई को लिए बहता हो, जिसका प्रभाव 12 अंगुल तक हो अर्थात् नासिका से 12 अंगुल तक दूर कुछ-कुछ विदित होता है कि यहाँ तक उस हवा का प्रभाव है वह जलमण्डल की वायु कहलाती है।

श्लोक-1361

तिर्यग्बहत्यविश्रान्तः पवनारख्यः षडङ्गुलः।

पवनः कृष्णवर्णोऽसौ उष्णः शीतश्च लक्ष्यते॥1361॥

जो पवन सब तरफ तिर्यक बहता हो, विश्राम न लेकर निरन्तर बहता ही रहे, 6 अंगुल दूर आये, शीत हो वह पवनमण्डल वायु कहलाती है। जैसे हवा सब तरफ से बहती है इसी तरह नासिका के छिद्र में केवल एक जगह से श्वास नहीं निकलती हो, किन्तु समस्त जगहों से अथवा जल्दी-जल्दी बदल-बदल कर सब ओर से वायु निकलती हो तो वह वायु पवनमण्डल की वायु कहलाती है। इसमें शीघ्र पहिचानने के लिए कुछ पहिचान यह है कि प्रथम तो यह बात है कि नासिका के छिद्र से वायु तिरछी बहती हो, सर्व ओर से बहती हो। दूसरी बात यह है कि विश्राम न लेकर निरन्तर बहती रहती हो। तीसरी पहिचान है कि जिसका प्रभाव तीन काल तक हो। वर्ण इसका कृष्ण कहा गया है, स्पर्श इसका शुक्ल भी होता है। ऐसी जो श्वास है वह पवनमण्डल की श्वास कहलाती है।

श्लोक-1362

बालार्कसन्निभश्चोर्ध्वं सावर्त्तश्चतुरङ्गुलः।

अत्युष्णो ज्वलनाभिख्यः पवनः कीत्तितो बुधैः॥1362॥

अब इसमें अग्निमण्डल का स्वरूप कहा जा रहा है। जिसका वर्ण उगते हुए सूर्य के समान लाल वर्ण हो, जो वायु ऊँचे से चलती हो। ठीक नासिका की सीध में वायु न चलकर कुछ ऊपर की ओर से हवा चलती हो, श्वास चलती हो जो आवर्त्तसहित भिड़ती हुई चले। जैसे आग की लपटे कुछ भिड़ती हुई सी जलती हैं, इसी प्रकार जो नासिका से श्वास भिड़ती हुई चलती है वह अग्निमण्डल की वायु कहलाती है। चार अंगुल तक जिसका प्रभाव हो और जिसका स्पर्श अत्यन्त उष्ण हो वह अग्निमण्डल की वायु कहलाती है। वैसे भी उन्हीं आधारों पर लोक में यह प्रसिद्ध है कि यह शरीर चार तत्त्वों का बना है, पर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु— इन चार तत्त्वों का यह प्रभाव है कि नासिका से जो श्वास निकलती है उस श्वास में उनकी पहिचान बन जाती है कि इसमें पृथ्वीतत्त्व की प्रधानता है अथवा जलतत्त्व की प्रधानता है या अग्नि या वायु तत्त्व की

प्रधानता है। कुछ लोग तो ऐसा भी मानते हैं कि इन चार तत्त्वों में से जो प्रभाव बनता है तो अग्नि तत्त्व से तो चक्षुइन्द्रिय का निर्माण हुआ, वायुतत्त्व से श्रोत्र का निर्माण हुआ, पृथ्वीतत्त्व से समस्त शरीर पिण्ड का निर्माण हुआ और उसमें भी प्रधान नासिका इन्द्रिय और जलतत्त्व से रसना इन्द्रिय का निर्माण हुआ। यह भी एक समानता निरखकर कथन है। और एक स्वर अथवा कुछ परिचय की बातें पहिचानने के लिए कहा गया है। यहाँ स्वरविज्ञान के प्रकरण में जिसमें शुभ अशुभ का निर्णय होगा, उसके लिए इस मण्डल का स्वरूप कहा गया है। किस प्रकार की वायु किस समय चली, किस मुद्रा में चली, उस सबका निर्णय करके शुभ होगा अथवा अशुभ होगा यह सब अनुमान किया जायेगा, इसका वर्णन अब इसी को लेते हुए वर्णन किया जायगा। उसमें यह सब विदित होगा कि किस प्रकार की अपनी श्वास चले तो हम परख लें कि हम पर क्या बीतेगी अथवा अन्य लोगों पर क्या बीतेगी? यह एक स्वरविज्ञान है, इसके पहिचानने वाले पुरुष बिरले हैं, पर थोड़ा-थोड़ा ज्ञान करके उसमें हम चतुर हैं ऐसा जानकर उसका अर्थ लगाया करें और वैसा घटित न हो तो यह उसकी कुछ चालबाजी है, पर इस सम्बंध में जो कुछ विशेष परिचय रखते हैं उनका यह विज्ञान प्रायः करके सही उतरता है। वह शुभ क्या अशुभ होगा, जो प्रभाव बनेगा उसको वह सब समझ लेता है। यहाँ तक संक्षेप में मण्डल का स्वरूप कहा गया है। अब आगे किसी मण्डल की श्वास चलने के समय में क्या शुभ अथवा अशुभ होते हैं, क्या सगुन अथवा असगुन होते हैं, उसका वर्णन किया जायगा।

श्लोक-1363

स्तम्भादिके महेन्द्रो वरुणः शस्तेषु सर्वकार्येषु।

चलमलिनेषु च वायुर्वश्यादौ वह्निरुद्देश्यः॥1363॥

चार प्रकार के पवनमण्डल हैं— पृथ्वीमण्डल, वरुणमण्डल, जलमण्डल और अग्निमण्डल, जिनका कि स्वरूप बहुत कह चुके हैं कि नासिका से जब श्वास बारह अंगुल दूर से आयी और निकलने पर प्रभाव हुआ— जो सीधी समान रेखा पर चले, ऐसी वायु को पृथ्वीमण्डल की वायु कहते हैं। और जो कुछ शीतलता लिए हुए नासिका के किसी कोण से चन्द्ररेखा की तरह साधारण तिरछी वायु चले वह वरुणमण्डल की वायु है। यह नाक से जो श्वास निकलती है उसका वर्णन चल रहा है। उस श्वास की परख से मनुष्य दूसरों के शुभ अशुभ और भविष्य को अपने भी शुभ-अशुभ और भविष्य को जान लेते हैं। वायुमण्डल में एकदम तिरछी गोल हवा निकलती है और वह चार ही अंगुल प्रमाण बाहर अपना प्रभाव दिखाती है। ऐसी वायुमण्डल की

पवन है। अग्निमण्डल की पवन अति उष्ण होती है और तिरछी लपट और चंचलता लिए हुए होती है। यों चार प्रकार के जो श्वासमण्डल हैं उनमें किस मण्डल का प्रभाव किस रूप पड़ता है? इन कार्यों में कौनसा मण्डल शुभ माना गया है और कौनसा मण्डल किस कार्य को करने की प्रेरणा देता है? तो पुरुष के जो स्तम्बन आदिक कार्य करना हो तो पृथ्वीमण्डल की पवन में वह शुभ है, स्थिर कार्य करना हो तो ऐसे कार्य पृथ्वीमण्डल में करना चाहिए। और जितने भी समस्त शुभ कार्य हैं उन सबमें वरुणमण्डल श्रेष्ठ है। जैसे जलमण्डल को पवन कहा है और जितने चलित कार्य हों, मलिन कार्य हों उनमें वायुमण्डल की पवन श्रेष्ठ है और किसी को वश करना हो, किसी को बैरी का मुकाबला करना हो ऐसे अवसर में अग्निमण्डल ठीक माना गया है।

श्लोक-1364

छत्रगजतुरगचामररामाराज्यादिसकलकल्याणम्।

माहेन्द्रो वदति फलं मनोगतं सर्वकार्येषु॥1364॥

पृथ्वीमण्डल की वायु बड़े-बड़े वैभवों के स्वामित्व का संकेत करती है। छत्र, हाथी, घोड़ा, चमार, स्त्री, राज्य आदिक जितने भी वैभव हैं, समृद्धियाँ हैं, कल्याण हैं उन सब कल्याणों का अथवा सर्व कार्यों में जो भी मन में विचार लिया है ऐसे मनोगत फल को पृथ्वीमण्डल कहते हैं। प्राणायाम की साधना वाले लोग इन पवनों की विभिन्नताओं से शुभ अशुभ सगुन असगुन भविष्य का विचार कर लेते हैं। यहाँ श्वास के निकलने के ढंगों से शुभ अशुभ भविष्य का विचार कर लेने की बात चल रही है। वहाँ तो एक साधारण रूप से बायें नाक से जब श्वास चलती हो उस समय में स्थिर कार्य करना चाहिए और जब दाहिनी नासिका से श्वास चलती हो तो उस समय चलित कार्य, जाने आने के कार्य, व्यापार आदिक के कार्य करने चाहिए। इसी प्रकार जो स्वरविज्ञान के अनुसार चलते हैं वे यत्न करते हैं कि जब दाहिनी नाक बिन्दु से श्वास चले तो भोजन करते हैं और वे इन श्वासों के बदलने की क्रिया को करते हैं। बायाँ स्वर चल रहा है और बदलकर दाहिना स्वर बना हो, तो सुनने में ऐसा लगेगा कुछ कि क्या यह अपने वश की बात है कि अभी तो दाहिनी श्वास चल रही थी और अब बदलकर बायीं श्वास चला दे। पर जो प्राणायाम के तंत्र हैं उनमें इसकी क्रिया बतायी गयी है। यह सारा शरीर तिरछी नसों से जकड़ा है। दाहिने तरफ के अंग को जकड़ने वाली नसें बाईं तरफ मिलती हैं और बायें तरफ के अंग को जकड़ने वाली नसें दाहिनी तरफ मिलती हैं। तो बायें स्वर से

दायाँ स्वर बदलने वाले योगी दाहिनी काँख को दबाते हैं। काँख में कोई वस्त्र आदिक रखकर उसे दबाने से थोड़े ही समय बाद यह बायाँ स्वर बदलकर दाहिने स्वर में आता है। जब भोजन आदिक का अवसर होता है उस समय स्वर विज्ञान के जाननहार योगी इस क्रिया को करते हैं। उनका मंतव्य है कि दाहिने स्वर में सूर्यस्वर में किया हुआ भोजन सपच होता है और शरीर को लाभ देता है। कुछ अनुभव में ऐसा लगता होगा भी कि जब बामस्वर चलता है तब शान्ति सन्तोष ये सब बने से रहते हैं और जब सूर्य स्वर चलता है तो अशान्ति असन्तोष कुछ क्षोभ विकल्पों का विस्तार इनकी रचना होती है। इस ध्यान के प्रकरण में इन स्वरोँ का और प्राणायाम का विधान क्यों बताया जा रहा कि इन सबका सम्बंध उपचार से निमित्त रूप में होता है। तो जितनी भी ये ऋद्धियाँ सिद्धियाँ हों सर्व कार्यों में मनोगत फल यह सब पृथ्वीमण्डल की पवन से चलता है। वैसे आगे कहीं बताया जायगा कृष्ण पक्ष के शुरू के तीन दिन में प्रातःकाल सुबह उठने पर अपने स्वर की परख करें। यदि बामस्वर चल रहा है उस समय तो वह यह निर्धारण करता है कि हमारा यह दिन अच्छा बीतेगा, शान्ति में बीतेगा। इसके बाद के तीन दिन चौथे, पांचवें, छठे को प्रातःकाल यदि दक्षिण स्वर चलता है तो वह दिन ठीक है पर तीन दिन सप्तमी, अष्टमी, नवमी को यदि बामस्वर चलता है तो वह ठीक निर्णय रखता है। इसके बाद फिर तीन दिन दशमी, एकादशी, द्वादशी इन दिनों में सूर्यस्वर चलता है याने दक्षिण नासिका से श्वास चलती है तो वह शुभ निर्णय रखता है। फिर त्रयोदशी, चतुर्दशी और अमावस्या के दिनों में यदि बामस्वर चलता है तो वे जाननहार शुभ मानते हैं। शुक्लपक्ष में इससे उल्टी बात है। कृष्णपक्ष में शुरू के तीन दिनों में सूर्यस्वर चले, फिर यों तीन दिन बदलकर यह प्रातःकाल इन स्वरोँ का निर्णय रखे, उससे दिन भर का शुभ अशुभ अथवा भविष्य का वे अनुमान करते हैं। यद्यपि ये बातें ज्ञानदृष्टि से, प्राणायामदृष्टि से बेहूदी लग रही हैं लेकिन जब इस छद्मस्थ अवस्था में, दुर्बल अवस्था में ज्ञान ही पराधीन बन रहा है, शरीर के अंग इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होता है तब उन्हीं इन्द्रियों की नासिका के स्वर आदिक के भेद से ज्ञान में शुभ अशुभ का निर्णय कर लिया जाय तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। तो जब महेन्द्र अथवा पृथ्वी नामक पवनमण्डल चलता है तो वह शुभ माना गया है।

श्लोक-1365

अभिमतफलनिकुरम्बं विद्यावीर्यादिभूतिसंकीर्णम्।

सुतयुवतिवस्तुसारं वरुणो योजयति जन्तूनाम्॥1365॥

वरुणमण्डल अर्थात् जलतत्त्व में चलने वाली श्वास इष्ट बल को प्रदान करती है। विद्याशक्ति आदिक विभूतियों से सहित तथा पुत्र स्त्री आदिक में जो सारभूत वस्तु है। मनोवाञ्छित तत्त्व है उन सबको यह वरुणमण्डल प्राप्त कराता है। जब श्वास गर्मी को लिए हुए न हो, इसी को कहते हैं शीतल श्वास। इस शीतल स्वर में जो बात सोची जाय अथवा इष्ट माना जाय उस सब कार्य की सिद्धि होती है।

श्लोक-1366

भयशोकदुःखपीडा—विघ्नौधपरम्परां विनाशं च।
व्याचष्टे देहभृतां दहनो दाहस्वभावोऽयम्॥1366॥

अब तीसरा मण्डल है अग्निमण्डल। अग्निमण्डल का पवन दाहस्वभावरूप है। वह पवन जीवों के भय, शोक, दुःख, पीडा तथा विषयसमूहों की परम्परा और विनाश आदिक कार्यों को प्रकट करता है। जब अग्निमण्डल की श्वास निकली जिसका स्वरूप पहिले बताया है कि जो कुछ तिर्यक रूप ये श्वास निकले, कभी नासिका के मिले हुए स्थान से, कभी बाहर के स्थान से यों जिस चाहे स्थान से नासिका से श्वास निकली तो उसे अग्निमण्डल की श्वास कहते हैं और इस अग्निमण्डल की श्वास का फल उत्तम नहीं कहा गया है। तो अग्निमण्डल की पवन श्वास जब निकल रही हो तो उस समय यह निर्णय करना चाहिए कि कोई आपत्ति, कोई चिन्ता, दुःख, पीडा ये आने वाले हैं ऐसी सूचना देती है।

श्लोक-1367

सिद्धमपि याति विलयं सेवा कृष्यादिकं समस्तमपि चैव।
मृत्युभयकलहवैरं पवने त्रासादिकं च स्यात्॥1367॥

यह एक स्वर विज्ञान की बात चल रही है। अपने ही स्वर की परख से अपने शुभ और अशुभ कार्य जाने जाते हैं। जब वायुमण्डल का पवन चल रहा हो तो सिद्ध भी कार्य नष्ट हो जाते हैं। जिन कार्यों में प्रयत्न करने से बहुत कुछ सफलता भी मिलने वाली है तब भी पवनमण्डल में उन कार्यों को किया जाय तो वे सब धोखा दे देते हैं तो पवनमण्डल में कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। सेवा कृषि आदिक समस्त कार्य सिद्ध

होते हुए भी विलीन हो जाते हैं और मृत्यु का भय कलह बैर त्रास आदिक उस ध्यानसाधना वाले पुरुष के हुआ करती है, उससे बाहर के जीवों के कुछ शुभ अशुभ जान लिए जाते हैं।

श्लोक-1368

सर्व प्रवेशकाले कथयन्ति मनोगतं फलं पुंसाम्।
अहितमतिदुःखनिचितं त एव निःसरणवेलायाम्॥1368॥

अब मेरे कार्यों में शुभ अशुभ आना, अब इसके प्रवेश और निकलने के विषय में कह रहे हैं। जब श्वास भीतर से ली जा रही हो उस समय पुरुषों के समस्त फल सिद्ध होते हैं और जिस समय श्वास बाहर से निकल रही हो उस समय में कोई पूछे अथवा कुछ अपना विचार चले तो समाधान होगा कि वह सिद्धि न होगी। समस्त मण्डलों की वायु प्रवेश के काल में तो शुभ फल देने वाली है और निकलने के समय में स्वयं को भी और पूछने वाले को भी अनिष्ट और अहित का संकेत करती है। ये सब प्राणायाम की सिद्धि की बातें हैं। इनमें तत्त्वज्ञानी पुरुष नहीं फँसता, उसे तो एक आत्महित की ओर दृष्टि लगी है। ध्यानार्थी पुरुष अपना अच्छा ध्यान बना लेते हैं, अपने श्वास पवन को भी हृदय में नाभिमण्डल में रोक लेते हैं तो वे सब श्वास किस प्रकार के हैं और उससे कैसा फल मिला करता है? इसका वर्णन इस समय चल रहा है।

श्लोक-1369

सर्वेऽपि प्रविशन्तो रविशशिमार्गेण वायवः सततम्।
विदधति परां सुखास्थां निर्गच्छन्तो विपर्यस्ताम्॥1369॥

उसी बात को पुनः...दे रहे हैं कि वे चार पवन जो चन्द्रमा के....से निरन्तर प्रवेश उत्कृष्ट सुख की कल्पना को करते हैं और ये निकलते समय दुःख की अवस्था को प्रकट करते हैं। यह विधि बतलायी जा रही है कि किसी भी मण्डल की वायु हो और किसी भी नासिका के छिद्र में चलती हुई हो जिस समय श्वास खींची जा रही है तो उस समय उपेक्षा में कार्य सिद्ध हुआ और जब श्वास खींची जा रही है तो उस समय प्रश्नकर्ता का प्रश्न सिद्ध नहीं हुआ उसके सम्बंध में बता रहे हैं। वैसे भी तो लगता है कि श्वास

निकलते समय कुछ भाव में कुछ हीनता होती है अथवा किसी-किसी योगी पुरुष के क्रूरता जगती है और श्वास अन्दर लेते समय कुछ भावों में विशुद्धि बनती है। जैसे लोग कहते हैं कि कभी क्रोध आये तो पानी पी लो, एक आध गिलास पानी पी लेने से जैसे क्रोध में अन्तर कुछ आता है। कोई पूछे कि उस क्रोध का पानी से क्या सम्बंध है? तो सम्बंध क्या है इसे क्या सिद्ध करें? खुद देख लो और जैसे गुस्सा होने वाले पुरुष को किसी प्रकार मनाकर कोई भोजन खिलाये तो भोजन करने के बाद उतनी गुस्सा नहीं रहती, शान्त हो जाता है, उस गुस्सा से भोजन का सम्बंध क्या? लेकिन ऐसा देखा जाता है। जब श्वास अन्तर खींची जा रही हो उस समय विचारा गया कार्य सिद्ध होता है और जब श्वास बाहर निकल रही हो उस समय विचारे गए पूछे गये कार्य सिद्ध नहीं होते।

श्लोक-1370

वामेन प्रविशन्तौ वरुणमहेन्द्र समस्तसिद्धिकरौ।

इतरेण निःसरन्तौ हुतभुक्पवनौ विनाशाय॥13670॥

यह तो एक सामान्य कथन किया है। अब विशेषता में यों समझिये कि धीमे स्वर से, चन्द्रस्वर से, नासिका के बायें छिद्र से जब श्वास प्रवेश कर रहे हों, हवा भीतर जा रही हो और मिल जाय पृथ्वीतत्त्व और जलतत्त्व की वायु तो साधारण कार्य के समान सिद्धि को उत्पन्न करने वाली वायु है और जहाँ दाहिने स्वर से अग्नि और वायुतत्त्व की वायु निकल रही हो तब समझना चाहिए कि यह विनाश के लिए है, आपत्ति के लिए है। प्रथम तो यह सामान्य वर्णन किया था कि श्वास लेते समय कोई प्रश्न पूछता है तो उसकी सिद्धि बताया और अब उसी की एक विशेषता बतायी जा रही है कि बायें स्वर से पृथ्वीतत्त्व और जलतत्त्व की श्वास निकली तो वह सिद्धि करती है। ऐसे ही जलतत्त्व की वायु यदि छिद्र से प्रवेश करती है तो वह भी सिद्धि करने वाली है लेकिन दाहिने स्वर से और अग्नि वायु की पवन यदि निकल रही हो तो समझिये कि वह विनाश करने के लिए है। इस सम्बंध में कुछ ऐसा तो अनुभव होता ही होगा या दृष्टि जाय तो अनुभव कर लीजिए कि सुगम रीति से बनावट न करके यदि इस प्रकार की श्वास होती है तो उनका फल वैसा होता है। प्रथम बताया गया था कि जो स्थिर कार्य हो उन्हें वाम स्वर शुभ बताता है। और जो चलने के कार्य हों उन्हें दक्षिण स्वर ठीक कहता है। इस कारण लोग रात्रि को जगने पर सुबह उठने के लिए सर्व प्रथम दाहिना पैर नीचे रखते हैं, दाहिने पैर का ध्यान प्रारम्भ करते हैं, फिर चलने में दोनों आते हैं, पर दक्षिण स्वर का बाम अंग का सम्बंध चलना फिरना आदि चलित क्रिया के लिए हैं। और कोई स्थिर कार्य की बात सोची जाय तो वह चलतत्त्व उस सोचने पर सिद्धि प्रदान करता है। इस प्रकार चार मण्डलों का शुभ और अशुभ

संक्षेप में यह कहा गया है। अब इसी सम्बंध में कुछ और विशेष बात चलेगी जिससे एक स्वर की पहिचान से अपने और निकट पर के शुभ अशुभ भविष्य को हम जान सकें।

श्लोक-1371

अथ मण्डलेषु वायोः प्रवेशनिःसरणकालमवगम्या।

उपदिशति भुवनवस्तुषु विचेष्टितं सर्वथा सर्वम्॥1371॥

प्राणायाम साधन करने से चित्त में एकाग्रता होती है, एकाग्र चित्त में ध्यान की सिद्धि होती है, अतः ध्यान के अंग में साधारणरूप से प्राणायाम भी बताया है। अब प्राणायाम के फल में स्वरज्ञान का जो एक लौकिक लाभ है उसका वर्णन यहाँ चल रहा है। नासिका से जो स्वर निकलता है, श्वास आती जाती है उस श्वास की परीक्षा करके बहुत सी बातें आगे पीछे की निकट दूर की जान ली जाती हैं। उसी सिलसिले में यहाँ बता रहे हैं कि दूसरी प्रकार के मण्डल में वायु के प्रवेश निकलने के सम्बंध का निश्चय करके उनके ध्यानी पुरुष इस जगत में जो पदार्थ हैं उन सबकी चेष्टाओं का उपदेश करते हैं। केवल एक नाक से निकलने वाली श्वास की परीक्षा करके अनेक ध्यानी जगत के पदार्थों के सम्बंध बता देते हैं कि अमुक समय अमुक बात बनेगी। उसी के विस्तार में आगे वर्णन किया जा रहा है।

श्लोक-1372

वामायां विचरन्तौ दहनसमीरौ तु मध्यमौ कथितौ।

वरुणेन्द्रावितरस्यां तथाविधावेव निर्दिष्टौ॥1372॥

चार प्रकार के मण्डल होते हैं— पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। इन श्वासों का स्वरूप पहिले है। पृथ्वीमण्डल की श्वास कुछ साधारण गर्म होती है। जलमण्डल की श्वास शीतल होती है, अग्निमण्डल की श्वास अति गर्म होती है और वायुमण्डल की श्वास नाभि के किसी एक जगह से नहीं निकलती, किन्तु घूमकर कभी किसी किनारे से, कभी किसी किनारे से यों बहती हुई श्वास निकलती है। उन चार प्रकार के मण्डलों में यह बात बतला रहे हैं कि अब अग्निमण्डल और वायुमण्डल की श्वास नाक से निकले तब उसका फल मध्यम है।

नासिका के बाई ओर से श्वास शीतल शान्त सन्तोष उत्पन्न करने वाली बताया है और दाहिनी ओर से निकली हुई श्वास एक चल कार्य को और क्रूरता आदिक को भी बताती है। तो अग्निमण्डल और वायुमण्डल स्वभाव से क्रूर हैं। वे यदि इस शान्त चन्द्र स्वर से निकलते हैं तो उनकी क्रूरता का प्रभाव कम हो जाता है। इसी कारण उनका फल मध्यम फल रह जाता है और जल तथा पृथ्वीमण्डल यदि दाहिने स्वर से निकलते हैं तो उनका भी फल मध्यम है। अब इसके बाद एक साधारण बात कहेंगे, जो बिना मण्डल परीक्षा के भी अपनी श्वास से लोग शुभ अशुभ फल जान सकेंगे।

श्लोक-1373

उदये वामा शस्ता सितपक्षे दक्षिणा पुनः कृष्णे।

त्रीणि त्रीणि दिनानि तु शशिसूर्यस्योदयःश्लाध्यः॥1373॥

शुक्ल पक्ष के दिनों में सर्वप्रथम दिन और द्वितीया और तृतीया के दिन प्रातःकाल यदि बायें ओर से श्वास निकलें, श्वास आये जाये तो वह शुभ माना गया है। शुक्लपक्ष भी चन्द्रमा का माना गया है, और बायें अंग से श्वास निकालना भी चन्द्रस्वर माना गया है, इसी कारण शुक्लपक्ष के पहिले दिन प्रातःकाल बायें स्वर से श्वास आये तो वह शुभमण्डल बताने वाली मानी गयी है, और तरह द्वितीया और तृतीया के दिन भी। इसके पश्चात् शुक्लपक्ष की चौथी, पांचवीं और छठी के दिन प्रातःकाल सूर्यस्वर से अर्थात् दाहिनी ओर से स्वर आता जाता प्रतीत हो तो भी उसका शुभ मंगल फल है। इस तरह तीन-तीन दिन बदल बदलकर स्वर का होना शुभ बताया गया है और कृष्णपक्ष के दिनों में शुरू के तीन दिनों में प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया के दिन प्रातःकाल दाहिने सूर्य से सूर्यस्तर से श्वास आये तो वह सगुन माना गया है। कृष्णपक्ष चन्द्रमा का पक्ष नहीं है, उसे सूर्यपक्ष कह लीजिए परिरोस न्याय में नासिका का दाहिना स्वर भी सूर्यस्वर कहलाता है, अतः प्रथम तीन दिनों में दाहिनी ओर से श्वास का निकलना आना जाना शुभ माना गया है। इसी प्रकार अब आगे तीन-तीन दिन परिवर्तित करके शुभ माना है अर्थात् कृष्णपक्ष में चौथी, पांचवीं, छठवीं की तिथि में बामस्वर से श्वास आये जाये तो शुभ माना है। इस तरह परिवर्तित कर तीन-तीन दिन की बात समझना चाहिए। इसका तो जो कोई भी अपने आप अंदाज लगा सकता है। जैसे आजकल कृष्णपक्ष चल रहा है, और आज पंचमी का दिन है, कल षष्ठी का दिन होगा तो इस कथन के अनुसार षष्ठी के दिन बामस्वर से श्वास का आना जाना प्रातःकाल हो तो समझना कि हमारा आज का दिन अच्छा व्यतीत होगा। यह प्राणायाम के शास्त्रों के

अनुसार बात कही जा रही है। यद्यपि ये बातें मोक्षमार्ग में कोई उपकारी नहीं हैं। स्वर देखना, शुभ अशुभ परखना, इसका क्या प्रयोजन है— अभ्युक्त पुरुष को लौकिक प्राणायाम की साधना में क्या-क्या और चमत्कार होते हैं, परिज्ञान होते हैं उनको बताया जा रहा है। जो ध्यानी पुरुष हैं उनको ये सब स्वरविज्ञान खूब हो भी जाते हैं लेकिन उनके प्रयोग करने की भावना नहीं रहती। वे तो संसार के संकटों से छूटने के उद्यम में ही रहा करते हैं।

श्लोक-1374

उदयश्चन्द्रेण हितः सूर्येणास्तं प्रशस्यते वायोः।

रविणोदये तु शशिना शिवमस्तमनं सदा नृणाम्॥1374॥

चन्द्रस्वर से श्वास का उदय होना शुभ है तब अस्त सूर्यस्वर से होना प्रशस्त कहा है। अब उन तिथियों का सम्बंध न रखकर सामान्यतया यह कहते हैं कि चन्द्रस्वर से तो प्रकट होवेश्वास और सूर्यस्वर से अस्त हो और जब सूर्य को उदय हो तो चन्द्रस्वर से अस्त होवे यह कल्याणकारी शुभ है। जैसे तिथि के हिसाब से बताया गया था कि इन दिनों में श्वास बाम नासिका से निकले तो शुभ है तो जहाँवाम स्वर से निकलने को कहा है तो उस दिन, दिन अस्त होते समय सूर्यस्वर से अर्थात् उसके विरुद्ध स्वर से अस्त होना चाहिए। इतना तो हर एक कोई अनुभव करने लगेगा कि जब मन प्रसन्न रहता है, शान्ति और सन्तोष में चित्त रहता है उस समय प्रायःस्वर बाई ओरसे निकलता होगा और जब क्षोभ है, क्रोध है, चलितपना है, चंचलता है, व्यग्रता है उन समयों में दाहिने स्वर से श्वास निकलती होगी। एक सामुद्रिक शास्त्र की तरह एक स्वरविज्ञान का भी प्रभाव है। सामूहिक शास्त्र में हस्तरेखायें तिल मसा आदि चिन्हों से जो परिज्ञान किया जाता है उसका आधार है सुन्दरता। पुण्योदय से शरीर जैसा सुगम सुन्दर होना चाहिए उस सुन्दरता की रेखायें और अन्य-अन्य निशानों से उसका शुभ अशुभ बता दिया जाता है। तो स्वरविज्ञान में एक भावों के निमित्त से सम्बंध है। शान्ति और तृप्ति भावों से अवस्थित पुरुष के स्वर की क्या स्थिति होती है? यह सब स्वरविज्ञान के जाननहार योगी समझते हैं और वे फलित रूप में उसको इस प्रकार वर्णन कर रहे हैं।

श्लोक-1375

सितपक्षे रव्युदये प्रतिपद्विवये समीक्ष्यते सम्यक्।
शस्तेतरप्रचारौ वायोर्यत्नेन विज्ञानी॥1375॥

श्वास का चलना शुक्लपक्ष में सूर्योदय के दिन विज्ञानी भली प्रकार यत्न से शुभ और अशुभ को देखें। खासकर सुदी पक्ष जब लगे तो प्रथम दिन श्वास का परीक्षण करें और उससे शुभ अशुभ का निर्णय करें। तो उस समय परीक्षा में क्या-क्या बात यह जानेगा, उन सब परीक्षणों को आगे के दो श्लोकों में कह रहे हैं।

श्लोक-1376,1377

व्यस्तःप्रथमे दिवसे चितोद्वेगाय जायते पवनः।
धनहानिकृद्वितीये प्रवासदः स्यात्तृतीयेऽहि॥1376॥

इष्टार्थनाशविभ्रमस्वपदभ्रंशास्तथामहायुद्धम्।
दुःखं च पञ्च दिवसैः क्रमशः संजायते त्वपरैः॥1377॥

प्रथम दिन में अर्थात् शुक्लपक्ष के प्रतिपदा के दिन उस दिन विपरीत श्वास चले अर्थात् चलना चाहिये बायें स्वर से उदयकाल में और चलती हो दाहिने स्वर से तो चित्त को उद्वेग होगा। यह उसका फल है। अब शुक्लपक्ष के दूसरे दिन विपरीत श्वास चले अर्थात् चलना तो चाहिए बामस्वर से और चले दाहिने स्वर से तो धन की हानि को सूचित करता है। शुरु पक्ष के तृतीया के दिन यदि श्वास विपरीत चले अर्थात् चलना तो चाहिए बामस्वर से प्रातःकाल और चले दाहिने स्वर से तो परदेशगमन होगा। इस प्रकार की सूचना समझना चाहिए। इसके पश्चात् 5 दिन तक विपरीत चले तो भ्रम से इष्टप्रयोजन का नाश विभ्रम होना, अपने पद से भ्रष्ट होना, महान युद्ध होना, दुःख होना ये 5 फल होते हैं, इसी प्रकार अगले 5 दिन का फल विपरीत अर्थात् अशुभ जानना। ये सब बातें बताई जा रही हैं, पर इनका प्रयोग मुमुक्षु ज्ञानी पुरुष किया नहीं करते हैं। जो होना है सो होता है। जो होना है वह क्या उसके जान लेने से टल जाता है? जैसे पुराणों में बहुत सी घटनाएँ ऐसी आयी हैं कि नेमिनाथ स्वामी के सम्बंध में यह बात जाहिर हुई थी कि 12 वर्ष में द्वारिकापुरी

भस्म होगी, जरतकुमार के द्वारा श्रीकृष्ण की मृत्यु होगी। जो-जो कुछ बातें कही गई थीं उन सब बातों को मिटाने के लिए लोगों ने तरकीब सब बनाये। जरतकुमार उस नगर से भाग गए। न मैं यहाँ रहूँगा और न मेरे निमित्त से नारायण की मृत्यु होगी। भाग गया किसी अपरिचित जंगल में। और द्वीपायन मुनि के द्वारा यह द्वारिकापुरी भस्म होगी, ऐसा सुनने पर द्वीपायन मुनि भी 12 वर्ष के लिए नगर से चले गए, पर हुआ क्या कि द्वीपायन मुनि आ गए, लोंध का महीना न गिन सके और हुआ वही जो कहा था। जरतकुमार जिस जंगल में था वहाँ नारायण पहुँचे। सभी लोग बताते हैं कि जरतकुमार के हाथ से श्रीकृष्ण की मृत्यु हुई। तो हुआ क्या जो होना था। तो इस स्वर विज्ञान में पढ़ने से लाभ क्या? इसी तरह बहुत से लोग दिशाशूल से बचना या अन्य-अन्य बातें करते हैं, उनकी ओर चित्त देना ही ठीक नहीं है। अब कहो मुकदमा हो इलाहाबाद का सोमवार को और मान लेवे कि शनिवार को दिशाशूल के कारण न जायें तब तो मुकदमा रह जायगा ना, तो यह तो एक विरुद्ध बात हो जायगी। बल्कि दिशाशूल के दिन चलने से फायदा यह है कि बहुत से लोगों के रेल में न जाने से जगह अच्छी मिल जाती है। यह सब सोचना चित्त को परेशानी देना भर है। जो बात है उसका थोड़ा वर्णन चल रहा है। भारी फूँकफूँककर कोई चले इन बातों को सोच सोचकर तो उसका दिमाग तो इसी में परेशान रहेगा। चित्त प्रसन्न होना, निर्मल होना और फिर उस निर्मल चित्त की दशा में जो बात जिस समय करने की है करें तो वह एक उचित कर्तव्य है, लेकिन कोई इस प्रकार से परीक्षण करे तो ये भी बातें हैं जिनको यहाँ प्रकरणवश कहा जा रहा है।

श्लोक-1378

वामा सुधामयी ज्ञेया हिता शश्वच्छरीरिणाम्।

संहर्त्री दक्षिणा नाडी समस्तानिष्टसूचिका॥1378॥

जीवों की बाईं नाड़ी चन्द्रस्वर बायां स्वर अमृतमय और हितकारी समझना। यह एक सामान्यतया बताया जा रहा है। विशेष प्रसंग में तो और-और तरह के नियम हैं पर एक साधारण सी बात कही जा रही है और दाहिनी नाड़ी नासिका के दाहिने छिद्र से श्वास का आना-जाना अहित के करने वाली है। इस प्रसंग में एक बात यह समझना है कि जब कोई योगी ध्यानी पुरुष ध्यान में निर्विकल्प तल्लीन होता है उस समय उसके स्वर दोनों ओरसे समान हो जाते हैं। उसे समस्वर कहते हैं और वह समस्वर भी कुछ विलक्षणता को

लिए हुए होता है। इसका वर्णन सम्भवतः कहीं आगे के श्लोकों में आयगा तो इस स्थान में योगी ध्यानी पुरुष की बात कही जा रही है कि उस समय स्वर का श्वास का क्या प्रभाव होता है?

श्लोक-1379

अमृतमिव सर्वगात्रं प्रीणयति शरीरिणामं ध्रुवं वामा।
क्षपयति तदेव शश्वद्वहमाना दक्षिणा नाडी॥1379॥

बायें स्वर से श्वास बाईं नाड़ी यदि निरन्तर बहती रहे तो जीवों के समस्त शरीर को अमृत के समान तृप्त करती है। और दाहिनी नाड़ी यदि लगातार बहती रहे तो वह शरीर को क्षीण करती है। शारीरिक स्वास्थ्य पर इन श्वासों का क्या प्रभाव पड़ता है, उसकी बात यहाँ कही जा रही है। बायें स्वर से श्वास का निकलना शरीर के लिए लाभदायक बताया है। अधिकतर निकला करे तो और दाहिने स्वर से लगातार घंटों श्वास निकले तो वह शरीर को क्षीण करने वाली कही गई है। दाहिना स्वर एक क्रूरता और आताप भरा है और बायां स्वर एक शान्ति और शीतलता को प्रकट करने वाला कहा गया है। स्वर 10-15 मिनट भी किसी का एक ही स्वर से नहीं चलता, बदलता रहता है, कभी दाहिने नाक से निकलता है तो कभी बाम नाक से स्वर निकलता है। उसीसिलसिले में यह कहा जा रहा है कि यदि दाहिने स्वर से बहुत देर तक निकलती ही रहे श्वास तो उसका प्रभाव शरीर पर अच्छा नहीं होता। और कदाचित् बाम श्वास बहुत देर तक निकलती रहे तो उसका शरीर पर प्रभाव अच्छा रहता है।

श्लोक-1380

संग्रामसुरतभोजनविरुद्धकार्येषु दक्षिणेष्ठा स्यात्।
अभ्युदयहृदयवाञ्छितसमस्तशस्तेषु वामैव।1380॥

कहीं युद्ध के लिए जाना हो, संग्राम की कोई बात हो तो दक्षिण स्वर से श्वास निकले वह शुभ और इष्ट माना गया है। चलित और क्रूर कार्यों के लिए दक्षिण स्वर ठीक माना गया है, इसी प्रकार स्वरत काल में भोजन आदिक काल में दाहिनी नाड़ी शुभ मानी गयी है। भोजन करते समय यदि दाहिनी ओरसे

श्वास निकलती हो तो उसका प्रभाव अच्छा होता है। भोजन को स्वपच बनता है और शरीर में स्वास्थ्य उत्पन्न करे इसका वह कारण है। तो जो कोई थोड़ा स्वरविज्ञान जानता है वह इसी बाट पर बैठा रहे कि हमें 9 बजे भोजन करना है, देखा कि अभी दाहिना स्वर नहीं निकल रहा तो कहो दाहिने स्वर की बाट हरे, घंटों बैठा ही रहे। कुछ लोग तो प्रयोग करके स्वर बदलने की चेष्टा करते हैं। जैसे बायें स्वर से निकल रही हो श्वास तो बायें हाथ की मुट्टी बाँधकर दाहिने काँख में लगाकर जोर से बैठ जाते हैं और कुछ ही देर बाद दाहिना स्वर आ जाता है, इसी प्रकार दाहिने स्वर से बदलने का भी यत्न है कि दाहिने हाथ मुट्टी बायें काँख में दबाकर बैठे तो बायाँ स्वर आ जाता है। ये कुछ साधन हैं तो किन स्वरों में कौनसा कार्य करें यह स्वरविज्ञानी लोग जिस प्रकार करते हैं उसकी बात यहाँ कही जा रही है। शुद्ध भोजन आदिक विरुद्ध कार्यों में और कोई विपरीत कार्यों में दाहिने स्वर को शुभ कहा है और मनोवाञ्छित समस्त शुभ कार्यों में बामस्वर को शुभ कहा गया है। यह एक साधक पुरुष की ऐसी घटनाएँ बनती हैं और उनका यह विज्ञान बताया जा रहा है। कोई परीक्षण करे तो कर भी सकता है, पर परीक्षण करने में उसका विशेष समय बरबाद होता है और एक संदेह की बात बन जाती है। इसलिए न करना ही ठीक है, पर उसका यह प्रयोग वैज्ञानिक रूप में बताया गया है। इससे तत्त्व इतना ही लेना कि मोक्ष के लिए उद्यम करने वाले योगी ज्ञानीध्यानी पुरुष प्राणायाम की साधना में क्या-क्या और चमत्कार पा लेते हैं उन चमत्कारों का इसमें वर्णन है।

श्लोक-1381

नेष्टघटनेऽसमर्था राहुग्रहकालचन्द्रसूर्याद्याः।

क्षितिवरुणौ त्वमृतगतौ समस्तकल्याणदौ ज्ञेयौ॥1381॥

नासिका से श्वास निकलने के 4 मण्डल बताये हैं— पृथ्वीमण्डल, जलमण्डल, तेजोमण्डल और वायुमण्डल। इनकी पहिचान करना बहुत कठिन है। बहुत दिनों के अभ्यास से ही पहिचान हो पाती है कि हमारी श्वास किस मण्डल की निकल रही है? मोटे रूप में यों समझिये कि जो कुछ उष्ण श्वास हो और जिसका प्रभाव नासिका से 8 अंगुल तक पड़े, जो चतुरस्र हो अर्थात् श्वास जो निकली वह चौकोर विदित हो वह तो पृथ्वीमण्डल है। जो शीतल हो और अर्द्धचन्द्राकार श्वास निकलती हो अर्थात् उल्टी-उल्टी करके उस श्वास के प्रभाव को देखो तो वह प्रभाव अर्द्धचन्द्र के आकार जैसा पड़े तथा जिसका प्रभाव नासिका से 12 अंगुल तक पड़े अर्थात् श्वास इतनी दूर तक जाय वह जलमण्डल है। जो श्वास चंचल हो, क्षणभर में

नासिका के एक कोने से हवा बहे, क्षणभर में दूसरी ओर से बहे इस तरह जो सब ओर बहता हो, कभी किसी कोने से कभी किसी कोने से, श्वास निकली हो, जो कुछ उष्ण हो अथवा शीत भी ही, जिसका प्रभाव नासिका से 6 अंगुल तक पड़े उसका नाम है वायुमण्डल और जो अति उष्ण हो, त्रिकोण बहती हो, जिसका प्रभाव 4 अंगुल तक पड़े, जो श्वास कभी ऊँचे की ओर चले कभी नीचे की ओर चले इस प्रकार की श्वास अग्निमण्डल कहलाती है। इन चार में से पृथ्वीमण्डल और जलमण्डल की श्वास प्रायः शुभ कार्यों में शुभ मानी जाती है। जब कभी पृथ्वीमण्डल और जलमण्डल की श्वास निकली और वह भी नासिका के बायें ओर से निकली तो समझिये कि उसको समस्त कल्याण होने वाले हैं और उस पर राहु ग्रहकाल चन्द्र, सूर्य ग्रह आदिक का उस पर प्रभाव न होगा। उसके इष्ट आदिक का विघात न कर सकेगा। यह स्थिति एक कल्याणप्रद स्थिति की सूचना देती है। यद्यपि मुमुक्षु पुरुषों को इन बातों से कोई प्रयोजन नहीं है, किन्हीं ऋद्धिधारी योगीश्वरों को अपनी ऋद्धि से कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु जैसे अपने तपश्चरण में बढने वाले योगियों की बीच-बीच में सब ऋद्धियाँ पैदा होती हैं इसी प्रकार ध्यान का अभ्यास करने वाले पुरुषों को प्राणायाम की साधना की विधि के माध्यम से यह सब स्वरविज्ञान उत्पन्न होता है, पर मुमुक्षु को इससे प्रयोजन कुछ नहीं, पर जो एक कला और विद्या है। उसका वर्णन किया है। कदाचित् दूसरों के फल के वास्ते कोई इसका प्रयोग भी कर सकता है। जैसे ऋद्धिधारी मुनीश्वर धर्मात्मावों के उपकार के लिए सिद्धियों का प्रयोग करते हैं ऐसे ही स्वरविज्ञान से जो तत्त्व जाना है उसके उपकार की अपेक्षा से प्रयोग कर सकते हैं पर मुख्यतया मुमुक्षु को इससे कोई प्रयोजन नहीं है।

श्लोक-1382

पूर्णे पूर्वस्य जयो रिक्ते त्वितरस्य कथ्यते तज्ज्ञैः।

उभयोर्युद्धनिमित्ते दूतेनाशंसिते प्रश्ने॥1382॥

अब उस स्वरविज्ञान के सहारे प्रश्न समाधान के रूप में वर्णन कर रहे हैं। कभी कोई दूत आकर युद्ध के निमित्त कोई प्रश्न करे तो जिसके विजय के लिए प्रश्न किया है, उसके विजय की सूचना तब समझिये जब जिस ओर से आकर प्रश्न करे अथवा प्रश्नकर्ता का जो स्वर चलता हो, बायां अथवा दाहिना कोई स्वर हो और स्वर चलता हो वह स्वर इस बताने वाले का भी चल रहा हो तो वह इस बात का सूचक है कि पहिले जिसको पूछा गया उसकी जीत है और यदि रिक्तास्वर में वह स्वर न चलता हो, विपरीत चलता हो तो

उसमें प्रतिपक्षी की विजय होगी और यदि दोनों स्वर चल रहे हों तो उसमें दोनों की ही विजय हो ऐसी उसकी सूचना है। एक स्वरविज्ञान भी एक निमित्त ज्ञान है। जैसे अन्य कुछ चीजों को देखकर कोई शुभ अशुभ बता दिया जाता है तो स्वरविज्ञान में उससे भी अधिक दृढ़ता है कि स्वर के परिचय से दूसरों को शुभ अथवा अशुभ बताया जा सकता है।

श्लोक-1383

ज्ञातुर्नाम प्रथमं पश्चाद्यद्यातुरस्य गृह्णाति।
दूतस्तदेष्टसिद्धिस्तद्व्यस्ते स्याद्विपर्यस्ता॥1383॥

यह बहुत काम वाली बात चली जा रही है। कोई पुरुष जो बातचीत करने वाला हो वह यदि किसी विपरीत रोगी दुःखी के बाबत में कुछ पूछे तो उसके पूछने का ढंग यदि ऐसा हो कि पहिले तो इस ज्ञानी का नाम ले, पीछे फिर उस आत्मा का नाम ले उसमें इष्ट की सिद्धि होती है। जैसे कोई किसी बड़े के प्रति पूछे वैद्य जी हमारे अमुक को अमुक रोग है तो ठीक होगा या नहीं तो उत्तर उसका भला आयगा और कोई यों पूछे कि मेरा मुन्ना बीमार है बतावो वैद्य जी ठीक होगा कि नहीं? तो उसमें बताया है कि नहीं ठीक होगा। पहिले तो उस बड़े पुरुष का नाम लेकर पूछना चाहिए तो यह एक स्वरविधि से एक उपाय बताया है। इसके विपरीत रोग का नाम पहिले ले और उस बड़े आदमीका नाम पीछे ले तो उसमें इष्ट की सिद्धि नहीं कहा है। जैसे लोकव्यवहार में भी सम्भवतः यही विधि है कि पहिले बड़े का नाम ले, पीछे बात रखे, इसमें यद्यपि अभी स्वरविज्ञान की बात नहीं आयी लेकिन उसी से सम्बंधित केवल स्वरविज्ञान का अंग इस छंद में कह रहे हैं।

श्लोक-1384

जयति समाक्षरनामा वामावाहस्थितेन दूतेन।
विषमाक्षरस्तु दक्षिणादिव्क्संस्थेनास्त्रसंपाते॥1384॥

पूछने वाला पुरुष उसी का नाम रखा है दूत। यद्यपि दूत नाम बुरे का नहीं है लेकिन रूढ़ि में दूत शब्द बुरे नाम में लोग मानते हैं। जो यहाँ का वहाँ भिड़ाये उसे कहते हैं तुम दूती क्यों करते हो? लेकिन दूत

का अर्थ बुरा नहीं है। उसे तो दोगला या चुगला कहना चाहिए। दोगला चौगलाहोना और बात है दूत होना और बात है। दूत होते हैं बुद्धिमान पुरुष, विवेकीजन और चुगल होते हैं ऊधमी पुरुष। जिसके दो गले हों सो दोगला। एक बात उससे कहा, दूसरी बात दूसरे से, उसने अपने दो गले बना लिया, चौगला तो उससे भी बुरा है, उसने चार गले बना लिए। जैसे तिगड्ड होता है ऐसे ही चार जगह फिरना सो चौगड्ड। दूत नाम है किसी संदेश को भली प्रकार युक्ति पूर्वक विधि से उपस्थित करे उसका नाम है दूत। कोई दूत आकर जैसे किसी विषय में पूछे, उसके नाम के अक्षर यदि समान हैं, 2, 4, 6, 8 इन संख्याओं में है और वह प्रश्नकर्ता के बाईं तरफ खड़ा होकर पूछे और बायाँ ही स्वर समाधानकर्ता के चल रहा हो तो उसका समाधान यह है कि चाहे कितनी भी कठिन विपदा आये वह जीतेगा ही, और किसी ऐसे व्यक्ति के बारे में पूछें जिसके अक्षर 1, 3, 5, 7, 9 ऐसे विषम हों वह समाधानकर्ता के दाहिनी तरफ आकर पूछे और दाहिना स्वर चल रहा हो तो भी वही उत्तर है, जो पहिले का उत्तर है, और इसके विरुद्ध बात हो तो उसमें पराजय का समाधान है। यह सब स्वरविज्ञान में जो बात ज्ञान के परिचय की है वह बात कही जा रही है, पर जिसकी धुन केवल एक अध्यात्म आनन्द की है, केवल ज्ञानस्वरूप के अनुभव की है ऐसे पुरुष को इन बातों में रुचि नहीं जगती, उसकी एक ध्यानसाधना में प्राणायामसाधना में अथवा उस एकाग्र चित्त होने की स्थिति में जो श्वास निरोध चिरकाल तक होता रहा है उस परिस्थिति में ऐसी साधना बन जाती है, स्वरविज्ञान हो जाता है कि जिससे दूसरों का शुभ अशुभ भी बताया जा सकता है।

श्लोक-1385

भूतादिगृहीतानां रोगार्तानां च सर्पदष्टानां।

पूर्वोक्त एव च विधिर्बोद्धव्यो मान्त्रिकावश्यम्॥1385॥

जो बात अभी युद्ध के जय पराजय के सम्बन्ध में बताई गई है ठीक वैसी ही बात उन पुरुषों की भी है जो भूत आदिक से पीड़ित हैं, रोग से दुःखी है, सूर्य से डसे हैं, किसी विपत्ति में फँसे हैं। उनका भी समाधान इस ही प्रकार होगा, उस पीड़ित पुरुष के नाम के अक्षर समान हों और वह समाधानकर्ता के बायें ओर चलें तो समझिये कि सिद्धि है और नाम के अक्षर विषम हों और दाहिनी ओर आकर पूछे और दाहिना स्वर समाधानकर्ता का चल रहा हो तो वह शुभ है, इससे विपरीत शुभ नहीं है।

श्लोक-1386

पूर्णं वरुणे प्रविशति यदि वामा जायते क्वचित्पुण्यैः।

सिद्धयन्त्यीचिन्तितान्यपि कार्याण्यारभ्यमाणानि॥1386॥

इस स्वरविधि में मण्डल का ज्ञान करना कठिन है। इतना तो हर एक कोई देख लेगा कि हमारी श्वास दाहिनी चल रही है या बाईं, लेकिन मण्डल का ज्ञान करना कठिन है। यह श्वास पृथ्वीमण्डल की है अथवा किस मण्डल की है? इसका पता नहीं होता, परन्तु अभ्यास करने वाले पुरुष जो 10-20 दिन श्वास परीक्षा करते रहें तो उनको इस बात का अभ्यास बन जाता है। यदि वरुणमण्डल का पवन अर्थात् जलमण्डल की वायु पूर्ण होकर प्रवाहित हो रही हो अर्थात् श्वास निकालकर श्वास ली जा रही हो उस समय जिसका वायुस्वर चल रहा हो तो उसको अनेक कार्यों की सिद्धि बताई गयी है। स्वर कभी बहुत देर तक किसी एक ओर से नहीं चलता। सुबह किसी ओर से श्वास निकली, दोपहर को किसी ओर से। कदाचित् बहुत देर तक भी श्वास निकले और बायें ओर से निकले तो ठीक है। दाहिनी ओर से यदि बहुत देर तक निकलती रहे तो वह रोग अनिष्ट आपत्ति आदिक का सूचक है। अध्यात्म मार्ग में प्रवेश करने वाले अपने आपके आत्मतत्त्व में बहुत कुछ हित की बात परखने वाले पुरुष ऐसे कलावान होते हैं कि जिसमें अन्य-अन्य परिज्ञात सम्बंधी कलायें हुआ करती हैं। स्वरविज्ञान एक महानिमित्त विज्ञान है। श्रुत ज्ञान में जो महानिमित्तों का वर्णन है, जिससे देश का, व्यक्ति का शुभ अथवा अशुभ परख लिया जाता है उन निमित्तों में स्वरविज्ञान का बहुत ऊँचा स्थान है। जैसे ग्रह विज्ञान, चन्द्र सूर्य आदिक नवग्रह आदिक इनके विज्ञान से दृढ़ विज्ञान है सामुद्रिक शास्त्र का विज्ञान क्योंकि शरीर में कुछ विशेष चिन्ह होंगे वे शुभ और स्वलक्षण सुन्दर रचनावान होंगे तो वे उसके पुण्यभाव से, पुण्यकर्म से विशेष सम्बंध रखने वाले होते हैं तो जैसे ग्रहविज्ञान से सामुद्रिक शास्त्र का विज्ञान एक दृढ़ परिचय वाला है ऐसे ही स्वरविज्ञान भी एक दृढ़ परिचय वाला है। उस स्वरविज्ञान से ये सब शुभ और अशुभ की बातें बतायी जा रही हैं।

श्लोक-1387

जयजीवितलाभाद्या येऽर्थाः पूर्वं तु सूचिताः शास्त्रे।

स्युस्ते सर्वेऽप्यफला मृत्युस्थे मरुति लोकानाम्॥1387॥

जो पदार्थ पहिले बताये गए हैं लाभ के पक्ष के जीवन के वे सब यदि श्वास टूटते समय में पूछे जायें तो सब निष्फल हैं। एक खास बात जानने की यह है कि जब उत्कृष्ट निर्विकल्प उच्च ध्यान होता है योगी का तो उच्च ध्यान के समय में उस योगी के किसी एक स्वर से श्वास नहीं चलती। न बायें स्वर से और न दाहिने से, किन्तु मंद-मंद रूप में दोनों ही स्वरों से श्वास निकलती है और प्रायः नाक के मूल स्थान में जो दोनों नाक के बीच है वहाँ उस श्वास का विश्राम होता है, ऐसी स्थिति में समतापरिणाम, समाधिभाव, विशुद्ध ध्यान ठहरता है। यह भी एक शरीर की स्थिति से आत्मा के भावों का एक निमित्त संबंध है और प्रायः ऐसी आप कभी परीक्षा भी कर सकेंगे कि जिस समय बहुत शान्त चित्त होगा कोई व्यग्रता न हो, उदारता हो, समता हो, रागद्वेष की लहरें न उठ रही हों, पर पदार्थों में मोह राग न बसाया जा रहा हो, ऐसी स्थिति में स्वर एक सम चलेगा, मंद चलेगा और किसी भी एक स्वर का जब पक्ष न होगा। ऐसी स्थिति योगीश्वरों की होती है जब कि निर्विकल्प ध्यान कर रहे हों। ऐसे स्वर के समय में ध्यान की उत्कृष्टता बनती है यों कह लीजिए। जैसे मन प्रसन्न न हो, चिन्ता रहित न हो तो ध्यान की सिद्धि नहीं बनती, ऐसे ही जब स्वर सम न हो तो उस समय ध्यान की उत्कृष्टता नहीं बनती। ऐसे स्वर और ध्यान का निमित्तनैमित्तिक सम्बंध बन जाता है। ऐसे ध्यान का जो अभ्यास करता है वह पुरुष पद्मासन से परीक्षा कर बड़ी दृढ़ता से बैठकर और अपने शरीर को सीधा रखकर जो श्वास को प्राणायाम से भरकर धीरे-धीरे छोड़ी जाती है उस परिस्थिति में इस ध्यानी पुरुष की श्वास नाड़िका एकदम सीधी होने से एक तो लौकिक लाभ यह है कि शरीर स्वस्थ होता है, रोगादिक सब भाग जाते हैं फिर उस समय श्वास से यह श्वास जब निकलती है तब वह श्वास अगले भाग की नाड़ी में न जाकर तालू के भाग तक वह श्वास आती है, फिर तालू के बहुत पतले-पतले छिद्र से वह श्वास थोड़ी-थोड़ी निकलती है। ऐसी भी स्थिति योगी पुरुषों की होती है। इसी से कहते हैं कि अब यह योगी मूर्छा स्थान में पहुँच गया है। ये सब बातें ध्यान के समय स्वयमेव होती है। कोई प्राणायाम करता है, अभ्यास करता है, परिश्रम करता है तब उसका प्रभाव प्रकटहोता है पर तत्त्वज्ञानी पुरुष को जिसका ज्ञान वैराग्य विशुद्ध है उसके वह प्रभाव स्वयमेव प्रकट होता है। तत्त्वज्ञान होने से रागद्वेष की वासना न रहने से स्वयं ही ऐसी समता में स्वर चलता है और उस श्वास से शरीर का भी लाभ होता है और अध्यात्म लाभ भी होता है। उस ही लाभ के मार्ग में चलने वाले योगी कैसे स्वरविज्ञान प्राप्त कर लेते हैं उसकी बात यहाँ चल रही है। जो स्थिर कार्य हैं, शुभ कार्य हैं उन कार्यों को बाम स्वर के समय करे तो उसमें कुछ विशेष अनुरोध ऐसा होता है कि जिससे कार्य सिद्धि हो, और जो चलित कार्य हैं, क्षणिक कार्य हैं, भोजन आदिक जैसे कार्य हैं वे दाहिने स्वर से किए जायें तो वे भी अपना अच्छा प्रभाव दिखाते हैं। मूल में बात समझने की इतनी ही है। फिर इसमें पूर्ण नियम कुछ नहीं है अतएव उसकी और-और भी सूक्ष्मता से बातें बतायी जा रही हैं। यह सब

वर्णन उसी सिलसिले में चल रहा है कि किसी के इष्ट की सिद्धि होगी या नहीं, यह एक स्वरविज्ञान से बता दिया जाता है। यों कुछ प्रश्न और उनके उत्तर समाधान दिए गए हैं। जैसे मेघ आदिक का बरसना या कुछ पूछना— इन सबके उत्तर इस स्वरविज्ञान में आ जाते हैं।

श्लोक-1388

अनिलमवबुध्य सम्यक्पुष्पं हस्तात्प्रपातयेज्ज्ञानी।
मृतजीवितविज्ञाने ततः स्वयं निश्चयं कुरुते॥1388॥

अब जीवन और मरण का निश्चय करने का वर्णन किया जा रहा है। पवन से भली प्रकार से निश्चय करके ज्ञानी पुरुष अपने हाथ से पुष्प डाले उससे मृत का जीवित का ज्ञान किया जाता है। चार प्रकार के जो श्वास बताये हैं— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु पहिले तो इसका निश्चय करें अथवा पवनों के निश्चय करने का एक साधन पुष्प का रंग भी है, अथवा एक विश्राम से रहकर एक और अनेक के केन्द्र स्थान पर ध्यान लाने से जो रंग बिन्दु प्रतीत होता है उससे उन मण्डलों का निश्चय होता कि कौन श्वास किस मण्डल की निकलती है। तो रंगों से और वायु के स्वरूप से पहिले मण्डल का निश्चय करें, फिर उसमें इस प्रकार से मृत और जीवित का परिज्ञान करें।

श्लोक-1389

वरुणे त्वरितो लाभश्चिरेण भौमे तदर्थिने वाच्यम्।
तुच्छतरः पवनाख्ये सिद्धोऽपिः विनश्यते वह्नौ॥1389॥

जलमण्डल का पवन होने पर तो शीघ्र ही लाभ कहो। अपनी श्वास यदि जलमण्डल की चल रही है और उससे कोई किसी असाध्य रोग की बात पूछे कि इसको लाभ होगा क्या? तो उत्तर दो कि शीघ्र लाभ होगा और पृथ्वी का पवन हो तो कहो कि बहुत काल में लाभ होगा, कुछ समय लगेगा और पवनमण्डल का श्वास हो तो लाभ नहीं होता, बल्कि बिगाड़ होता है। यह चार श्वासों की पहिचान कुछ मुश्किल है, किन्तु पहिचान हो जाय तो यह सब शुभ अशुभ लाभ की बात को भी सुगमतया बता सकता है। पृथ्वीमण्डल की श्वास का प्रभाव अष्ट अंगुल तक बताया है, जलमण्डल का प्रभाव 12 अंगुल तक बताया है

और पवनमण्डल का प्रभाव 8 अंगुल तक और अग्निमण्डल का प्रभाव 4 अंगुल तक अर्थात् नाक से 4, 6, 8, 12 अंगुल दूर तक श्वास आये तो उससे उन मण्डलों की पहिचान होती है, साथ ही वह श्वास किस विधि से बह रही है, किस ओर जा रही है, इससे भी इस मण्डल का निश्चय होता है। तो जब जलमण्डल का श्वास बह रहा हो उस समय कोई पूछे तो कहना चाहिए कि इसको शीघ्र लाभ होगा और अग्निमण्डल का श्वास जो चार अंगुल दूर तक बहता है और तितरबितर कभी किसी कोने से, कभी किसी कोने से तो उस समय पूछे हुए प्रश्न का उत्तर होगा कि लाभ नहीं है।

श्लोक-1390

आयाति गतो वरुणे भौमे तत्रैव तिष्ठति सुखेन।
यात्यन्यत्र श्वसने मृति इहिवह्नौ समादेश्यम्॥1390॥

कोई पुरुष परदेश गया हुआ हो और उसका कोई प्रश्न करे तो प्रकार उत्तर होगा— प्रश्न करने वाला यदि जलमण्डल पवन में प्रश्न करे याने प्रश्न का श्वास शीतल जलमण्डल की मुद्रा का निकलता हो तो उत्तर होगा कि गया हुआ मनुष्य आता ही है। यदि पृथ्वीतत्त्व में प्रश्न किया, प्रश्न करने वाला श्वास की परीक्षा ले—यदि वह पृथ्वीतत्त्व में पूछ रहा है तो यह उत्तर होगा कि वह वहाँ ही रह रहा है जहाँ प्रदेश में गया है। यह उत्तर होगा। और कोई वायुमण्डल तत्त्व की श्वास में प्रश्न पूछे तो उसका उत्तर हो गा कि जहाँ रहता था वहाँ से कहीं अन्यत्र चला गया है और अग्नितत्त्व में कोई प्रश्न करे तो उसका अशुभ उत्तर होगा।

श्लोक-1391

घोरतरः संग्रामो हुताशने मरुति भङ्ग एव स्यात्।
गगने सैन्यविनाशं मृत्युर्वा युद्धपृच्छायाम्॥1391॥

कोई युद्ध के सम्बंध में बात पूछे— अमुक युद्ध में हमारा कोई गया है, युद्ध के सम्बंध में पूछे तो अग्नितत्त्व में तो यह उत्तर आयगा कि तीव्र संग्राम हो रहा है और वायुतत्त्व में भंग होना कहेंगे। और आकाशतत्त्व में सेवा के विनाश का उत्तर होगा। यद्यपि अभी तक कोई आकाशमण्डल का श्वास नहीं कहा है

तब संगति बैठालने के लिए तो यह उचित था कि युद्धतत्त्व में प्रश्न करे तब तो संग्राम अग्नि तत्त्व में विनाश और पृथ्वीतत्त्व में संग्राम का भंग होना बताया जा सकता है।

श्लोक-1392

ऐन्द्रे विजयः समरे ततोऽधिको वाञ्छितश्च वरुणे स्यात्।
सन्धिर्वा रिपुभङ्गात्स्वसिद्धिसंसूचनोपेतः॥1392॥

इस प्रकरण में सामान्यतया ऐसा निर्णय कर लेना चाहिए किसभी जगह प्रायः 4 मंडल होते हैं। जिनमें सबसे उत्तम जलमण्डल का श्वास है, जो श्वास शान्त शीतल बहती हो और साथ ही यदि श्वास बाम स्वर से चलती हो तो वह और भी उत्तम हो, ऐसी श्वास में प्रश्नकर्ता हो और साथ ही समाधानकर्ता भी इसी जलमण्डल की श्वास में हो तो शुभ ही उत्तर होगा। प्रत्येक दृष्टियों में लाभ होगा। पृथ्वीमण्डल में उससे कम लाभ की बात है। वायुमण्डल में उससे कम लाभ की अथवा समझिये कि हानि की बात है और अग्निमण्डल में पूर्णतया हानि की बात है।

अभ्यास करने से श्वास का परिज्ञान हो सकता है। इन लक्षणों को मिलाकर अपनी श्वास का मिलान करें और प्रश्नकर्ताओं को उसका उत्तर दें तो इस प्रयोग से श्वासमण्डल का सही परिज्ञान हो जाता है। पृथ्वीतत्त्व में कोई प्रश्न करे अथवा समाधानकर्ता हो तो संग्राम में विजय का उत्तर देवे। युद्ध में विजय होगा। कोई पूछे कि इस युद्ध में इसका क्या होगा? तो अपने श्वास का परिचय करें और प्रश्नकर्ता के श्वास भी देखें। यदि पृथ्वीमण्डल की श्वास चल रही हो जो कि एक साधारण उष्ण होगी, जिसका प्रभाव करीब 8 अंगुल तक चलेगा जो सीधे श्वास बनेगी यहाँ-वहाँ घूमकर नहीं। ऐसी श्वास के समय युद्ध की वार्ता पूछने पर उत्तर होगा कि संग्राम में विजय होगी, और वरुणपवन में कोई प्रश्न करे, जलमण्डल का श्वास हो जो शीतल और शान्त श्वास होगा तो उसका उत्तर होगा कि जितने विजय की आशा कोई करता हो उससे भी अधिक विजय होगा। यह श्वासों का परिज्ञान एक लौकिक लाभ को बताता है जिससे मुमुक्षुजनों का कुछ प्रयोजन नहीं है। किन्तु यह एक विद्या है, विज्ञान है, इस श्वास के परीक्षण से दूसरों का लाभ अलाभ बता सकते हैं। इससे साधारणतया यह समझना कि नाक के बायें स्वर में बहना स्वास्थ्य के लिए लाभ देने वाली है और बाहर में शुभ कार्यों को भी बताने वाली है, और दाहिने स्वर से चलित कार्यों की सिद्धि बतायी गई और स्थिरता के कार्यों में असिद्धि बतायी गई। यह तो एक स्वरविज्ञान में प्रथम मूल आधार है, फिर इससे

भी विशेष ठीक उत्तर जानना हो तो इसमें मण्डल की परीक्षा करें, जैसा कि अभी बहुत बार इसका स्वरूप आया है। उनमें से जलमण्डल में जो प्रश्न करें, तो उसका फल उत्तम है, पृथ्वीमण्डल में करे तो कम लाभ, वायुमण्डल में करे तो उससे कम लाभ अथवा हानि। वायुमण्डल में हानि बताना चाहिए। इनका सम्बंध कषाय और शान्ति से भी है। मनुष्य को तीव्र क्रोध के समय परख लेते कि दाहिने स्वर से वायु निकली होगी और समता से शान्ति से कोई बैठा हो तो उसकी श्वास बायें स्वर से निकलती होगी।

श्लोक-1393

वर्षति भौमे मघवान्वरुणेऽभिमतो मतस्तथाजस्रम्।

दुर्दिनघनाश्च पवने वह्नौ वृष्टिः कियन्मात्रा॥1393॥

पृथ्वीतत्त्व में तो मेघ का बरसना कहा। कोई प्रश्न करे कि मेघ बरसेगा या नहीं? तो श्वास यदि पृथ्वीतत्त्व से चलती हो याने श्वास चौकोर चलती हो, जो चारों ओर से फैली हुई सी निकलती हो, जैसे बैट्री की लाइट में जो केन्द्र स्थान रहना है वहाँ तो थोड़ा प्रकाश दिखता और बाहर में फैला हुआ चारों ओर प्रकाश रहता है, इसी प्रकार जो वायु चौकोर फैली हुई सी है, जिसमें कहीं तेज टक्कर सी नहीं लगती, ऐसी श्वास हो उसे पृथ्वीमण्डल की श्वास कहते हैं। ऐसी श्वास में कोई मेघ बरसने की बात पूछे तो स्वरविज्ञान के शास्त्र यह उत्तर देते हैं कि वर्षा होगी। तो जितनी वर्षा चाहिए उतना बरसेगाऐसा वरुण की श्वास में उत्तर आयगा। वरुणमण्डल मायने जलमण्डल। जिसकी पहिचान है कि श्वास निकलती है उसके बाहर में आकार अर्द्धचन्द्र की तरह बनता है। यदि नाक के सामने उल्टा हाथ लगाया जाय तो बीच में तेज प्रभाव पड़ेगा और अगल-बगल कम प्रभाव पड़ेगा, उसका आकार अर्द्धचन्द्र की तरह बन जाता है, और इसका प्रभाव दो अंगुल तक चलता है, ऐसे जलमण्डल में कोई प्रश्न करे अथवा समाधानकर्ता का यह स्वर हो तो उसका उत्तर होगा कि अच्छी वर्षा होगी। कोई पवनतत्त्व में पूछे तो यह कहना चाहिए कि दुर्दिन होगा। दुर्दिन ऐसा कि जिस दिन बादल खूब घिरे रहें, पानी न बरसे अथवा कभी-कभी थोड़ी बूँदा-बाँदी भी हो जाय। और अग्नि तत्त्व में कोई प्रश्न पूछे तो साधारण वृष्टि होना कहो जिससे न कृषकों को तृप्ति होती और न किसी की बेचैनी मिटती, ऐसा उत्तर आयगा।

श्लोक-1394

सस्यानां निष्पत्तिः स्याद्वरुणे पार्थिवे च सुश्लाध्या।
स्वल्पापि न चाग्नेये वाय्वाकाशे तु मध्यस्था॥1394॥

कोई मनुष्य धान्य की उत्पत्ति का प्रश्न करे कैसा अनाज पैदा होगा तो उसका भी उत्तर भिन्न-भिन्न स्वरों में भिन्न प्रकार होगा। कोई वरुणतत्त्व में प्रश्न करे अथवा पृथ्वीमण्डल में प्रश्न करे तो धान्य की उत्पत्ति ठीक होगी, यह उत्तर आयगा। और अग्नि तथा वायु तत्त्व में कोई प्रश्न करे तो अग्निमण्डल में तो यह कहे कि स्वल्प भी न होगा, वायुतत्त्व में प्रश्न हो तो उत्तर होगा कि मध्यस्थ होगा। न बिल्कुल नष्ट होगा और न बहुत होगा, इस प्रकार बताया जा सकता है।

श्लोक-1395

नृपतिगुरुबन्धुवृद्धा अपरेऽप्यभिलषितसिद्धयेः लोकाः।
पूर्णाङ्गे कर्तव्या विदुषा वीतप्रपञ्चेन॥1395॥

यह वशीकरण प्रयोग है। राजा, गुरु, बंधु अन्य लोग भी अपने मनोवाञ्छित कार्यों के लिए वश करना हो तो भरे स्वर में प्रपंचरहित, छलरहित पंडित पुरुषों को चाहिए कि वे इष्टदेव की आराधना करें, अर्थात् भरा स्वर चलता हो उस समय किसी के बात करने से वह प्रभावित हो जाया करता है। यद्यपि स्वर श्वास एक मनुष्य में उत्पन्न हुई है और वह है मुद्रा की पर्याय, शरीर का परिणमन, लेकिन जब शरीर में यह आत्मा बंधा पड़ा हुआ है तो इसके भावों का और शरीर के प्रभावों का कुछ निमित्त सम्बंध भी रहता है। जैसे कि जब कोई मनुष्य क्रोध करता है तो उसकी आँखें लाल हो जाती हैं, आँठ फड़कने लगते हैं, तो भाई बतावो कि आत्मा ने तो क्रोध किया और शरीर में यह क्या बन रहा है? तो जब शरीर और जीव एक बन्धन में पड़े हों तो शरीर की हरकत होने पर जीव में कुछ हरकत होती है, विकार होता है। कोई पुरुष मायाचार करने वाला हो, छल चुगली, यहाँ की बात वहाँ फैलाये, वहाँ की बात यहाँ फैलाये तो उसकी मुद्रा दबूपन जैसी होगी। एक शूरवीरता रहित होगा तो किया तो जीव ने अपराध और शरीर पर प्रभाव पड़ता है। तो जीव जैसे परिणाम करता है उसके अनुकूल असर पड़ता है शरीर पर। इसी तरह कोई शुभ बात गुजरना हो अथवा अशुभ बात

गुजारना हो उसके अनुकूल उसका संकेत करने वाली पवन चलती है, श्वास निकलती है, और जो इस स्वरविज्ञान के जानकार हैं उन स्वरो से इन सबका परिचय प्राप्त कर लेते हैं कि क्या होगा। ये अष्टाङ्ग जो महानिमित्त हैं उन निमित्तों में से एक निमित्त है यह भी श्रुतज्ञानका विषय है। यद्यपि शान्ति के अभिलाषी मुमुक्षु पुरुष को इन लौकिक चमत्कारों से कोई प्रयोजन नहीं है, लेकिन चमत्कार भी तो आत्मा की विशुद्धि से प्रकट होते हैं। जब आत्मा निर्मल बनता है, ध्यान में अधिक बढ़ता है तो उसमें लौकिक चमत्कार भी अपने आप प्रकट होते हैं। तो ध्यान की साधना में एक यह साधन प्राणायाम का बताया जा रहा है। इस प्राणायाम की साधना से आत्मा में एक ऐसे विज्ञान की स्फूर्ति होती है कि वह स्वरो को निरखकर दूसरों का शुभ अथवा अशुभ बता सकता है। इस सम्बन्ध में अब तक ध्यान देने योग्य बात इतनी कही गई है कि प्राणायाम में 3 प्रयोग होते हैं— पूरक, कुम्भक, रेचक। जिसे अपने शरीर की साधना हो वह इन तीन प्रयोगों को करे और फिर उसे नाभिस्थान में भीतर रोके। जितना रोका जा सके, रोकने के बाद फिर धीरे-धीरे श्वास से उस हवा को छोड़े तो यह है प्राणायाम की विधि। इससे जितना अधिक वायु को रोकने की प्रकृति बनेगी उतनी ही मन की एकाग्रता होगी। तो विधिविधान में फिर इस प्राणायाम की सुनिये कि साधना तो हुई, पर साधना होने पर भी इस विषय का परिचय न होने से शुभ अशुभ न बताया जा सकेगा। अब इससे शुभ और अशुभ बात बताने के स्वरो का भी संकेत समझ लेना चाहिए। स्थिर कार्यो में, शान्ति के कार्यो में, बहुत बड़े कार्यो में जो शान्तिपूर्वक बनना चाहिए उनमें बामस्वर का श्वास निकलना शुभ माना है और जितने भी चल सम्पत्ति के कार्य हैं— लौकिक, यश, इज्जत, प्रतिष्ठा आदिक जितने भी ये कुछ समय के लिए कार्य हैं वे कार्य सिद्ध कहना चाहिए। यदि दक्षिण स्वर से श्वास निकलती हो इसमें भी चारों मण्डलों की परीक्षा करें, फिर उन मण्डलों के हिसाब से शुभ अशुभ सगुन असगुन की बात बतावें। इस प्रकार स्वरविज्ञान में कुछ भूत की, कुछ भविष्य की बातों का शुभ अथवा अशुभ है इस प्रकार से बतला सकते हैं। सीधा लाभ तो प्राणायाम से यह है कि मन की चंचलता मिट जाती है और ध्यानोपयोग ज्ञानस्वभाव में लगता है। मुमुक्षु का प्राणायाम की साधना में इसी कारण उपयोग चला करता है।

(इसके बाद के 104 श्लोकों के प्रवचनों की कापी गुम गई है, अतः 1495 श्लोक से प्रवचन प्रकाशित हो रहे हैं।)

(1395 के बाद के 104 श्लोकों के प्रवचनों की कापी गुम गई है, अतः1495 श्लोक से प्रवचन प्रकाशित हो रहे हैं।)

यदज्ञानाज्जन्मी भ्रमति नियतं जन्मगहने,
विदित्वा यं सद्यस्त्रिदशगुरुतो याति गुरुताम्।
स विज्ञेयः साक्षात्सकलभुवनानन्दनिलयः,
परं ज्योतिस्त्राता परमपुरुषोऽचिन्त्यचरितः॥1495॥

जिस पुरुष ने अपने आत्मा का स्वरूप नहीं जाना उस पुरुष ने परमात्मतत्त्व को भी नहीं जाना। कारण यह है कि परमात्मा हो या निज आत्मा हो आत्मा है, चैतन्यस्वरूप है। जब तक उस चैतन्यस्वरूप की सुध नहीं होती है तब तक न उसने परमात्मा न आत्मा जाना। इस कारण से निज आत्मतत्त्व को जानना चूँकि सरल है, खुद के ही निकट है, खुद है, अपने आपको पहिचान सकता है। अतः आत्मतत्त्व को जाने जिससे कि परमात्मा का तत्त्व भी समझ में आये। आत्मा तीन अवस्थाओं में रहता है— बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। अपने आपके स्वरूप से बाहर जो परतत्त्व हैं, देह हैं, रागादिक भाव हैं उनमें जो आत्मारूप से प्रतीति करे उस जीव को बहिरात्मा कहते हैं। और जो बाहर के तत्त्वों में आत्मप्रतीति न करके अपने ही अन्तःस्वरूप में 'यह मैं हूँ' इस प्रकार आत्मप्रतीति करे उसे अन्तरात्मा कहते हैं। और अन्तरात्मा बनकर अपने ही अन्तः विराजमान परमब्रह्मस्वरूप की आराधना करके जो समस्त कर्ममलों का क्षय कर देते हैं, घातिया कर्मों का विनाश कर देते हैं और जो अष्ट कर्मों का भी नाश कर देते हैं वे परमात्मा कहलाते हैं। तो बहिरात्मा हो या अन्तरात्मा हो या परमात्मा हो चैतन्यस्वरूप सबका है। उस चिदानन्दस्वरूप के नाते वे सब एक ही चैतन्य जाति के हैं। मैं चेतन हूँ, ज्ञानदर्शनात्मक हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, इस प्रकार अपने आपकी सुध आये तो परमात्मा का भी ज्ञान हुआ समझिये। अपने आपमें अपने आपका बोध नहीं है तो वह भी परमात्मा का क्या चिन्तन करे? यों तो दुनिया के सभी लोग कहते हैं— भगवान है। जब दुःख आता है तो सभी लोग भगवान का स्मरण करते हैं। कुछ कल्याण की इच्छा होती है तो भगवान की उपासना में जुटते हैं, लेकिन भगवान को समझा किसने? जिसने आत्मा के सहज स्वरूप को नहीं जाना उसने परमात्मा को समझा ही नहीं है। आत्मतत्त्व के जाने बिना जो लोग परमात्मा की, भगवान की चर्चा करते हैं उनके उपयोग

में भगवान या तो मनुष्य के रूप में या मनुष्य से बड़ा विलक्षण चार हाथ हो गए हों, कई मुँह हो गए हों, भयंकर सर्प भी लिपटे रहते हैं, बड़े विचित्र वेष-भूषा में निरखते रहते हैं। जैसे बरात बहुत सी हैं उसमें दूल्हे का भेष विलक्षण होता है। और इतना विलक्षण कर देते हैं कि खजूर के पत्ते सिर पर लदे हैं और पत्तियों से कसे हुए हैं। कुछ भेष विलक्षण कर दिया जाता है ताकि, लोक में यह पहिचान हो कि यह दूल्हा है। यों ही लोगों की कल्पना में कोई विलक्षण भेष वाला भगवान है। जो मनुष्यों से कुछ निराला दिखे, सर्प लपेटे हों, भस्म लपेटे हो, खप्पर बाँधे हो, डमरू, त्रिशूल, चक्र कोई विलक्षणता ऐसी थोपी गई है कि जिससे मालूम पड़े कि यह मनुष्यों से निराला कोई खास व्यक्ति है।

भगवान उनके उपयोग में रहता है जिन्होंने अपने आत्मा के सहजस्वरूप का परिचय किया है। वे पुरुष सशरीर परमात्मा में भी, अरहंत परमेष्ठी में भी, जिनका कि समवशरण के रूप में मध्य गंध कुटी में विराजमान मनुष्यवत् किन्तु परमौदायिक शरीर में बस रहे हैं उस परमात्मा में भी न तो शरीर को निरखते हैं, किन्तु आत्मा में जो निर्दोषता है, सर्वज्ञता है, बड़ाई का विकास है उसको परमात्मा निरखते हैं। जिसने अपने आत्मा का परिचय किया है वह ही परमात्मा को जानता है, इस कारण आत्मा जैसा है तैसा प्रथम निश्चय को करो। क्या इस आत्मा का सहजस्वरूप नरक तिर्यञ्च मनुष्य देव रूप भ्रमण करते रहने का है। ये तो विकार हैं, माया है, यह एक विचित्र औपाधिक परिणमन है, उस रूप में नहीं हूँ। क्या मुझमें जो कषायें उत्पन्न होती हैं, रागादिक भाव मन मोह किया करते हैं— क्या इस रूप में हूँ? अरे ये तो मलिन भाव हैं, औपाधिक भाव हैं, ये तो होते हैं और क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। भले ही होते हैं, ये भी नष्ट होते हैं। इनके होने की परम्परा बनती रहती है, यह तो अकल्याण की बात है। पर पर्याय के स्वरूप को निरखा जाय तो कोई भी परिणमन रागद्वेष ईर्ष्या विचार मनन चिन्तन किसी भी प्रकार का परिणमन उत्पन्न होने के बाद दूसरे समय में खतम होते हैं, वे मैं नहीं हूँ, मैं देह नहीं। यह एक असमानजातीय व्यञ्जन पर्याय है। मैं रागादिक भाव नहीं। मैं तो एक सहज चैतन्यशक्ति मात्र हूँ, एक मेरा स्वरूप है, स्वभाव है, इस प्रकार जिसने अपने आपके आत्मस्वरूप का निर्णय किया है वह ही परमात्मा में यह तत्त्व निरख सकता है। यही स्वरूप जहाँ पूर्ण निर्दोष होता है, पूर्ण विकास को लिए हुए होता है वही परमात्मतत्त्व है। यह आत्मा परमात्मा बन सकता है या नहीं इस संबंध में विचार करें तो यह बात स्पष्ट है कि जब आत्मा में रागादिक बढ़ते हुए, घटते हुए लोक में पाये जाते हैं, किसी आत्मा में रागभाव कम हैं, किसी में और कम हैं, और वे रागादिक स्वरूप नहीं हैं, विभाव हैं, पराश्रयज हैं, पर का आलम्बन लिए बिना नहीं बनते हैं। तो जो पराश्रित हैं, जिनमें घटा बढ़ी देखी जाती है तो यह अवश्य सम्भव है कि कोई आत्मा ऐसा भी बन सकता है कि रागादिक भाव उसमें बिल्कुल नहीं रहे। जब हम देखते हैं कि आत्माओं में यह ज्ञान और आनन्द किसी में कम है, किसी में अधिक है, जितना-जितना पर का सम्बंध हटाया जाय उतना-उतना आनन्द बढ़ता है। तो घर के सम्बंध बिना

जो चीज बढ़ती है वह स्वभावरूप है। जब ज्ञान की वृद्धि हम अनेक आत्माओं में निरखते हैं तो यह भी है कि ऐसे भी आत्मा हो जाते हैं कि जिनमें ज्ञान का पूर्ण विकास है। यह सब निर्णय वह ज्ञानी करता है जिसने अपने आपके सहज चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व की प्रतीति की है। अपने शुद्ध स्वरूप के बोध बिना परमात्मा का निर्णय हो नहीं सकता। कोई आत्मा को जानता न हो, परमात्मा का निर्णय करने जाय तो वह परमात्मा को कर्ता के रूप में, अवतार लेने के रूप में, नाना चरित्र दिखाने के रूप में परमात्मा को ग्रहण करता है। पर भला बतलावो कि परमात्मा को नाना चरित्र दिखाने की क्यों इच्छा हुई? यहाँ जब इच्छा से दुःखी हैं तो इच्छा का जो काम है, स्वरूप है, इच्छा का जो तो प्रभाव है वह तो रहेगा ही। तो जैसे हम यहाँ दुःखी हैं वैसे ही परमात्मा भी दुःखी हो गया। जैसे हम यहाँ दुःखों के कारण नाना चरित्र करते हैं यों ही दुःख के कारण उन दुःखों की शान्ति के लिए उसने भी चरित्र किया। भले ही इतना अन्तर रहे कि हम छोटे कार्य कर सकते हैं, उसने कोई बड़ा कार्य किया हो, पर परमात्मत्व क्या हुआ? जिसने आत्मा के स्वरूप को न जाना वह परमात्मा को नाना भेषों में निरखा करता है और ऐसा निरखने से उन्हें अशान्ति ही रहती है। चूँकि आत्मस्वरूप के जाने बिना परमात्मा के स्वरूप का निर्णय नहीं होता, अतः आत्मस्वरूप अवश्य जानना चाहिए।

श्लोक-1496

आत्मतत्त्वानभिज्ञस्य न स्यादात्मन्यवस्थितिः।

मुह्यत्यन्तः पृथक् कर्तुं स्वरूपं देहदेहिनोः॥1496॥

जिन्होंने आत्मतत्त्व को नहीं जाना ऐसे पुरुषों के अपने आत्मा में स्थिति न बनेगी। जब अपने आत्मा में स्थिति न बनेगी, उस सत्त्व स्वास्थ्य का परिचय न होगा तो वह आनन्दानुभूति, वह आत्मानुभव न प्राप्त हो सकेगा जिसके बल पर परमात्मा के स्वरूप को जान सकते हैं। जो आत्मतत्त्व को नहीं जानता वह कैसे बाह्य पदार्थों से हटकर आत्मा में अवस्थित रह सकता है? इस देह में जितने विविध प्रकार पाये जाते हैं उनमें यह अज्ञानी पुरुष फँस जाता है। प्रथम को यह जीव अपने शरीर को ही मानता कि यही मैं सब कुछ हूँ और इसी मान्यता के कारण लोक में यह अपनी पोजीशन चाहता है क्योंकि इसने इस देह को ही आत्मा माना। तो जितने देह बीतते हैं उनको मानता है ये परजीव हैं। जब इस देह में यह मैं जीव हूँ तो बाह्य में जितने हैं वे सब परजीव हैं। जीव का तो असली स्वरूप है वह अपने को न जानने से न अपने में भान कर सके और न पर में। इन इन्द्रिय रूप ही यह अपने को जान लेता है। इस देह को ही 'यह मैं हूँ' ऐसा समझ

लेने से ये सारे ऐब आ जाते हैं। और जो जानते हैं कि यह मैं आत्मा तो केवल एक चैतन्यमात्र हूँ, करता भी कुछ नहीं, किसी बाहरी चीज को भोगता भी मैं नहीं। मेरा परिणमन होता है, इतना मात्र तो मेरा कर्तापन है और जो मेरा परिणमन होता है वही मात्र मेरा अनुभवन है। इतना ही मेरा भोक्तापन है। तत्त्वतः मैं अपने आपके स्वरूप में अपने गुणोरूप परिणमूँ इसके सिवाय मैं अन्य कुछ करने वाला नहीं हूँ, कर नहीं सकता। बाकी जो दुनिया में दिखता है वह सब एक निमित्तनैमित्तिक भाव की परम्परा में सब बना हुआ दिखता है। वहाँ पर भी स्वरूप दृष्टि करें तो प्रत्येक जीव का परिणमन उनका उनमें ही होता है। इससे बढ़कर और क्या दृष्टान्त रखा जाय? लोग बोल रहे हैं। कितने ही ढंगों से लगातार शब्द बोले जा रहे हैं। लोग तो यह ख्याल करते हैं कि इन्होंने बोला, पर यह बोल भी आत्मा की करतूत नहीं है। अब इसका निकट सम्बंध देखने जायें तो विदित हो जायगा। वचन रूप कौन परिणमा? जीव नहीं परिणमा। कोई सूक्ष्म एक ऐसा झार के योग्य पदार्थ है जिसमें शब्दरूप परिणमा। जब हम बोलते हैं तो शब्द का घात होता है। घात वह कर सकता है जो स्थूल हो। जोर से बोले तो कान में ठोकर लगेगी। हाथ बाँधकर बोले तो हाथ में महसूस होगा। यह सब कोई घात कर सकने वाला स्थूल पदार्थ है। यद्यपि आँखों से नहीं दिखता, पर आवरण न होता तो यह घात न होता। ये वचन तो रिकार्ड में भी रोक दिये जाते हैं। अब वे वचन रिकार्ड में किस रूप आ गये? वहाँ यद्यपि वचन नहीं है लेकिन यंत्र में वचनरूप परिणमन बनता है। फिर भी वे वचन पकड़े तो गए हैं। ये वचन यंत्रों में रोक भी तो दिये जाते हैं। तो ये वचन आत्मा के काय के कार्य नहीं हैं किन्तु ये मूर्त पदार्थ के कार्य हैं।

जैनसिद्धान्त में भाषावर्गणा जाति के पुद्गलों का परिणमन बताया गया है। अब उसके निकट वाली बात देखो। भाषावर्गणा का यों वचनरूप परिणमन कैसे बना? वह बना जिह्वा तालू मूर्धा कंठ आदिक के निमित्त से। इन साधनों के निमित्त से यह विषय बोलने की क्रिया बनी। वह किस निमित्त पर बनी? क्यों बनी? ये तालू तो चलते रहते हैं, इसमें क्रिया क्यों हुई? इसके मायने हैं कि ये जिह्वा तालू आदि अंग हैं। इनमें वायु की प्रेरणा हुई। वायु की प्रेरणा से ये चल उठे। इन अंगों में वायु की प्रेरणा क्यों हो गई? उसका उत्तर है— इन समस्त अंगों में आत्मा बसा हुआ है। यद्यपि आत्मा अमूर्त है, फिर भी निमित्तनैमित्तिक बन्धन में यह पड़ा हुआ है। और उस आत्मा में जब योग होता है, प्रदेश परिस्पंद होता है तो उस योग की प्रेरणा पाकर उसका निमित्त पाकर शरीर में उस प्रकार की वायु चल उठती है। जिस किसी पुरुष को लकवा मार जाता है उसके अंग क्यों नहीं चलते? तो निमित्त भी चाहिए और उपादान की योग्यता भी चाहिए। अब कोई एक यह प्रश्न कर सकता है कि अंग इसी तरह क्यों चलते हैं? अरे इस प्रकार के योग होते हैं अतः चलते हैं। उस ही प्रकार के योग क्यों होते हैं? उसका कारण है इच्छा। जिस प्रकार की आत्मा में इच्छापरिणति होती है उसके अनुकूल आत्मा में योग परिस्पंद होते हैं। अब देखिये— योग से शुद्ध होता है आत्मपरिणमन। इसके आगे जो कुछ कहा गया वह सब पौद्गलिक परिणमन है। अब इच्छा हुई जिस प्रकार की उस प्रकार

का योग हुआ। उसका निमित्त पाकर शरीर में वायु का संचार हुआ। वायु से शरीर के यंत्र चलते हैं। उसके चलने से भाषावर्गणा से शब्द का परिणमन हुआ। यहाँ हम बोलने तक के भी कर्ता नहीं हैं। केवल एक योग बना, इच्छा बनी, उपयोग बना, इतने मात्र के कर्ता हैं, इसके आगे हम करने वाले नहीं हैं, यह बात चित्त में बैठ जाय तो यह परीक्षा करके निर्णय में आने वाली बात है। ऐसा यह तत्त्व विभक्त अंतस्तत्त्व अपनी दृष्टि में आये तो यह आत्मा अपने आपमें स्थित हो सकता है। समस्त परतत्त्वों से उपेक्षा करके केवल एक अपने इस शुद्ध चैतन्य भाव में रह सके और जिन्होंने आत्मा की ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लिया उन पुरुषों ने ही परमात्मतत्त्व को जाना, उन्होंने ही परमात्मतत्त्व का मर्म समझ पाया, और ऐसे ही पुरुष उस परमात्मतत्त्व की आराधना करके परमात्मा बन जाते हैं। छहढाला में पंडित दौलतरामजी कैसा बोलते हैं कि 'बहिरात्म को हेय जानकर अन्तरात्मा हुजे। परमात्म को ध्येय निरन्तर जो नित आनन्द लीजे।।' यों परमात्मा का स्वरूप जानने के लिए अपने आपको अपने आनन्दस्वरूप में प्रतिष्ठित करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने आत्मा के स्वरूप को जानें और यह जानना सुगम है चूँकि हम स्वयं आत्मा हैं, स्वयं ज्ञानमय हैं। जैसे हम इस आत्मा का प्रयोग बाह्यपदार्थों पर करते हैं और जब हम बाह्य पदार्थों पर उपयोग न करें, अपने आप पर जानते रहें तो हम अपने आपको जान सकते हैं। अपने आपका निर्णय करने पर हमारा सारा भविष्य निर्भर है। हम क्या बनें, क्या न बनें, सुखी रहें अथवा दुःखी रहें, यह सब सृष्टि हमारे आपके आत्मतत्त्व के निर्णय पर निर्भर है।

श्लोक-1497

तयोर्भेदापरिज्ञानान्नात्मलाभः प्रजायते।

तदभावात्स्वविज्ञानसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा॥1497॥

शरीर और आत्मा का जब तक भेदविज्ञान नहीं होता तब तक आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। आत्मा ज्ञान में आने का ही नाम आत्मा की प्राप्ति है। आत्मा कहीं मूर्तिक तो है नहीं, जो ढेला पत्थर की तरह कहीं पा लिया जाय। आत्मा तो लक्ष्य में आया, उपयोग में आया, परिचय में आया जैसा कि यह सच्चिदानन्दस्वरूप सहजस्वभाव से है उसी स्वरूप आत्मा की प्राप्ति है। तो ऐसी आत्मप्राप्ति देह और आत्मा का भेदविज्ञान जब तक नहीं हो सकता है तब तक नहीं हो सकता है। इस जीव के देह में अनादि परम्परा से आत्मबुद्धि लगी आयी है। जब देह से आत्मबुद्धि छूटे तब ही यह सम्भव है कि अपने आत्मा की प्राप्ति होगी और आत्मबुद्धि कब छूटे, जब यह सुविदित हो जाय कि देह जुदा है और आत्मा जुदा है। जब कभी ऐसी

बुद्धि बने तो समझिये कि हम अपनी रक्षा कर रहे हैं। और जब अपने आपसे चिगकर किसी पर में उपयोग लगाया तो समझना चाहिए कि हम आत्मघात कर रहे हैं। परपदार्थों में उपयोग लगा रहे यह तो है आत्मघात और अपने आपके स्वरूप में उपयोग लगे यही है आत्मरक्षा। अब विचार करें कि आत्मघात में हमारा कितना समय व्यतीत होता है और आत्मरक्षा में कितना समय व्यतीत होता है? जहाँ परपदार्थों में उपयोग बसा वह तो आत्मघात है और जहाँ परपदार्थों में उपयोग न जाय वह आत्मरक्षा है। जहाँ आत्मघात है वहाँ विह्वलता है और जहाँ आत्मघात नहीं है वहाँ विह्वलता नहीं है। जब कभी दुःखी हों, समझना चाहिए कि हम अपने आत्मदेव पर प्रहार कर रहे हैं तब दुःखी हो रहे हैं। कल्पनाएँ करता हूँ जीव और जिस चाहे स्थिति में अपने को दुःखी अनुभव करने लगता है। विषयभोगों में स्थिति हो तो उसमें भी यह जीव शांति की बात नहीं ढूँढ़ निकाल पाता? किसी के पास बड़ा मौज हो, आय का जरिया भी अच्छा बना हो, बड़ा धन है, लेकिन वहाँ भी वह ऐसी बात ढूँढ़ निकालता है कि जिससे उसमें दुःख की वेदना हो जाती है। भय लगा ले, शंका कर ले, पर करोड़पतियों पर दृष्टि देकर वह अपने को दीन अनुभव करेगा। कोई न कोई ऐसी बात वह ढूँढ़ निकालता है कि जिससे दुःखी होता रहता है। जिसके गुस्सा करने की आदत पड़ी है तो कुछ भी न हो तो अपने बच्चों पर घर पर, किसी न किसी पर अपनी गुस्सा निकाल लेता है। तो इस जीव की आदत दुःख की वेदना की पड़ी हुई है और इसलिए यह सदा दुःखी रहता है। जो शान्ति का आधार है, जहाँ शान्ति का परिणाम हो सकता है वह मैं स्वयं हूँ। इस अपनी बात को पकड़ता ही नहीं। हालांकि कभी धर्म के भाव से यह पूजन करता, यात्रा करता, पर यात्रा करते हुए मैं यह भान रहे कि जिन्होंने ज्ञानदृष्टि करके संसार से मुक्ति पायी उनके हम उन चिन्हों को देखने जा रहे हैं ताकि उनकी सुध आये और हम उससे अपने लिए सबक सीखें, हम ज्ञानदृष्टि बनायें, अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करें, आत्मतत्त्व की प्राप्ति करें और सुखी हों।

ज्ञानदृष्टि का ध्येय इस जीव को धर्मपालन में अवश्य होना चाहिए। तो जब शरीर और आत्मा में यह जीव भेदविज्ञान कर लेता है तो शरीर को निरखता है कि शरीर मैं नहीं हूँ, यह मैं तो केवल एक ज्ञानप्रकाश हूँ। यद्यपि जब कभी चिंताएँ या अन्यमनस्क हो जाते हैं तो आत्मा की सुध लेना कठिन है, लेकिन जिनका पक्का निर्णय है कि आत्मा की सुध लेने से ही कल्याण है वे बना बनाकर बड़ी कठिनता से अपने उपयोग को उस ओर ले जाते हैं जहाँ यह अनुभव बने कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान को ही करता हूँ, ज्ञान को ही भोगता हूँ। ज्ञान के सिवाय न किसी का कर्ता हूँ और न भोक्ता हूँ। भीतर में दृष्टि देकर देखें शरीर का भी मान छोड़कर, अपने आपके अन्दर देखें, शरीर का भी भान छूट जाय, यह बात हो सकती है और ऐसा भान करने के लिए जो आसन बताये गए हैं। उन आसनों में सब अंग भिन्न-भिन्न पड़े हुए रहते हैं। अर्थात् एक अंग से एक अंग का स्पर्श कर लें। जैसे एक हाथ से दूसरा हाथ छूकर बैठे या

जंघावों पर अपने हाथ का आधार बनाकर बैठे तो वह भी एक देह के ख्याल बनाने का एक कारण बन जाता है। तो ध्यान के आसन ऐसी पद्धति के होते हैं कि जहाँ एक अंग को दूसरा अंग छुवे जैसी बात चित्त में नहीं रहती और उस स्थिति में इस देह का भी भान नहीं रहता। भीतर ही केवल एक अपने आपको ज्ञानस्वरूप से अनुभव करें तो वहाँ देह की कुछ सुध नहीं है। एक आत्मज्योति का ही विकास है, उसका ही उपयोग है ऐसे आत्मा की प्राप्ति होना यह भेदविज्ञान पर ही निर्भर है। यदि भेदविज्ञान नहीं है तो आत्मा का लाभ भी नहीं है। जैसेचावल सोध रहे हों तो चावल अलग है और कूड़ा करकट अलग है। चावल का ज्ञान है तब भेदविज्ञान है। भेद का विज्ञान है तब चावल का ज्ञान है। जहाँ यह मालूम है कि यह कूड़ा है, यह मिट्टी है, वहाँ चावल का ग्रहण है, जहाँ यह विदित हुआ कि यह चावल है तो उसके सिवाय शेष कूड़ा है। तो भेदविज्ञान से लक्ष्यभूत का परिचय होता है और लक्ष्यभूत का परिचय होने से भेदविज्ञान होता है। ये दोनों परस्पर साथी हैं। जब आत्मा का लक्ष्य न हो यों भेदविज्ञान की उत्पत्ति भी न हो सकेगी। अनेक-अनेक प्रयत्न करके कुछ समय तो यह अनुभव आना ही चाहिए कि सब समागम मेरे लिए अहितरूप हैं, मेरा हित मेरे आत्मा की साधना में ही है। जिन जिनमें राग पड़ रहा है, जिन जिनमें हम बसा करते हैं वे सब हमसे भिन्न हैं।

श्लोक-1498

अतः प्रागेव निश्चयः सम्यगात्मा मुमुक्षुभिः।

अशेषपरपर्यायकल्पनाजालवर्जितः॥1498॥

इस कारण जो मुमुक्षु लोग हैं, जिन्हें संसार के संकटों से छुटकारा प्रिय है उनको यह सर्वप्रथम निश्चय करना चाहिए कि सामान्य परद्रव्यों की कल्पना से रहित यह मैं आत्मा हूँ, अपने स्वरूप को उपादेय करके परिणमता रहता हूँ। मैं अपने ही प्रदेशों में व्यापकर अपने ही गुणोंरूप परिणमा करता हूँ। शेष अन्य द्रव्य वे अपने ही प्रदेश और गुणों के आधार में परिणमा करते हैं। मैं आत्मा ज्ञान ज्योतिमात्र हूँ। मेरा कोई नाम ही नहीं है जो हमें एक सम्मान और अपमान करने का कारण बने। वास्तविकता यह है कि जो अपने आपमें नाम की कल्पना करता है वह सर्वप्रथम तो इस पुद्गल पिण्ड को निरखता है। इस पुद्गल पिण्ड को निरखे बिना नाम की कल्पना नहीं बनती। सहज चैतन्य स्वभावमात्र जीव का कोई नाम नहीं लिया करता, क्योंकि वह खुद नामरहित है और जब परिचय में आता तब नाम लेने की प्रवृत्ति ही नहीं रहती। तो नाम की कल्पना एक मूर्तिक पर्याय में है, और जहाँ इस देह में आत्मबुद्धि लगाया तो परदेह ये अन्य-अन्य जीव हैं ऐसी बुद्धि लग जाती है और फिर पोजीशन की पड़ जाती है। तभी ये क्रोधादिक कषायें उत्पन्न होने

लगती हैं, उसका जीवन दूभर हो जाता है। अपने आपमें 'मैं निर्नाम हूँ' ऐसा अनुभव जगना चाहिए। मैं वह हूँ जो सबमें है। रागादिक भाव एक स्वरूप तो नहीं हैं। अतः रागादिक मैं नहीं हूँ। जो मैं हूँ वही सब जीव कुछ-कुछ एक स्वरूप हैं। फिर नाम क्या? जब सभी एक समान हो गए तो अब कौन रहा अलग? किसकी जीत रही? वहाँ सब नामरहित हैं, जिनका नाम भी नहीं। केवल ज्ञान और आनन्दभाव रूप है वह मैं आत्मा हूँ। ज्ञानभाव और आनन्दभाव और उन दोनों में भी मात्र ज्ञानभाव मैं आत्मा हूँ। उस ज्ञानभाव का अनादि से सम्बंध है। अनादि का अविनाभावी है, क्योंकि जो कुछ भी हममें अनुभव होता है वह एक ज्ञान के द्वारा ही अनुभव होता है। तो इस दृष्टि में यदि यह कह दिया जाय कि सुख भी ज्ञान है, दुःख भी ज्ञान है तो कुछ अत्युक्ति नहीं है, क्योंकि जिस समय सुख हो रहा है उस समय इस जीव के ऐसी कल्पनारूप परिणति चलती रहती है ज्ञान में कि यह कल्पना में सुखी हुआ करता है।

जब कभी दुःख हो तो वहाँ भी यह देखना चाहिए कि कोई कल्पना ही की गई है जो दुःख रूप से अनुभवी जा रही है। अन्य बात से सुख और दुःख नहीं है। वह सुख दुःख परिणमन भी एक ज्ञान का विशिष्ट परिणमन है। मैं ज्ञानमात्र हूँ। संसार अवस्था में भी उस ज्ञान को कर रहा हूँ, मुक्त अवस्था में भी उस ज्ञान को करूँगा, दुःख अवस्था में भी मैं उस ज्ञान को कर रहा हूँ। शान्ति समता की स्थिति में भी उस ज्ञान को ही किया करता हूँ। ज्ञान उसका अविनाभावी गुण है, वह गुण छूट नहीं सकता। मेरा जो कुछ जाननरूप परिणमन है उसमें ही अनेक कलायें बसी हुई हैं, कल्पनाएँ चल रही हैं किन्तु हम कभी सुख और कभी दुःख का अनुभवन करते हैं। ज्ञान के सिवाय और किसी पर मेरा अधिकार नहीं, करतूत नहीं, कोई वश नहीं चलता। मैं एक ज्ञानमात्र हूँ— इस प्रकार का परिचय हो तो आत्मा की प्राप्ति है। इस स्थिति में किसी भी पर से या पर की पर्याय से इसका सम्बंध नहीं है। सबसे निराला एक ज्ञानमात्र मैं आत्मतत्त्व हूँ, यह बराबर लक्ष्य में रहना चाहिए, जिससे अशान्ति दूर हो और आनन्द प्रकट हो और एक ऐसा रास्ता मिले जो संसार के संकटों से हमें छुटा दे। हम आत्मा का ग्रहण करें, ध्यान करें, चिन्तन करें, उपयोग न लगे तो भी मैं हूँ, ऐसा मन में बोल बोलकर उपयोग लगाने का यत्न करें। जैसे कभी कोई निबंध लिखने का मन में हो और दिमाग में कुछ भी बात न उपजे, मैं क्या लिखूँ, तो उस समय अपनी कलम दवात लेकर कागज पर कुछ लिखने बैठे तो कुछ समय बाद दिमाग में उपज जाता है और वह लिखने लगता है। तो ऐसे ही हमें आत्मानुभव दुस्तर लग रहा है, लेकिन आत्मा की उपासना है, आराधना है तो हम प्रयत्न करके उस आत्मा की चर्चा करने लगे, उस पर कुछ बोलने लगे। तो हमें उस प्रसंग में आत्मा की सुध आ सकती है। हमारा कर्तव्य है कि हम यदि संसार के दुःखों से छूटना चाहते हैं तो समस्त परतत्त्वों से निराला केवल ज्ञानमात्र अपने आपको निरखें।

श्लोक-1499

त्रिप्रकारं स भूतेषु सर्वेष्व्वात्मा व्यवस्थितः।

बहिरन्तः परश्चेति विकल्पैर्वक्ष्यमाणकैः॥1499॥

यह आत्मा समस्त देहधारियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा— ये तीन भावों से व्यवस्थित है। एक-एक में भी तीन बातें लगाया या भिन्न-भिन्न आत्माओं में तीन बातें लगाया? भिन्न-भिन्न आत्माओं में तो तीन बातें ऐसी स्पष्ट हैं कि लो यह जीव तो बहिरात्मा है और यह जीव अन्तरात्मा है और यह जीव परमात्मा है। भिन्न-भिन्न दिख रहे हैं। जो देह और जीव को एक मानता वह बहिरात्मा है। जो देह से भिन्न अपने आपमें चैतन्यस्वरूप का परिचय करता हो वह अन्तरात्मा है। समस्त कर्ममलों से छूटकर जो केवल एक शुद्ध विकास में हो वह परमात्मा है। यह तो है भिन्न-भिन्न जीवों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के खोजने की बात। अब एक जीव में देखें जो प्रथम स्थिति है अथवा अन्तरात्मा की स्थिति मान लीजिए, यह जीव अन्तरात्मा है। बहिरात्मा था और अपने गुणों के शुद्ध विकासपूर्वक यह परमात्मा होगा। तो एक ही आत्मा में शक्ति व्यक्ति की अपेक्षा आत्माओं को तीन प्रकार से निरखना चाहिए। तो जो बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा सबमें व्यापक है ऐसा यह आत्मतत्त्व है, जिसका परिचय पाने पर मुक्ति का मार्ग प्राप्त होगा। हम मुक्ति को बाहर नजर डालकर क्या देखें, लोक के अन्त में या किसी जगह हम क्या देखें— प्रथम तो यही निर्णय कर लें कि जितना-जितना हम विषयकषायों की भावना से मुक्त हो रहे हैं उतना ही हम एक शान्ति के मार्ग में बढ़ रहे हैं। अनुभव करें ऐसा। तो हमें चाहिए कि बहिरात्मपन को छोड़ें, अन्तरात्मा बनें और अन्तरात्मा बनकर परमात्मतत्त्व की प्राप्ति का उद्यम करें। बहिरात्मपन मेरा स्वरूप नहीं है। परमात्मा मेरा स्वरूप है। इस अन्तरात्मा में ही मेरे स्वरूप की दृष्टि लगे, मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूँ। यह है अतः अपने भीतर देह का भी भान छोड़कर केवल ज्ञानमात्र में आत्मा हूँ। इस प्रकार अपने आपका निर्णय बनायें और इस आत्मतत्त्व की सुधपूर्वक अपना जीवन बितायें। मोहरागद्वेष का प्रसंग कम से कम हो, ऐसी क्षण गुजरें तो समझिये कि हम बहुत बड़ा लाभ पा रहे हैं। उस लाभ की उपमा संसार के किसी पदार्थ से नहीं की जा सकती है, क्योंकि वह खुद में खुद के भान से खुद प्रकट होता है। ऐसी आत्मतत्त्व की रुचि जगती हो तो उस चैतन्यस्वरूप की दृष्टि करें। जान जानकर सोच सोचकर उस प्रकार के शब्दों को अपने में बोल-बोलकर येन केन प्रकारेण आत्मा की सुध बने तो वह है शान्ति पाने का उपाय। तत्काल शान्ति मिले। जैसे सबसे निराले ज्ञानमात्र को देखने में लगे तो वहाँ एक आत्मा ही ज्ञान में आयगा। सब जगह हम अपनी सुध बना सकते हैं। जितने क्षण हम अपनी सुध बनायें उतने क्षण आत्मलाभ है और शेष क्षण जबकि अपना

उपयोग परपदार्थों में है तब समझें कि वहाँ हम आत्मघात कर रहे हैं। अपने आपके उपयोग से, अपने आपकी कुबुद्धि से हम अपने आपका घात किया करते हैं। पर की दृष्टि में है आत्मघात और आत्मतत्त्व की दृष्टि में है आत्मरक्षा। हम आत्मरक्षा के लिए बढें और आत्मघात से बचे, ऐसी हमारी कोशिश होनी चाहिए।

श्लोक-1500

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात्।

बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः॥1500॥

जिस जीव की शरीर आदिक परद्रव्यों में आत्मभ्रम की बुद्धि हो, यही मैं आत्मा हूँ, अन्य कुछ मैं आत्मा नहीं हूँ, इस प्रकार जिस देह में ही आत्मा का भ्रम बना हो और मोहरूपी निद्रा से जिसकी चेतना अस्त हो गयी हो ऐसे जो कोई भी पुरुष हैं वे बहिरात्मा हैं। लगता होगा ऐसा कि हम बहिरात्मा से ही बने रहा करते हैं। और जब कभी ऐसा अनुभव करें तो इतना सोचना चाहिए कि बहिरात्मा के निजस्वरूप की खबर तब होती है जब कुछ अन्तरात्मा का परिचय भी हो। जब कभी हमें ऐसा अंदाजा आये कि किसी परपदार्थ में दृष्टि जा रही है तो अनुभव में कोई अन्तःस्वरूप की प्रेरणा बनी है जिससे हम देहादिक को बाह्य चीज समझते हैं। मैं तो सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूँ ऐसी अपनी दृष्टि बनायें और समस्त चतुर्गतिभ्रमण से छुटकारा प्राप्त करें।

श्लोक-1501

बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।

सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्यान्तभास्करैः॥1501॥

जगत में जितने आत्मा है उन आत्माओं में वे तीन तरह के मिलेंगे कोई बहिरात्मा है, कोई अन्तरात्मा है और कोई परमात्मा है। अरहंत और सिद्ध भगवान ये तो परमात्मा हैं और मिथ्यादृष्टि जीव और दूसरे गुणस्थान के भी जीव और तीसरे गुणस्थान के भी, क्योंकि वे भी सम्यक्मिथ्यादृष्टि होते हैं। ये बहिरात्मा हैं। सम्यग्मिथ्यादृष्टि उन्हें कहते हैं जिनकी मिश्रदशा है। जैसे कोई मित्र कुदेव की पूजा अपने घर में करता आ रहा है, उसे कुछ उपदेश मिले, श्रद्धा पलटे, सच्चेदेव को मानने लगे, पर उसने अपने घर से भी अभी उस

देव को हटाया नहीं है, ऐसी जो मिश्र हालत है, वे सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं। ये तो हुए बहिरात्मा जीवा चौथे गुणस्थान से लेकर 12 वें गुणस्थान तक अन्तरात्मा हैं। इसमें गृहस्थ भी आ गए, ध्यानी मुनि भी आ गए। तो तीन प्रकार के आत्मा लोक में मिलते हैं। बहिरात्मा तो वे कहलाते हैं जिनको शरीर आदिक बाह्य पदार्थों में आत्मबुद्धि हुई कि यह मैं हूँ। यह शरीर है, मोही मैं हूँ, शरीर में जो इन्द्रियाँ हैं सो ही मैं हूँ, शरीर का सुख ही मेरा सुख है, सब कुछ नाता शरीर से मानते हैं वे बहिरात्मा हैं। कोई घर के धन से नाता मानते कि मेरा है। तो वे तो बहिरात्मा हैं ही, क्योंकि वे तो बिल्कुल ही भिन्न क्षेत्र में स्थित हैं। अन्तरात्मा कौन कहलाते हैं? इसका स्वरूप इस श्लोक में कहते हैं कि जो पुरुष बाह्य भावों का तो उल्लंघन करें और आत्मा में आत्मा का निश्चय करें वे अन्तरात्मा कहलाते हैं। सो वह अन्तरात्मा विभ्रमरूपी अंधकार को दूर करने के लिए सूर्य की किरणों के समान है। जिस प्रकार घनांधकार को सूर्य की किरणें मिटा देती है, इसी प्रकार विभ्रमांधकार को अन्तरात्मा पुरुष अपनी स्वरूपदृष्टि से मिटा देते हैं।

ऐसे परमसूर्य की तरह ज्ञानी पुरुषों को बताया है कि जो अपने आपमें अपने आपका निश्चय करें सो अन्तरात्मा हैं। सब ओर से हटकर केवल अपने आपमें अपने को निरख लें तो वे जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं। तो दुःख तो इतना ही है कि किसी बाहरी पदार्थ की कुछ हालत देखकर खुद दुःखी हो जाते। इतना ही तो दुःख है। धन कम हुआ जानकर दुःखी हो जाय अथवा इष्टवियोग हो गया, अनिष्ट संयोग हो गया तो उसमें दुःखी किसने किया? अरे वह दुःख केवल कल्पनाभर का है। जब यह विश्वास हो जाता कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हूँ, मेरा अन्य से कोई सम्बंध नहीं, अन्य पदार्थ चाहे किसी भी प्रकार परिणमे, मैं उनसे बिल्कुल स्वतंत्र हूँ, ऐसा अपने आप, मैं अपने आपमें विराजमान रहता हूँ, ऐसा जब भान होता है तब फिर दुःख नहीं होता, क्योंकि बाहरी पदार्थ चाहे जैसे परिणमें, वे तो बाह्य हैं, उनसे मेरा कोई सुधार बिगाड़ नहीं है। यह दृष्टि ज्ञानी पुरुष को हो जाती है। तो अन्तरात्मा वह है जो बाह्य पदार्थों का लगाव न रखे और ज्ञानस्वरूपमात्र अपने आपको पहिचाने वह अन्तरात्मा है।

श्लोक-1502

निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।

निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः॥1502॥

परमात्मा कौन है जो निर्लेप हो, जिसमें कोई मल कलंक का लेप न हो। शरीररहित है, कलंकरहित है, सिद्ध है, संसार के दुःखों से अत्यन्त परे हो गया है। जिसके कोई प्रकार का विकल्प तरंग न

हो, ऐसा जो सिद्ध आत्मा है वह परमात्मा कहलाता है। शरीरसहित परमात्मा अरहंत भगवान है और शरीररहित परमात्मा सिद्ध भगवान हैं। अब उस परमात्मा का अनुभव करने के लिए ऐसा सोचें कि जो कुछ भी आत्मा है उस आत्मा के साथ एक तो शरीर का सम्बंध चिपटा है, रागादिक भाव लगे हैं। ये सब हट जायें, कर्मकलंक दूर हों, रागादिक भाव दूर हों, उस समय यह आत्मा किस स्थिति में रहता है उस स्थिति का अनुमान करके परमात्मा का स्वरूप जाना जाता है। परमात्मा का अर्थ है जो परम अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा हो। उत्कृष्टता दो बातों से होती है— एक तो जितने गुण हों वे सब गुण पूरे प्रकट हों। और दूसरे दोष एक न हों। जहाँ गुण भी हों और दोष भी हों वहाँ उत्कृष्टता नहीं है। अरहंत भगवान और सिद्ध में ज्ञानादिक गुण भी पूरे हैं और रागादिक दोष रंच नहीं हैं। उनको अगर संक्षेप में समझना है तो यों कहो कि वीतराग सर्वज्ञ है, इससे परमात्मा की सब विशेषता एक साथ झलक जाती है। प्रभु वीतराग है, रागरहित है। जहाँ राग नहीं वहाँ द्वेष कैसे रह सकता है? क्योंकि जितने द्वेष हैं वे सब राग के आधार पर हैं। किसी का घर वैभव आदिक में राग है, उसके प्रति कोई बाधक बने तो उससे वह द्वेष करने लगता है। तो राग के आधार पर द्वेष है। मूल में राग ही इस जीव का कलंक है और राग की पीड़ा बनी हुई है मोह से। मोह न हो तो यह राग न रहेगा और फिर अपने आप दूर हो जायगा। जैसे पेड़ में जड़ न रहे तो वह पेड़ सूख जायगा, इसी प्रकार जिस जीव में मोह न रहेगा उसमें राग भी न रहेगा, वह भी सूख जायगा। तो द्वेष की जड़ हुआ राग और राग की जड़ हुआ मोह। भगवान सर्वज्ञ वीतराग हैं, रागद्वेषमोह आदिक से अलग हैं, कोई कलंक नहीं हैं, सर्वज्ञ हैं। लोकालोक में जितने भी सत् हैं वे सब सर्वज्ञ के द्वारा ज्ञेय हैं।

अब सर्वज्ञ क्यों सबको जानते हैं इस विषय में सोचें। एक तो यह बात समझना है। दूसरे यह बात समझना है कि जब उन सर्वज्ञदेव के इन्द्रियाँ ही नहीं रही तो वे जान कैसे लेते हैं? पहिली बात का तो उत्तर यह है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है कि वह निरन्तर जानता रहे। जानने से कभी यह आत्मा विराम नहीं लेता। अर्थात् जिसका जानन का काम है और जानन का कोई आवरण है नहीं तो उस जानन की सीमा नहीं रह सकती। जैसे हम आँखों से देखते हैं, जानते हैं चार छः मील की। आगे की नहीं जान पाते, क्योंकि इन्द्रियों का आवरण लगा हुआ है। जितनी सामर्थ्य प्रकट है वहाँ तक तो ज्ञान हुआ और जितनी सामर्थ्य दबी है उतनी का फिर ज्ञान नहीं होता। जिसके इन्द्रियाँ ही नहीं रही वह तो समस्त विश्व को जान लेगा। जैसे एक कमरे में पुरुष बैठा है, उसमें चार-छः खिड़की लगी हैं तो वह बाहर की बात खिड़कियों से देख सकेगा, यों न देख सकेगा, क्योंकि भीत का आवरण पड़ा हुआ है। खिड़कियों से बाहर की बात देख ली जाती है। कदाचित् वह यह कल्पनाएँ करने लगे कि यह मकान गिर जायगा तो ये खिड़कियाँ भी गिर जायेंगी, फिर हम कैसे देखेंगे, ऐसा कोई पुरुष सोचने लगे तो क्या यह ठीक है? अभी हम खिड़कियों से देख रहे हैं और यह भीत ही गिर जाय फिर हम कैसे देख सकेंगे, ऐसा कोई कहे तो इसे

कौन ठीक कहेगा? अरे खिड़कियाँ खत्म हो जायेंगी तब तो फिर और ज्यादा दिखेगा। ये इन्द्रियाँ खिड़कियाँ हैं, यह सब शरीर भीत की तरह है इसके अन्दर रहने वाला जो दृष्टा है वह इन खिड़कियों के द्वारा बाहरी बातें देखता है। खिड़कियों से बाहर ही तो दिख रहा है। इन इन्द्रियों से कोई, भीतर की बात तो नहीं देख सकता। बाहर में ये इन्द्रियाँ ही न रहें, यह शरीर ही न रहे, कर्मकलंक ही न रहे तो क्या उसे अड़चन आयगी कि मैं नहीं देख सकता? वह तो सर्वचक्षु हो जाता है। जब शरीर है तो दो चक्षु वाला है और जब सर्वज्ञ है तो वह सर्वचक्षु वाला हो जाता है। उस केवलज्ञान के द्वारा जगत के चराचर समस्त पदार्थों को जान लेते हैं और एक साथ जान लेते हैं। वीतराग हो, सर्वज्ञ हो वह परमात्मा है। जो निष्कलंक हो और परिपूर्ण गुण वाला हो वह हमारा भगवान है। ऐसा परमात्मा बनना इस आत्मा का ही काम है। जो आज छोटी स्थिति में है आत्मा वह अपना उपाय बनाये और ऐसी स्थिति वीतराग सर्वज्ञ की स्थिति में आ जाय तो इसमें कोई संदेह नहीं है। यों तीन प्रकार के लोक में आत्मा होते हैं। अपूर्व सुखी है परमात्मा, सुख के मार्ग में आंशिक सुखी है, अन्तरात्मा और बहिरात्मा सुखी नहीं है। उनका जो भी इन्द्रियजन्य सुख है वह भी दुःख ही है। लोक में जो सुख माने जाते हैं— धन, धाम तथा खानपान आदिक के, वे सब अशान्ति से भरे हुए हैं। इन सुखों के भागने से शान्ति नहीं प्राप्त होती है। कोई भी पुरुष शान्तचित्त होकर भोजन नहीं करता, अशान्ति ही बनी रहती है। पूर्ण शान्ति तो भगवान अरहंत सिद्ध हैं। जो शान्ति के मार्ग में लगे हुए हैं ऐसे होते हैं अन्तरात्मा। और जिन्हें शान्ति से भेंट नहीं है, बाह्यपदार्थों में ही अपना उपयोग फँसाये रहते हैं वे कहलाते हैं बहिरात्मा।

श्लोक-1503

कथं तर्हि पृथक् कृत्वा देहाद्यर्थकदम्बकात्।
आत्मानमभ्यसेद्योगी निर्विकल्पमतीन्द्रियम्॥1503॥

अब यहाँ कोई शंकाकार प्रश्न करता है कि यदि आत्मा ऐसा है कि निर्लेप है, निष्कलंक है तो आत्मा को देहादिक के समूह से पृथक् करें और ऐसे आत्मा को इन देहादिक बाह्य वस्तुओं से पृथक् करके ये इन्द्रियाँ हैं ऐसा ध्यान कैसे करें यह प्रश्न किया है। इस देह से भी निराला करके मैं अपने आपमें बसे हुए परमात्मा को जानूँ तो उसके ध्यान का उपाय क्या है? जो शंका कर रहे हैं उसका निवारण और सिद्धि करने की आराधना है। तब प्रश्न क्या है कि जो भेदभाव विकल्प तरंग आदि से रहित है ऐसा अतीन्द्रिय आत्मा मेरे ध्यान में कैसे आये? इसका उत्तर दीजिए।

श्लोक-1504

अपास्य बहिरात्मानं सुस्थिरेणान्तरात्मना।

ध्यायेद्विशुद्धमत्यन्तं परमात्मानमव्ययम्॥1504॥

जो योगी मुनि बहिरात्मापन को छोड़कर स्थिरचित्त होकर, अपने आपकी ओर झुककर, अन्तरात्मा होकर अपने में विश्राम बनाता है वह पुरुष अत्यन्त विशुद्ध परमात्मा का ध्यान करता है। उस परमात्मतत्त्व के ध्यान के लिए बाह्य पदार्थों से ममता छोड़नी पड़ेगी। बाह्य पदार्थों से ममता बनी रहे और परमात्मा का ध्यान बना रहे— ये दो बातें एक साथ नहीं हो सकती। पहिले तो बाह्य पदार्थों में ममत्व बुद्धि का परित्याग करें फिर अपने आपमें स्थिर होकर अपने आपमें अपने का ध्यान करें तो वे पुरुष निर्विकल्प शान्तस्वरूप परमात्मतत्त्व का दर्शन कर सकते हैं।

श्लोक-1505

संयोजयति देहेन चिदात्मानं विमूढधीः।

बहिरात्मा ततो ज्ञानी पृथक् पश्यतिदेहिनम्॥1505॥

जो बहिरात्मा है सो तो चैतन्यस्वरूप आत्मा को देह के साथ जोड़ता है जिसके देह में आत्मबुद्धि है वह बहिरात्मा कहलाता है। अर्थात् जो देह और आत्मा को एक मानते हैं वे तो हैं अज्ञानी। जो ज्ञानी है सो अन्तरात्मा है और जो देह में आपा बुद्धि करता है वह है बहिरात्मा। ये बहिरात्मा और अन्तरात्मा के भेद है। एक मोड़ का अन्तर है। ज्ञानी पुरुष तो अपने उपयोग को अपनी तरफ लक्ष्य बनाता है और अज्ञानी पुरुष बाहर की ओर अपनी दृष्टि लगाये है— ये पुत्र मित्रादिक मेरे हैं, ये घन सम्पदा मेरे हैं। इस प्रकार बाह्य पदार्थों में ममत्व बुद्धि है। यह बहिरात्मा और अन्तरात्मा में भेद है। जरा सी मोड़ में इतना बड़ा अन्तर आ जाता है। यह बिल्कुल भिन्न मोड़ है। अपनी ओर मुड़े तो परमात्मा का दर्शन है और पर की ओर मुड़े तो बहिरात्मापन है। बहिरात्मा पुरुष बाह्य पदार्थों में अपना सम्बंध जोड़ता है। ज्ञानी जीव बाह्य पदार्थों से अपना सम्बंध दूर करता है।

श्लोक-1506

अक्षद्वारैरविश्रान्तं स्वतत्त्वविमुखैर्भृशम्।

व्यापृतो बहिरात्मायं वपुरात्मेति मन्यते॥1506॥

यह बहिरात्मा इन इन्द्रियों के द्वार से व्यापार करता है, चेष्टा करता है, देखने का सुनने का, सूँघनेका, स्वादने का प्रयत्न करता है, शरीर को ही आत्मा मानता है। पर होता क्या है? ये सब इन्द्रियाँ आत्मस्वरूप से विमुख हैं। आँखों से हम आँखों की बात नहीं जान पाते और बाहर की बातें जान लेते हैं। आँख में कीचड़ लगा हो या काजल लगा हो या रोम आया हो तो आँख उसी आँख को देख नहीं पाती। तो यह आँख आँख की ही चीज को नहीं देखती है, बाहर की चीज को ही देखती है। इसी प्रकार नासिका भी बाहर की चीजों का ज्ञान करती है। यह जिह्वा भी जिह्वा का स्वाद नहीं लेता, बाहरी पदार्थों का स्वाद लेता है। कान भी बाहर की बात सुनते हैं भीतर की बात नहीं जानते। जैसे किसी के बुखार चढ़ा है तो उसके कितना बुखार है यह सारा शरीर नहीं जान पाता। एक हाथ से दूसरे हाथ को पकड़कर मालूम कर पाता है। ये इन्द्रियाँ तो आत्मा के स्वरूप से विमुख हैं, वे बाह्य पदार्थों को जानती हैं, आत्मतत्त्व को नहीं जानती। तो इन इन्द्रियों के द्वारा व्यापार करने वाला बहिरात्मा है, और यह बाहरी-बाहरी प्रयत्न करता है। अपने आपको यह नहीं जान पाता कि मैं क्या हूँ। अपने आपको तो तब जानें जब इन इन्द्रियों का संयोग न चाहें। अपनी ही ज्ञानकला से अपने ही बसे हुए ज्ञानस्वरूप को जानें तो जान सकते हैं, पर इन्द्रियों की मदद करके हम आत्मा को जानना चाहें तो कभी नहीं जान सकते हैं। कितना ही कान लगायें कि आत्मा की बात सुन लें तो नहीं सुने जाते हैं। कितनी ही तीक्ष्ण दृष्टि लगाकर देखें कि इस आत्मा का दुःख कैसा है तो इन आँखों द्वारा नहीं देखा जा सकता है। यों ही इन समस्त इन्द्रियों की बात है। इन समस्त इन्द्रियों से मुख मोड़कर स्थिर चित्त होकर अपने आपमें निहारें, बाहर में निहारने का उद्यम न करें तो यह आत्मतत्त्व परमात्मस्वरूप अपने आपके अनुभवन में आ सकता है। तो ज्ञानी पुरुष अपने आपकी ओर मुख मोड़ता है और अपने आप आत्मस्वरूप का चिन्तन करके परमआनन्द रस में तृप्त रहा करता है। यही कारण है कि ज्ञानी पुरुष पर कोई आपत्ति आये तो उसके मन में रंच भी खेद नहीं होता। यों लोक में तीन प्रकार के आत्मा हैं, उनमें से हमें यह शिक्षा लेना है कि बहिरात्मापन तो छोड़ने योग्य है और अन्तरात्मापन ग्रहण करने योग्य है और परमात्मपद सर्वथा उपादेय है। सर्वोच्च उन्नतिपद परमात्मपद है। उस पद के प्राप्त करने के बाद अनन्तकाल तक वैसा ही आनन्द प्राप्त होता रहेगा, ऐसा निर्णय करना चाहिए और अपने आपको अन्तरात्मा बनाने का यत्न करना चाहिए।

श्लोक-1507,1508

सुरं त्रिदशपर्यायैर्नृपर्यायैस्तथा नरम्।

तिर्यञ्चं च तदङ्गे स्वं नारकाङ्गे च नारकम्॥1507॥

वेत्यविद्यापरिश्रान्तो मूढस्तन्न पुनस्तथा।

किन्त्वमूर्तं स्वसंवेद्यं तद्रूपं परिकीर्तितम्॥1508॥

यह जीव मिथ्याज्ञान से खेद खिन्न होकर बहिरात्मापन में देवपर्याय सहित देवों को देव मानता है, मनुष्य पर्याय सहित अपने को मनुष्य मानता है। तिर्यञ्च के शरीर में रहते हुए को तिर्यञ्च और नारकी के शरीर में रहते हुए को नारकी मानता है। जो शरीर है हम आपका दृश्यमान शरीर, आत्मा तथा कर्म इन तीन का यह पिण्ड है जो लोगों को दिख रहा है। जो एक दूसरे से वार्तालाप करता है वह इन तीन का पिण्ड है। अज्ञानी जीव इन तीन में से जो आत्मा है उसे नहीं समझता, किन्तु इन तीन का जो समूह है उसे आत्मा मानता है। जब मनुष्यपर्याय में आया तो इस मनुष्यपर्याय को यह मैं हूँ, इस प्रकार मानता है। जब तिर्यञ्च पशु पक्षी की देह में रहा तो यह मैं आत्मा हूँ यों उस देह को मानता है। जिस-जिस पर्याय में जाता उस-उस पर्याय को यह आत्मा मानता है। तो यों अविद्या से खेदखिन्न होकर अपने आपकी सुध तो खो बैठता है और बाह्य देहपर्याय को आत्मारूप से मानता है, लेकिन आत्मा तो इस पर्यायरूप नहीं है। वह तो अमूर्त है, सुसम्बद्ध है। केवल ज्ञानानन्दस्वरूप है। देखिये आत्मा का स्वभाव ही आनन्दमय है, इसे कहीं कष्ट नहीं है। यह व्यर्थ ही अपने को दुःखी समझता है, पर दुःख इसको रंचमात्र भी नहीं है। बाह्य पदार्थों से सम्बंध जुड़ा तो बाह्य पदार्थ हमारी इच्छा के माफिक परिणम जायें यह तो हो ही नहीं सकता है। तब यह खेदखिन्न होता है। इच्छा न हो तो फिर किसी बात का खेद हो तो बतावो। जितने जीव हैं सब इच्छा से दुःखी हैं और इच्छा बेकार की है, क्योंकि इच्छा से होता क्या है? इच्छानुसार होता तो है नहीं परिणमन पदार्थ का। कदाचित् मेल भी बैठ जाय कि यहाँ इच्छा हुई और वहाँ पर का परिणमन भी वैसा ही हो जाय, पर वहाँ शान्ति तो न मिलेगी। जब अज्ञान का पर्दा छाया है और यह जीव अपने आपको नहीं समझ पाता है तब यह बाह्य पदार्थों को अपनाता है, इच्छा करता है, और दुःखी होता है। किसी भी समय ऐसा ध्यान कर लें कि मैं

देह से भी निराला केवल ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान के सिवाय अन्य कुछ मैं नहीं करता हूँ, न भोगता हूँ, केवल ज्ञानस्वरूप सबसे निराला हूँ। मेरा किसी से कुछ सम्बंध नहीं है। मैं हूँ और मैं अपने आपमें परिणमता रहता हूँ। ऐसी दृष्टि अन्तर में जगे अपने आपके आत्मा की सुध हो, फिर वहाँ कोई खेद हो तो बतलावो। हम पर का नाता जोड़ते, इच्छा करते और दुःखी होते। नाता जोड़ना भी बेकार, इच्छा करना भी बेकार। जब पर का हमसे कुछ संबंध ही नहीं तो इच्छा व्यर्थ है। जिन संतों ने मुनियों ने इस तपश्चरण को किया अर्थात् इच्छाओं का निरोध किया वे संसार से मुक्त हुए और उनके नाम पर बनायी हुई मूर्ति भी पूज रही है और दूर-दूर के लोग उस मूर्ति को देखने के लिए यात्रा करते हैं। हे क्या वहाँ ? बात यह है कि जिन जीवों ने इच्छा का निरोध करके अपने आपको संसार से मुक्त कर लिया है उनकी वहाँ हम याद करते हैं, अमूर्त निरखकर उस स्वरूप का हम ध्यान करते हैं। इसी के लिए तो यात्रा है और फिर केवल एक दर्शनीय स्थान सा समझकर दर्शन कर रहे तो वह एक दिल का बहलावा है। हमें तो यह शिक्षा लेना है कि हे प्रभो ! तुम्हारी मुद्रा निरखकर मेरे अन्दर यह निर्णय हुआ है कि मोक्ष का मार्ग तो यह है। आपने आप किया, इच्छाओं का निरोध किया, अपने आपको जग जंजाल से मुक्त कर लिया, अब अनन्त आनन्दमय हो गए। यही उपाय मेरे को करना योग्य है। मेरा भी ममता से पिण्ड छूटे, केवल अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूप को देखें ऐसी दृढ़ भावना रहती है ज्ञानी पुरुष की। और उसी को ही अपने आपके आत्मा की सुध होती है कि मैं आत्मा अमूर्त हूँ, सुसम्बद्ध हूँ, ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, सबसे निराला हूँ, खुद आनन्दस्वरूप हूँ। इस तत्त्व को जो नहीं जानते वे बहिरात्मा जीव देह में आपा बुद्धि करते हैं। यह देह ही मैं सब कुछ हूँ, ऐसा मानते हैं।

श्लोक-1509

स्वशरीरमिवान्विष्य पराङ्ग च्युतचेतनम्।

परमात्मानज्ञानी परबुद्धयाडध्यवस्यति॥1509॥

ये अज्ञानी जीव जैसे अपने शरीर को निरखकर 'यह मैं हूँ' ऐसा मानते हैं ऐसे ही दूसरे के देह को निरखकर ये दूसरे जीव हैं यों समझते हैं। देखिये दूसरे जीव हैं, अन्य जीव हैं ऐसा जानना बुरा नहीं है पर देह को ही यह मानते हैं कि ये ही अन्य जीव हैं। जैसे अपने देह को माना था कि यह मैं जीव हूँ, ऐसे ही दूसरे के देह को देखकर मानते हैं कि ये दूसरे जीव हैं। सो ही मिथ्यात्व है। अपने देह को माना कि यह मैं हूँ, वहाँ भी देह को अपनाया, पर के देह को माना कि ये परजीव हैं वहाँ भी पर को कहा तो यह मिथ्या दर्शन है।

श्लोक-1510

स्वात्मेतरविकल्पैस्तैः शरीरेष्वलम्बितम्।

प्रवृत्तैर्विर्भ्रतं विश्वमनात्मन्यात्मदर्शिभिः॥1510॥

अपने शरीर में तो अपना आत्मा माना और पर के शरीर में पर को आत्मा माना, इस तरह शरीर में अवलम्बन रूप प्रवर्ते हुए विकल्पों में से जो अनादि अनात्मतत्त्व है ऐसे अज्ञानी जनों ने इस लोक में वंचित कर दिया। लोक में जो होड़ मच रही है नामवरी नेतागिरी की उसमें और मर्म क्या है? सिवा इसके कि वे समझते हैं कि वे सब जीव हैं, मैं यह हूँ, मेरी लोक में इज्जत रहे, पोजीशन रहे, इस प्रकार से परतत्त्वों में वे आत्मबुद्धि करते हैं और पापबंध करते हैं। अन्यथा तो लोग हाथ जोड़कर कैसे आप हमारे रक्षक बनें, मेम्बर बनें तो ठीक है। यहाँ तो इच्छा प्रकट करते, उसके लिए खर्च करते, लोगों से वोट की भीख मांगते, यह उनका कोई बड़प्पन नहीं है। बड़प्पन तो लोगों के बनाने से होता है, स्वयं बनाने से नहीं होता है। वहाँ खेद खिन्न होना पड़ता है। जीते तो हारे, हारे तो जीते। दुनिया जो नाम की, धन की होड़ लगा रही है, संतान परिवार आदिक से अपना महत्त्व बता रहे हैं यह सब अज्ञान का माहात्म्य है। तो जिसे अपने आपकी नामवरी चाहिए उसे अनेक यत्न करने पड़ते हैं।

श्लोक-1511

ततः सोऽत्यन्तभिन्नेषु पशुपुत्राङ्गनादिषु।

आत्मत्वं मनुते शश्वदविद्याज्वरजिहितः॥1511॥

मूल में इस जीव ने ऐसा माना था कि यह मैं हूँ। जो देह है, पर्याय है उसको नजर रखकर माना था कि यह मैं आत्मा हूँ। जब अपने देह को अपना आत्मा माना तो पर के देह को परआत्मा मानता है। इसके बाद पुत्र, मित्र, स्त्री आदिक जो अत्यन्त भिन्न हैं उनमें आत्मत्व मानता है कि ये मेरे हैं। अभी इस देह तक ही इसकी मान्यता थी जो छुड़ाये छूट नहीं सकती। इस पर्याय तक सदा साथ रहती है। अब इस देह से भी अत्यन्त भिन्न, जिससे हमारा कोई सम्बंध नहीं है, ऐसे पशु, पुत्र, स्त्री आदिक में भी मानता है कि यह मेरा है। सो यह अज्ञान ज्वर का माहात्म्य है। पदार्थ संसार में जितने हैं वे सब इकहरे हैं, केवल अपना-

अपना स्वरूप अपने में रखते हैं, अपने ही उत्पादव्ययध्रौव्य से अपना परिणमन कर रहे हैं। किसी भी पदार्थ से कोई सम्बंध नहीं है। यद्यपि निमित्तनैमित्तिक भाव इतना घनिष्ठ है कि जिससे मालूम होता कि इस पदार्थ ने ही अमुक को यों कर दिया। यह गैस जल रही है, इसमें हवा भर दिया, लो प्रकाश बढ़ गया। लगता तो यह है कि देखो हवा ने रोशनी बढ़ा दिया, पर हवा हवा में है, रोशनी रोशनी में है। निमित्त तो है पर हवा के उपादान से रोशनी नहीं बढ़ती। निमित्तनैमित्तिक भाव तो है पर एक दूसरे का कर्ता कर्म नहीं है। यों किसी भी पदार्थ का किसी भी अन्य पदार्थ के साथ सम्बंध नहीं है। लेकिन यह अज्ञानी जीव अविद्या ज्वर से पीड़ित होकर पशु मित्रादिक में अपना आत्मत्व मानता है।

श्लोक-1512

साक्षात्स्वानेव निश्चित्य पदार्थाश्चेतनेतरान्।

स्वस्थैव मन्यते मूढस्तन्नाशोपचयादिकम्॥1512॥

यह मूर्ख बहिरात्मा अपने से भिन्न चेतन अचेतन पदार्थों को साक्षात् अपना ही निश्चय करके उनके नाश से अपना नाश और उनके भले से अपना भला मानते हैं। पहिले देह को आत्मा मानने पर देह को परजीव माना, फिर पशु, पुत्र, स्त्री आदिक को अपना माना। अब जो अत्यन्त अचेतन पदार्थ हैं— धन, वैभव, सोना, चाँदी, रुपया, पैसा, जायदाद आदि, उनको भी मानते हैं कि ये मेरे हैं, और इतना ही नहीं— धन वैभव की वृद्धि में ही अपनी वृद्धि समझते हैं और धनवैभव के नाश में ही अपना नाश समझते हैं। इसी प्रकार अज्ञानी जीव बाह्यपदार्थों में इतना आसक्त हैं, यही दुःख का कारण है दुनिया होड़ मचा रही है। एक दूसरे से बढ़कर धन मकानों में अपना महत्त्व समझ रहे हैं, लेकिन यहाँ शान्ति तो नहीं मिलती और एक भव का कुछ ठीक बना लेने से इस जीव का पूरा तो नहीं पड़ता। यह जीव तो सत् है, इसके बाद भी रहेगा और किसी न किसी शरीर में रहेगा। यों अत्यन्त भिन्न पदार्थों में मानते हैं कि ये मेरे हैं और उनके नाश में अपने को बरबाद समझते हैं और वैभव के विकास में ये अपना विकास समझते हैं।

श्लोक-1513

अनादिप्रभवः सोयमविद्याविषमग्रहः।

शरीरादीनि पश्यन्ति येन स्वमिति देहिनः॥1513॥

यह पूर्व अनादि से उत्पन्न हुई अविद्यारूप विषम आग्रह है जिसके द्वारा यह मूढ़ प्राणी शरीर आदिक को अपना मानता है। यह शरीर है सो मैं हूँ, इसके आगे और कुछ नहीं निरखता। यह सब अनादिकाल से जो अज्ञान बसा है वह अज्ञान अब तक काम कर रहा है। कीड़ा, मकोड़ा, पृथ्वी आदिक भवों में रहा वहाँ भी यह आता रहा। मिथ्यात्व को ही जो भूल रहा है उस मिथ्यात्व से हटने के लिए भेदविज्ञान का अभ्यास चाहिए। अधिक से अधिक समय ऐसी भावना बनाना चाहिए कि मैं समस्त परतत्त्वों से निराला केवल ज्ञानानन्दमात्र हूँ, और भीतर में देखें भी ऐसा कि जो मात्र ज्ञानज्योति है, ज्ञान प्रकाश है, केवल आनन्दमात्र है वह मैं हूँ, इस प्रकार अपने आपको देखने का यत्न करें और इस तरह मानकर रह जायें, आखिर दुःखों से छूटने की तो सबके इच्छा है। संसार के सभी जीव चाहते हैं कि हम संसार के दुःखों से छूट जायें। तो उन दुःखों से छूटने की ही यह विधि बतायी जा रही है। इसमें क्यों रुचि नहीं होती? दुःखों से छूटने के लिए अपनी मनो कल्पनाओं के अनुसार जब अनेक परिश्रम करते हैं, धनसंचय करने का, नाम इज्जत बढ़ाने का या नाना प्रकार से जब हम उसका विशेष प्रयत्न करते हैं तो वह दुःख दूर करने के लिए ही तो करते हैं। एक बार यह भी प्रयत्न करके देख लें। जहाँ सैकड़ों प्रयत्न करते हैं तो एक प्रयत्न और सही। वह प्रयत्न है अपने को सबसे निराला निरख लें। मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है, किसी से मेरा कुछ सम्बंध नहीं है— इस प्रकार अपने आपको निरख लिया जाय। इतना यत्न करके देखिये कि कैसा आनन्द प्रकट होता है?

श्लोक-1514

वपुष्यात्मेति विज्ञानं वपुषा घटयत्यमून।

स्वस्मिन्नात्मेति बोधस्तु भिनत्त्यङ्गं शरीरिणाम्॥1514॥

जो शरीर में 'यह मैं आत्मा हूँ' ऐसा विश्वास करता है वह तो शरीर पाता रहेगा, जन्म-मरण करता रहेगा और जो अपने आपमें बसे हुए इस आत्मा को शरीर से भिन्न निरखते हैं वे बहुत ही निकट काल में जीव को शरीर से जुदा कर देते हैं। शरीर में हूँ ऐसा मानते रहने से जन्म मरण की परम्परा बढ़ेगी, शरीर मिलते रहेंगे और 'शरीर से न्यारा ज्ञानानन्दमात्र मैं हूँ' इस प्रकार से अपने आपको निरखने से शरीर से छुटकारा मिलेगा और शरीर से छुटकारा मिलने पर सब दुःख खतम हैं। आनन्द मानते हैं शरीर के सम्बंध से, इच्छा करता है यह जीव तो शरीर के सम्बंध से, नाम प्रतिष्ठा चाहता है तो शरीर के सम्बंध से, नाना प्रकार के रागद्वेष करता है तो इस शरीर के सम्बन्ध से। जितने क्लेश है जीव को, वे सब क्लेश शरीर के सम्बंध से होते हैं? इस शरीर से सदा के लिए छुटकारा मिल जाय, केवल आत्मा ही आत्मा रह जाय, फिर उसको दुःख कहाँ है। केवल आत्मा ही आत्मा रह जाय इसका उपाय यह है कि अभी से ही देखने तो लगे कि मैं केवल आत्मा ही आत्मा क्या हूँ। जैसा उपाय करेंगे वैसी सिद्धि बनेगी। गेहूँ बोते हैं तो गेहूँ ही पैदा होता है। यह मैं सबसे न्यारा, शरीर से भी न्यारा ज्ञानमात्र मैं हूँ, यों शरीर से भिन्न अपने को निरखें तो यह शरीर से भिन्न बन जायगा और यदि शरीररूप ही अपने को निरखता है तो शरीर ही शरीर मिलते जायेंगे, जन्म मरण की परम्परा बढ़ेगी। अब सोचिये किसमें हित है? शरीर को शरीररूप समझने में हित है या अमूर्त ज्ञानानन्दमात्र समझने में अपना हित है। अपना हित सबसे निराला ज्ञानानन्दमात्र अपने को निरखने में है, अतः भेदविज्ञान करके अनेक यत्न करके एक इस ज्ञानस्वरूप अपने आपके आत्मा को जानना चाहिए।

श्लोक-1515

वपुष्यात्ममनिः सूते बन्धुवित्तादिकल्पनम्।

स्वस्य संपदमेतेन मन्वानं मुषितं जगत्॥1515॥

इस संसार में हम सब प्राणी अनादि से जन्म-मरण करते चले आ रहे हैं। जिस भव को धारण किया उस भव में ही अनेक कष्ट भोगे। उन कष्टों से छुटकारा पाने के लिए भी बहुत-बहुत प्रयत्न किया, लेकिन अब तक कष्टों से छुटकारा नहीं मिला। अब भी बहुत-बहुत प्रयत्न करते हैं कि कष्टों से छुटकारा मिल जाय। कभी-कभी धर्मभावना से हम धर्मकार्य भी करते हैं, उसका भी उद्देश्य यही है कि हमें शान्ति मिले, कष्टों से छुट्टी मिले। किन्तु कष्टों से छुट्टी न मिली तब सोचना होगा बड़ी गम्भीरता के साथ कि आखिर

हमारी वह कौनसी गलती है जिस गलती के कारण हमें कष्टों से छुट्टी नहीं मिल सकी। तो पहिले तो यह ही सोचिये कि कष्ट है क्या? कष्ट नाम है किसका? कोई पुरुष बड़ा धनी हो, बहुत-बहुत उसके पास आराम के साधन हो, फिर भी चित्त में पर के प्रति स्नेह हो, राग हो, द्वेष हो, कुछ चित्त में विकल्प आयें तो सुख के साधनों में रहकर भी अशान्त रहता है और तपस्वीजन जिनका वंदन करने के लिए हम आप घर छोड़कर आये हैं, जिनका गुण स्मरण करने के लिए हम आप अनेक क्षेत्रों पर भ्रमण कर रहे हैं उन तपस्वीजनों ने घरबार छोड़कर निष्परिग्रह होकर एकाकी स्थिति में रहकर वह आत्मीय आनन्द प्राप्त किया जिस आनन्दरस में तृप्त होकर बड़े से बड़े तपश्चरण में भी जिन्होंने आनन्द समझा। तब विचार करिये कि कष्ट नाम है किसका? कष्ट नाम है विकल्पों का। जब तक विकल्प उमड़ रहे हैं तब तक जीव को शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जगत में यद्यपि किसी का कुछ हे ही नहीं, खूब बाहरी दृष्टि से विचारो— जिस मकान में रहते हैं वह मकान भी आपका नहीं है, जिस देह में आप रहे हैं वह देह भी आपका नहीं है। इस जगत में अनन्ते जीव हैं, सभी यत्र-तत्र जन्म-मरण कर रहे हैं। कोई दो चार जीव आपके घर में आ गए तो क्या वे आपके हैं? अनन्तानन्त जीव हैं। जैसे सभी भिन्न हैं वैसे ही ये भी अपना अलग-अलग स्वरूप रखते हैं, सभी अपने-अपने कर्म लिए हुए हैं। क्या है इस जगत में इस जीव का? ये धन वैभव तो प्रकट भिन्न पड़े हैं डेला पत्थर की तरह। उनके प्रति आपके जो रागादिक भाव उठ रहे हैं ये भाव भी आपके बनकर नहीं रह पाते। ये भी मिटने के लिए उत्पन्न होते। फिर आप सोचें कि इस जगत में अपना है क्या? है कुछ नहीं अपना, फिर भी रागद्वेषमोह के कारण नाना विकल्प मच रहे हैं और उससे नये विकल्पों की सृष्टि हो रही है। उन्हीं विकल्पों के कारण कष्ट है और कोई कष्ट नहीं है। जिस किसी भी पुरुष के कष्ट की कहानी सुनो तो उनमें वह कष्ट विकल्पों का कष्ट मालूम होगा और दूसरों के कष्ट की कहानी सुनकर हम उसे मूर्ख समझ लेंगे कि यह कितना हठी है। न करे इसकी रुचि, न करे इसका मोह, लेकिन अपने आप पर जो रागद्वेषमोह की वृत्ति बनी है उस पर कोई नहीं सोचता। यह कष्ट नाम है विकल्पों का। विकल्प कैसे मिटें उसका उपाय हमारे अनुभवी आचार्यों ने बताया है। यह हम आपका बहुत बड़ा सौभाग्य है कि तपस्वी जनों ने अपना अनुभव ग्रन्थों में लिख दिया तो आपको यों प्राप्त हो गया। जैसे कोई बना बनाया भोजन आपके सामने रख दे फिर भी आप उसे न खाना चाहें तो यह कितनी बड़ी मूढ़ता की बात है?

हम जरा देखें तो सही— स्पष्ट बताया है कि जगत में प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना स्वरूप लिए हुए है, अपने ही उत्पाद से उत्पन्न होता है। किसी भी पदार्थ का परिणमन किसी अन्य की परिणति से नहीं बनता। तब स्वतंत्र हुए न सब ये वचन बोले जा रहे हैं ये भी स्वतंत्र पदार्थ हैं। यह मैं आत्मा जो यह इच्छा कर रहा हूँ वह भी स्वतंत्र पदार्थ है। पर जगत में पर पर निमित्तनैमित्तिक मेल ऐसा है कि किसी वस्तु का निमित्त पाकर अन्य पदार्थ अपनी योग्यता माफिक परिणमते हैं। तब प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना स्वतंत्र रूप

रख रहे हैं। तो देखिये सर्वप्रथम गलती तो यह है कि अपनी देह में ऐसी आत्मबुद्धि लगाये हैं कि हम उससे पृथक् अपने को मान नहीं सकते। जो शरीर है सो मैं हूँ। शरीर को आराम चाहिए चाहे अपने आपकी कितनी भी हिंसा हो रही हो, जहाँ राग बढ़ता है, जहाँ शरीर के आराम के लिए प्रमाद बसाये जाते हैं वहाँ आत्मा का घात है। शरीर में जो आत्मबुद्धि हुई है उस आत्मबुद्धि के कारण धन आदिक की कल्पनाएँ हो जाती हैं और उन कल्पनाओं से ही यह जगत इस लोक को अपनी सम्पदा मानता है और खुद ठगाया गया है। देखिये गलती मूल में हम आपकी कितनी है? यही है कि शरीर को माना है कि यह मैं हूँ। केवल इतनी मान्यता की गलती है पर इस गलती का फैलाव इतना भयंकर है कि कितनी ही तरह के शरीर धारण करने पड़ते हैं। कितने जन्म मरण के कष्ट उठाने पड़ते हैं। यह सब एक गलती का परिणाम है कि हम जिस पर्याय को पाते हैं उस ही पर्याय में आत्मबुद्धि कर लेते हैं और जब इस पर्याय में आत्मबुद्धि की तो बाहर में अन्य शरीरों में यह बुद्धि करने लगा कि यह मेरा कुछ है। धन वैभव आदिक भी मेरे कुछ हैं। बस ममता और अहंकार इन दोनों भावों से यह संसारी प्राणी ठगाया गया है। यद्यपि मोह में ऐसा लगता है कि अपना घर है, बड़ा आराम है, खूब वैभव है, अच्छी तरह रहते हैं किन्तु इसकी खबर नहीं है कि शुद्ध ज्ञानरस से परिपूर्ण सबसे निराला अरहंत आत्मा की तरह सर्वज्ञता की शक्ति रखने वाला यह आत्मा अपने स्वरूप की सुध खोकर दीन बना फिर रहा है। अपने आपके आत्मा के निकट आयें और उस चैतन्यरस का पान करके तृप्त होवें। जगत में तृप्ति के योग्य बाहर में कुछ भी पदार्थ नहीं हैं। तृप्ति हो सकती है तो अपने आपके स्वरूप में मग्न होने से हो सकती है। बाहर में किन पदार्थों को जोड़कर हम तृप्त होना चाहते हैं। ये तो सब पुण्य पाप के ठाठ है। उदय पुण्य का है तो लक्ष्मी आती है और जब पाप का उदय आता है तो यह लक्ष्मी विघट जाती है। जहाँ हमारा कोई हाथ नहीं उसके लिए तो हम रात-दिन विकल्प करें और मोक्ष का मार्ग जहाँ हमारा हाथ है हम अपने स्वरूप को जानें, उसी के निकट रहें, पर के सुध भूलें, विकल्पजाल तोड़े। यह काम मेरे हीकरने का तो है। मैं ही तो कर सकूँगा। जो ज्ञान खुद कर सकने का है उसे तो करें नहीं और जहाँ हमारा कोई हाथ नहीं, अधिकार नहीं उसमें हम विकल्प उठायें यह हम आप जड़ में भूल कर रहे हैं। हम कुछ समय तो इस प्रकार का भाव लायें कि हमारा मनुष्य जन्म पाना, श्रावक कुल पाना सफल हो जाये।

श्लोक-1516

तनावाल्मेति यो भावः स स्याद्बीजं भवस्थितेः।

बहिर्वीताविक्षेपस्तत्त्यक्त्वान्तर्विशेत्ततः॥1516॥

आचार्य देव कहते हैं कि यह मैं आत्मा हूँ— ऐसा इस शरीर को मानना संसारबंधन का बीज है। संसार में हम रुलते रहें, ऐसे-ऐसे देह पाते रहें इसका उपाय है इस शरीर को मान लें कि यह मैं हूँ। संसार में जन्म-मरण धारण करने का यह बहुत ही सुगम उपाय है। और यदि संसार के दुःखों से छूटना है, देह मिलते रहने की परम्परा को मिटाना है तो उसका मूल उपाय है कि संकटों का मूल आधार जो देह है उससे निवृत्ति हो। यह श्रद्धा पहिले करनी होगी कि देह से भी निराला ज्ञानानन्दमात्र मैं आत्मा हूँ, जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श इत्यादि नहीं है किन्तु केवल एक ज्ञानस्वरूप। जरा अपने आपको इस दृष्टि से देखें तो कुछ समय तक कि यह मैं केवल ज्ञानप्रकाश स्वरूप हूँ। ज्ञान ज्ञान, केवल जानन, केवल प्रकाश, जहाँ रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं, जहाँकोई मूर्ति नहीं, जो ढेला पत्थर की तरह नहीं, जहाँकोई आकार नहीं, केवल ज्ञानप्रकाश मात्र यह मैं आत्मा हूँ, ऐसा ज्ञानमय अपने स्वरूप को निहारें, देह की भी सुध छोड़ दें, देह की भी सुध छोड़ने से यह आत्मा ज्ञान का स्वरूप पायगा और ऐसे आनन्द का अनुभव करेगा कि जिस आनन्द से तृप्त होकर फिर संसार के विषयों के साधनों की ओर दृष्टि न जायगी। वही सत्य मार्ग है और वही आनन्द का सच्चा रास्ता है। इन इन्द्रिय के साधनों की भी दृष्टि त्यागकर अपने अन्तरङ्ग में प्रवेश किया जाय ऐसा आचार्यदेव का उपदेश है। देखिये— धर्मपालन के लिए हम यात्राएँ भी करते हैं लेकिन कभी-कभी यह स्मरण भी तो करें कि इन तपस्वीजनों ने क्या कार्य किया था जिस मार्ग से चलकर सदा के लिए संकटों से छूट गए। हम परमात्मदेव की क्यों पूजा करते हैं? इसलिए करते कि जो हमें इष्ट है केवल परमात्मदेव को प्राप्त कर लें। इस कारण हम वहाँ अपनी दृष्टि लगाते हैं। उन्होंने क्या किया? सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इन आराधनाओं को करके, अपने आपको एक चिन्मात्र अनुभव करके अष्ट कर्मों को उन्होंने नष्ट किया और शरीर से रहित हुए। अब जैसा यह आत्मा केवल अपने आप है वह स्थिति उनकी हो गई। आवरण दूर होने से ज्ञान का प्रकाश इतना फैल गया कि लोक को ही नहीं अलोक को भी जान रहे हैं। जो भी सत् पदार्थ हैं, उन सबको वे जानते हैं, निर्मलता इतनी बढ़ीचढ़ी है कि कोई वहाँ दोष नहीं रहा, जन्म मरण और रागद्वेष किसी भी प्रकार के दोष अब परमात्मा में नहीं रहे। वह तो निर्दोष हैं और गुणों से परिपूर्ण हैं इस कारण हम उन पुरुषों का स्मरण करते हैं। मेरा भी वैसा ही स्वरूप है। जो भगवान में स्वभाव है वही स्वभाव मुझमें है, केवल अन्तर यह पड़गया कि वे वीतराग हैं और यहाँ राग का फैलाव है। लेकिन जो अनन्त चतुष्टय उनमें प्रकट है, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्तआनन्द वे सब मुझमें भी हैं। मुझमें प्रकट नहीं हुए। क्यों प्रकट नहीं हुए? कि हम परद्रव्यों की आशा कर करके भिखारी बन रहे हैं। दूसरे जीवों से अपने बारे में कुछ चाहना यह भी एक भीख मांगना है। बाह्य वस्तुओं से अपने आपको सुखी मानना यह भी वस्तु से सुख

की भीख मांगना है। अरे है तो स्वयं सुखमय और मान रहा है कि परवस्तुवों से मुझे सुख हो रहा है। जैसे कुत्ता जिस हड्डी को चबाता है उससे खून नहीं आता, खून तो उसके ही मसूड़ों का है, पर वह मान रहा है कि मुझे हड्डी से स्वाद आ रहा है। वह उस हड्डी को लिए फिरता है। कोई दूसरा कुत्ता छुड़ाने आ जाय तो वह उससे लड़ता है। यही बात अज्ञानी जीवों की है। ये विषय सुखों के साधन जो बाह्यपदार्थ रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले पुद्गल हैं उन पुद्गलों को भोग भोगकर यह जीव मानता है कि इनसे सुख मिला, पर यह खबर नहीं है कि आनन्दगुण मेरा स्वरूप है जो विकृत था, ढका हुआ था वह स्वरूप मुझमें है। जो अब प्रकट हो रहा है तो उसके ही आनन्दगुण का परिणमन इस समय सुख रूप में चल रहा है। इतना ज्ञान नहीं है, अतः बाह्य पदार्थों के संचय में विकल्प मचाते रहते हैं और अपने को कष्टों में डालते रहते हैं।

एक घर में चार पाँच भाई थे। गरीबी आई, खाने को भी न रहा तो उन्होंने सोचा कि चलो मौसी जी के यहाँ चलें, 10-15 दिन वहाँ गुजारा करेंगे। पहुँच गए मौसी के यहाँ। वह मौसी भी बड़ी सयानी थी। देखते ही समझ लिया कि ये तो 10-15 दिन तक अब यहाँ ही रहेंगे। मौसी ने कहा कि तुम लोग क्या खावोगे? उन्होंने कहा कि जो कुछ घर में हो सो खावेंगे। मौसी ने दो चार मिठाइयों का नाम लिया। मौसी ने कहा अच्छा जावो तुम लोग कपड़े उतार कर रख दो, तालाब में स्नान कर आवो, मंदिर में पूजन कर आवो, तब तक हम खाना तैयार करती हैं। वे तो चलेगएकपड़े उतारकर तालाब में स्नान करने, 1 घंटा वहाँ लगाया, स्नान करके मंदिर में पहुँचे, 1॥ घंटा वहाँ लगाया। इस 2॥ घंटे के अन्दर मौसी ने क्या कियाकि उनके कपड़े वगैरह एक महाजन के यहाँ गिरवी रख दिया 50) में और आटा, घी, शक्कर वगैरह खरीदकर तुरन्त मिठाई बना ली। जब वे मंदिर से आकर भोजन करने बैठे तो कहते जाते हैं, वाह मौसी ने कितना सुन्दर भोजन बनाया। तो मौसी कहे— खाते जावो बेटा, यह तुम्हारा ही तो माल है। वे समझें नहीं, वे तो जानते कि खिलाने वाला ऐसा कहता ही है। जब खूब खा चुके और बाद में कपड़े पहिनने गए तो कपड़े मिले नहीं। तो मौसी बोली जब तुम लोग खा रहे थे तो मैं कहती थी कि खाते रहो यह तुम्हारा ही तो माल है। इसका मतलब क्या?.....तुम्हारे कपड़े मैंने महाजन के यहाँ 50) में गिरवी रखा, उससे घी, आटा, शक्कर वगैरह सब सामान लायी तब भोजन बनाया। तो जैसे वे भाई खा तो अपना रहे थे, पर मान रहे थे कि हम मौसी का खा रहे हैं ऐसे ही ये संसारी प्राणी भोग तो रहे हैं अपने ही आनन्दगुण का परिणमन पर विषयसाधनों में अपना आनन्द मानते हैं। कोई कष्ट की बात पड़े तो विकल्प मचाते और दुःखी होते रहते हैं। इन कष्टों से छूटना हो तो भेदविज्ञान का सहारा लेना पड़ेगा। कोई किसी का मुलाहजा करने वाला नहीं, कोई किसी का बिगाड़करने वाला नहीं। सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में हैं, अपने-अपने भावों में हैं। कोई किसी का सुधारक है, न बिगाड़क है, यह ध्यान में रखकर कुछ इस ओरआयें कि हम अपने को अधिक से अधिक अकेला विचार करें। मैं अकेला ही हूँ। इसमें एकत्व भावना बहुत विशिष्ट भावना है और इसका मर्म बहुत

अधिक से अधिक गहरे तक पावोगे। इस संसार में मैं अकेला ही हूँ। कर्मबन्धन करता हूँ, वहाँ भी अकेला कर्मफल भोगता हूँ, वहाँ भी अकेला संसार से छूटूँगा तो वहाँ भी अकेला ही छूटूँगा, और इस अवस्था में भी जो रागादिक मच रहे हैं, इस स्थिति में भी यदि स्वरूपदृष्टि करें तो मैं एक अकेला केवल चैतन्यस्वरूप से परिपूर्ण परमब्रह्मतत्त्व हूँ। उस एकाकी को तो विचारें। उस एकत्वस्वरस को अपने उपयोग में लें, किन्हीं भी परपदार्थों से हमारा गुजारा नहीं चलने का है। हमारा पूरा पड़ेगा तो अपने आपके दर्शन से पड़ेगा।

अपने आपमें जो परमात्मतत्त्व बसा हुआ है उसकी ओरदृष्टि तो करिये। यह परमात्मतत्त्व अनादि से ही इस बात के लिए तैयार है कि यह जीव जरा सा तो मेरी ओर उपयोग लगाये, फिर मैं इसे समस्त संकटों से छुटाकर उत्तम सुख में पहुँचा दूँ। लेकिन इस उपयोग का अपने अन्दर बसे हुए इस सहजज्ञानस्वरूप कारण समयसार इस अंतस्तत्त्व परमात्मा की ओर दृष्टिही नहीं होती तब, फिर बतलावो कष्टों से हम कैसे छूट सकते हैं? जरा अपनी ओर दृष्टिपात तो करियेगा आत्मा की रक्षा हो जायगी। विषयों में, कषायों में आत्मा का घात हो रहा है। क्रोध करके क्या हम किसी दूसरे का बिगाड़करते हैं? हम तो अपने ही आत्मा का बिगाड़करते हैं। हम अपने ही आत्मा के गुणों को जला डालते हैं। किसी भी प्रसंग में अहंकार करके, दूसरे को तुच्छ समझकर अपने आपको बड़ा साबित करके हम क्या कुछ किसी का बिगाड़ कर रहे हैं? हम अपने आपका बिगाड़कर रहे हैं। कर्मों का बंध बाँध रहे हैं। मायाचार करके, छल कपट करके क्या हम किसी दूसरे का बिगाड़ कर रहे हैं? मैं तो अपना ही बिगाड़ कर रहा हूँ। जिस आत्मा में मायाचार रहता है वह शल्य है और मायावी पुरुष के सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता। लोभ करते हैं, अपने घर वालों पर तो सब कुछ खर्च कर देते हैं और परजीवों के लिए तो जरा भी उदारता नहीं बर्तते हैं, यही है लोभ की वृत्ति। कोई अपने घर में हजारों का खर्च करता हो और यह डींग मारे कि मेरे अन्दर लोभ नहीं है तो यह उसकी डींग सच्ची नहीं है। अपने पुत्र, स्त्री आदिक परिजनों पर सर्वस्व समर्पित करें और दूसरे जीवों के प्रति उदारता का भाव न जगे तो यह लोभ ही है। इन लोभ आदिक कषायों में बसकर, विषयसंस्कारों में बसकर हम आपका कोई भी पूरा नहीं पड़ने का। हम अपनी ओरआयें, जगत के सब जीवों को अपने समान देखें, यह सब चैतन्यरस से परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वभाववान है। एक दोषवश कोई कीड़ा हुआ, पशु हुआ, पक्षी हुआ, यह भेद वास्तविक नहीं है।

वस्तु तो एक चैतन्यमात्र है। यह आत्मतत्त्व उसकी ओरदृष्टिपात करें, उसका पूजन करें। बाहर में भी तीर्थों में हम आप जिनकी पूजा करते हैं उन महापुरुषों में भी हम यह देखते हैं कि केवल एक चैतन्यरस का विकास है और परमात्मा किसका नाम है? जहाँपूरा ज्ञान है, पूरा आनन्द है उसका नाम है परमात्मा। और परमात्मा का क्या स्वरूप है इसके विवरण को छोड़ो, संक्षेप में यह निर्णय रखें कि जिस आत्मा में ज्ञान तो परिपूर्ण है और आनन्द भी परिपूर्ण है, दोष उपाधि कुछ भी नहीं रहती है, केवल आत्मा ही आत्मा है,

ज्ञानपुञ्ज है उसका नाम परमात्मा है। ऐसा मैं हो सकता हूँ। इस कारण मैं परमात्मा को पूजता हूँ। अपने अन्तरङ्ग में ऐसा अवलोकन हो तो हम धर्म के निकट बहुत कुछ पहुँचते हैं। और जीवन में इस बात का अधिक यत्न करें कि कषायें न करें। ये कषायें मेरी बैरी हैं, इन कषायों से आत्मा का घात है। कषायों पर विजय पाना यही सच्ची विजय है।

एक राजा था तो उसने सब राजाओं को जीतकर वह सर्वजीत कहलाने लगा। सब राजा लोग उसे सर्वजीत कहें। तो वह राजपुत्र बोला कि माँ सभी राजा मुझे सर्वजीत कहते हैं पर तू सर्वजीत नहीं कहती है तो माँ कहती है कि बेटा ! अभी तू सर्वजीत नहीं हुआ।.....अरे तो और कौनसा राजा जीतने को रह गया? जो रह गया हो उसे बतावो, मैं उसे अभी जीत लूँगा। तो वह माँबोली, बेटा तुमने राजाओं को तो जीत लिया है, पर अपने आपमें अहंकार को तूने नहीं जीता। जो तुझमें यह भाव लगा है कि मैंने सब राजाओं को जीत लिया है ऐसे अहंकार को अभी तूने नहीं जीता है। जब इस अहंकार को जीत लेगा तब मैं समझूँगी कि अब तू सर्वजीत कहा जाने योग्य है और तभी मैं सर्वजीत कहूँगी। तो आप निर्णय रखें कि मैं अपनी कषायों पर विजय कर लूँ तो मैं सच्चा विजयी हूँ और मैं कषायों के वश होकर अपने आपकी सुध खोकर मैं कुछ अपने को बड़ा मानता रहूँ तो वह तो हमारी एक कल्पनाभर है। उससे कहीं मैं विशिष्ट तो न हो जाऊँगा। तो हमें यह चाहिए कि हम भेदविज्ञान का प्रयोग करें, सबसे निराला ज्ञानानन्दमात्र अपने आत्मा के निकट बसने का यत्न करें, यही बात सर्वत्र सीखें। यात्रा में, स्वाध्याय में, अनेक प्रसंगों में इस बात का चिन्तन करें कि मैं सबसे निराला केवल ज्ञानानन्दमात्र हूँ। यह भावना हमारे सभी दोषों को बाहर निकाल कर फेंक देगी, इन कर्म शत्रुओं को उखाड़ देगी, इन विकल्पजालों को, कष्ट समूहों को नष्ट कर देगी। हम ज्ञानभावना की ओरबढ़ें और अपने को ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र मानें और बाह्यवस्तुओं में ममता न रखें। राग होता है। सम्हाल करते हैं ठीक है फिर भी इस निश्चय से अलग न हों कि मेरा बाहर में कुछ नहीं है। मेरा मात्र मैं ही हूँ। यों ज्ञानानन्दमात्र अपने आपका अनुभव करूँ, इससे ही जीवन की सफलता है।

श्लोक-1517

अक्षद्वारैस्ततश्च्युत्वा निमग्नो गोचरेष्वहम्।

तानासाद्याहमित्येतन्न हि सम्यगवेदिषम्॥1517॥

ज्ञानी पुरुष ऐसा चिन्तन करते हैं कि इन्द्रियों के द्वार से अपने स्वरूप से च्युत होकर विषयों में मग्न हो जाऊँ और उन विषयों को पाकर यह मैं अहं रूप से जानूँ, इस प्रकार आत्मस्वरूप को भली प्रकार से देख नहीं सकता। ज्ञानी पुरुष ज्ञान होने पर यह चिन्तन कर रहा है। यह चिन्तन धर्मध्यान से सम्बंधित है। अब तक अनादि से लेकर अनन्तकाल इन्द्रिय द्वारों से जानना और आनन्द मानना, यह एक भूल भरा काम किया। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, उसे हम इन्द्रियों से ही जानें तब ज्ञान बने ऐसी बात नहीं है। ज्ञान से भी ज्ञान हो सकता है। इन्द्रिय का आलम्बन न लें और जानें तो यह नहीं काम बन सकता है, किन्तु ये असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक नहीं बन सकते, एकेन्द्रिय जीव चाहते कि मैं इन्द्रियों से आनन्द न मानूँ, अपने ही ज्ञान से अपने ही स्वरूप से ज्ञान और आनन्द करूँ, यह बात एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय में भी नहीं हो सकती, क्योंकि संस्कार लगा है जिससे अपने उपयोग को मोड़ नहीं सकते। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में ही सामर्थ्य है कि वे अपने उपयोग की धारा को मोड़ सकते हैं। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में भी अरबों खरबों में से कोई बिरला ही सम्यग्दृष्टि है वह मोड़सकता है। अनादि से लेकर अब तक मैंने इन्द्रियद्वारों से ही जाना, इन्द्रियद्वारों से ही आनन्द माना और विषयों को प्राप्त करके मैं अहंपद से जान गया, ऐसा नहीं हुआ। पर को जाना कि यह मैं हूँ, क्योंकि इन्द्रिय द्वार से निरखते, अपने अन्तरङ्ग में नहीं देखते किन्तु निकट पर को जानते हैं। जब इन्द्रियाँ खुद को भी नहीं जान सकती तो अन्तरङ्ग को क्या जानें? आँखों से आँखों को भी नहीं देख सकते। आँखों में कीचड़ लगा हो तो हम आँखों को भी नहीं देख पाते हैं। दर्पण सामने लगाकर निरख लेते हैं। क्योंकि वह दर्पण पर हो गया नेत्र नहीं है, छाया है, उसे देखकर ही जान पाते हैं कि यह ऐब लगा है, पर नेत्रइन्द्रिय स्वयं को नहीं जान पाती। ऐसे ही कर्णइन्द्रिय भी बाहर में सबको जानती है। नासिका भी बाहर की गंध को जानती है, जिह्वा खुद अपना स्वाद नहीं जानती। स्पर्शन इन्द्रिय भी ऐसी ही है। कभी बुखार चढ़ा हो तो बिना एक हाथ से दूसरे हाथ को पकड़कर देखे हुए बुखार जाना नहीं जा सकता है। जब एक हाथ से दूसरे हाथ को छूते हैं तबसमझ पाते हैं कि इसमें इतनी गर्मी है, तो स्पर्शन इन्द्रिय भी स्वतंत्र अपने आपको नहीं जानती है। जब इन्द्रिय में खुद को भी जानने की सामर्थ्य नहीं है तो जो अमूर्त आत्मा है उसे जानने में क्या समर्थ होगी? तो इन्द्रिय के द्वारों से मैं अपने ज्ञान से च्युत हो गया और अब तक डोलता रहा। अपने आपकी समझ बने तो, जब एक ज्ञानप्रकाशमात्र स्वयं का स्वरूप उपयोग में रहता है तो वहाँ न बिगाड़ है, न कष्ट है और एक विशुद्ध शान्ति का अनुभव है। वह चीज मैंने अब तक नहीं प्राप्त की थी, ऐसा ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है।

श्लोक-1518

बाह्यात्मानमपास्यैवमन्तरात्मा ततस्त्यजेत्।

प्रकाशयत्ययं योगः स्वरूपं परमेष्ठिनः॥1518॥

इस प्रकार बाह्य शरीर में आत्मबुद्धि को छोड़कर अन्तरात्मा होता हुआ इन्द्रिय के विषयों में आत्मबुद्धि को छोड़ें। पहिले तो वैभव में ममता का परित्याग करें। यह धनवैभव में नहीं हूँ, ये मेरे नहीं हैं, फिर उनसे हटकर जो और चेतन कुटुम्ब आदिक द्रव्य हैं उनसे ममता बुद्धि त्यागें। फिर इस शरीर से आत्मबुद्धि को छोड़ें कि यह देह मैं नहीं हूँ, यह देह पौद्गलिक है, रूप, रस, गंध, स्पर्श वाली है और मैं आत्मा इस देह से निराला एक ज्ञानमात्र हूँ। ऐसा इसमें भेद जानें फिर इन्द्रिय के विषयों में भी आत्मबुद्धि त्यागें। एक तो बाह्य होती हैं। बाह्य में उसकी बात तो पहिले कह दी। जो रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले पुद्गल हैं, जैसे चखा जाना, सूँघा, देखा वे विषय तो बाह्य विषय हैं। पर उन विषयों के आलम्बन से जो इन्द्रियाँ अपना अंतः उपभोग करती हैं, मौज मानती हैं, जो अंतः विकल्प होते हैं वह इन्द्रियों का अन्तर्विषय है। तो अब उस विषय को भी अपने को हटाएँ अर्थात् इन्द्रिय द्वारा जो विकल्प बन रहे हैं उन विकल्पों में भी आत्मबुद्धि न करें। ये विकल्प भी पर हैं, इनसे निराला ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र मैं आत्मा हूँ। इस प्रकार से पर से छूट-छूटकर अपने निकट आये। यह एक अध्यात्मयोग है और यह परमेष्ठी के स्वरूप का प्रकाश करता है अर्थात् योग के द्वारा परमेष्ठित्व प्रकट होता है, परमात्मत्व का विकास होता है। जिसे भी शान्ति चाहिए हो वह अपने से भिन्न जितने भी पदार्थ हैं, तत्त्व है, उनका ख्याल छोड़कर अपने आपके स्वरूप में मग्न होने का यत्न करे। अध्यात्मयोग का हृद पाने वाले अरहंतदेव ने बताया है असहयोग और सत्याग्रह। जो मेरे लिए नहीं हैं उनका तो असहयोग कर लें, यथार्थ जान जायें, ममता न करें, किसी का कुछ भी परिणमन हो रहा हो जान जायें। कुटुम्ब में कोई चिन्ता हो, शोक हो, शारीरिक वेदना हो उसमें इलाज तो करें, पर अन्तः ऐसी ममता न रखें कि हाय अब क्या होगा? अरे जो होना है सो होगा। हमारा जितना कर्तव्य है सो करते रहें, अपने आपकी की ओर आये और अपने को पर से हटायें— ये दो बातें चाहिए। यह तो हुआ असहयोग। कोई परपदार्थ को हम सहयोग नहीं दे रहे। और असहयोग करके फिर जो अपने में चैतन्यस्वरूप है अर्थात् अपने आपकी उपेक्षा न रखकर केवल सत् में जो बात होती है उसे सत्य कहते हैं। ऐसा सत्य क्या है? एक चित्प्रकाश चैतन्यतत्त्व। उस चैतन्यभाव का आग्रह करें, यह मैं हूँ, यही मेरा सर्वस्व है, ऐसा उस चैतन्यतत्त्व का आग्रह है।

श्लोक-1519

यद्यद्दृश्यमिदं रूपं तत्तदन्यन्न चान्यथा।

ज्ञानवच्च व्यतीताक्षमतः केनाऽत्र वच्यहम्॥1519॥

अब ज्ञानी पुरुष ऐसा चिन्तन करता है कि जो रूप देखने में आ रहे हैं शरीर के अथवा और जड़पदार्थों के, जो-जो भी दिखने में आ रहे हों सो तो अन्य हैं। मैं नहीं हूँ। आत्मा नहीं है और ज्ञानवान जो है वह हमारी तरह है नहीं। वह तो इन्द्रिय से अतीत जो दिख रहा है, यह तो अचेतन है और जो वास्तविक तत्त्व है वे वचनव्यवहार आदिक शब्दरहित हैं। किससे बोलूँ? बोल भी रहा है इस रूप में बता भी रहा है, पर इसे समझाया जा रहा है। उसको एक सब व्यवहार से अतीत निर्विकल्प चैतन्यभाव की ओर ले जाया जा रहा है। दो ही चीज हैं— बीच की चीज को ग्रहण नहीं रहा इस समय यह ज्ञानी जीव। दो चीजें कौन? एक तो यह जड़ रूप पर्याय का पौद्गलिक रूप, एक अनादि अनन्त अहेतुक सनातन एक स्वरूप अचेतन स्वभाव। चैतन्यस्वभाव तो व्यवहार से परे है। उससे तो क्या बोलें? और जो पौद्गलिक रूप है वह कुछ जानता नहीं। न जानते हुए को क्या समझायें? तब मैं किससे बोलूँ? ऐसा चिन्तन करके वह अपने वचनव्यवहार को छोड़कर अपने आपमें गुप्त होना चाहता हूँ, अपने आपमें समाना चाहता है। मूर्तिक पदार्थ इन्द्रियों से ग्रहण में आ रहे हैं वे जड़ हैं। कुछ भी नहीं जानते और मैं ज्ञानरूप हूँ, अमूर्तिक हूँ, इन्द्रियाँ उसे ग्रहण नहीं करती। इन्द्रियाँ उसे नहीं जान सकती। तब मैं किससे वार्तालाप करूँ? दूसरे लोग जिस मुद्गलको देख रहे हैं वह मैं नहीं हूँ। यह मैं तो वह हूँ जो इन्द्रियों से भी परे है। कोई मेरी बात सुनना चाहे, कुछ मेरी जिज्ञासा हो तब तो मैं बोलूँ। सो सुनने वाले में वहाँ दो तत्त्व हैं। एक तो चैतन्यस्वभाव जो व्यवहार से परे है उससे बोलना क्या? एक पौद्गलिक रूप जो अचेतन है, उससे बोलना क्या? एक परस्पर का आकर्षण मिटा रहा है ज्ञानी जीव। वचनगुप्ति पालने के लिए मैं मौज में रहूँ और अपने आपमें अपनी साधना करूँ, इस बात के लिए दो तत्त्व निरख रहा है। एक अत्यन्त बिगड़ा रूप और एक अन्तः शुद्ध चित्‌रूप। दोनों ही वचनालाप के अयोग्य हैं इसलिए मैं किससे बोलूँ? ज्ञानी पुरुष ऐसा विचारकर विषयों की बुद्धि छोड़ता है और अपने आपमें मग्न होना चाहता है।

जब-जब चित्त विषयों में लगता है तब-तब आकुलता होती है। जो दुनिया में बुरा नहीं माना जाता जैसे भोजन करना यह भी क्या क्षोभ मचाये बिना भोगते हैं? अरे भोजन भी कोई शान्ति से नहीं करता है। कुछ अशान्ति है तब तो भोजन किया। जो मुनिजन विरक्त हैं, ज्ञानी पुरुष हैं वे भी भोजन को क्यों जाते हैं? अगर चित्त में शान्ति होती तो भोजन को क्यों जाते? भला बिना फोड़ा फुँसी के कौन मलहमपट्टी करेगा? ऐसे

ही कुछ न कुछ अशान्ति हुई है तब भोजन करते हैं। बड़े-बड़े आचार्यजन, साधुजन, तीर्थंकर, मुनिजनों को भी चर्या के लिए जाना पड़ता है। लोग तो यों कहते हैं कि आहार की प्रवृत्ति करने के लिए तीर्थंकर चर्या को निकलते हैं याने उन्हें शान्ति नहीं है। ऐसा साधारणतया लोग कह देते हैं। परन्तु बात इतनी ही नहीं है। ऐसी असाता वेदनीय की उदीरणा हुए बिना क्षुधा नहीं बनी। उस वेदना में अशान्ति हुई तब वे चर्या को निकलते हैं। चाहें साधारण मुनिजनों की अपेक्षा उनके अशान्ति बहुत कम है लेकिन है अशान्ति। किसी न किसी अंश में तब वे भोजन ग्रहण करते हैं। केवल इतना ही मान जायें कि वे दुनिया में मुनिधर्म का आचरण बताने के लिए और आहार कैसे लिया जाता है। यह प्रचार करने के लिए आहार लेते हैं, वैसे तो और लोग भी कहते हैं कि भाई भगवान को अवतार लेने की क्या जरूरत थी? भगवान ने यह नटखट क्यों किया कि सीता को पहिले रावण से हराया, फिर रावण से लड़ाई की, क्योंकि करते तो सब भगवान ही है। नहीं तो वे भगवान थे उड़कर जाते और सीता जी को ले आते। यह नटखट क्यों किया? तो उत्तर देते हैं कि दुनिया में न्याय नीति बनाने के लिए एक षड्यन्त्र रचा। यों अनेक उत्तर हो सकते हैं। ऐसे ही यह समझें कि बड़े-बड़े तीर्थंकर भी आहार चर्या को निकलते हैं, आहार ग्रहण करते हैं तो किसी न किसी साधारण अंश में ही सही कोई अशान्ति होती है, उस वेदना का प्रतिकार करने के लिए निकलते हैं। यद्यपि पुद्गल आहार से शान्ति नहीं मिलती, मगर शरीर में जब कोई इस प्रकार की वेदना होती है तो उस समय अशान्ति रहती है और जिस समय वेदना नहीं रहती उस समय शान्ति अनुभव करते हैं। वह शान्ति आहार में से निकलकर आत्मा में नहीं आयी। वेदना का परिणमन शरीर में न था, शरीर का परिणमन शरीर में था, पर कुछ न कुछ निमित्तनैमित्तिक सम्बंधवश इसने अपना उपयोग कुछ उस ओर किया, वेदना हुई। तो वेदना के समय भी शरीर से आत्मा में वेदनाएँ आयी हों ऐसा नहीं है। भोजन करने पर भोजन से शान्ति निकलकर आत्मा में आती हो सो बात नहीं है। पहिले भी विकल्पों से ही दुःखी था, अब भी अपने ही भावों से सुखी हो रहे, पर निमित्तनैमित्तिक सम्बंध की यह बात देखी तो जा रही है। हम आप लोगों ने यात्रा की, बड़ा परिश्रम किया, जलपान किया, शान्ति मिली—तो क्या उस जलपान में से निकलकर शान्ति आई? अरे ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि उस जलपान का निमित्त पाकर अपने में जो वेदना का भार था वह शान्त हो गया। ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि ये विषय अचेतन हैं, इनसे मेरे में कुछ बात नहीं आती, मेरा किसी चीज से सुधार बिगाड़ नहीं, यह अपने में रहो, मैं अपने में रहूँ, और फिर मैं किससे बोलूँ, अचेतन से क्या, चेतन से क्या, अपना प्रसंग बनाया है क्योंकि जो दिखता है वह सब अचेतन है। अचेतन अपने प्रसंग में आता नहीं यों जानकर विषयों से मुख मोड़कर अपने आत्मस्वरूप में मग्न होता है ज्ञानी।

श्लोक-1520

यज्जनैरपि बोध्योऽहं यज्जनान्बोधयाम्यहम्।

तद्विभ्रमपदं यस्मादहं विधुतकल्मषः॥1520॥

लोगों के द्वारा मैं सम्बोधने योग्य हूँ। लोगों के द्वारा मैं समझाया जाने योग्य हूँ और मैं लोगों को सम्बोधता हूँ ऐसा भी जो विकल्प है वह भी भ्रममात्र है क्योंकि मैं पाप से रहित हूँ अर्थात् यह जो आत्मतत्त्व सहज चैतन्यस्वरूप निष्कलंक हूँ। इसे कौन सम्बोधे? और यह किसको सम्बोधे? इस प्रसंग में ज्ञानी पुरुष ने अपने उपयोग में जो आनन्दपद निरपेक्ष सहजस्वरूप चैतन्यमात्रभाव को लिए है और उसे ही मैं मानता है, उसे ही उस रूप अनुभव है। ऐसी स्थिति में ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि यह मैं न सम्बोधनरूप हूँ न सम्बोधने वाला हूँ, वह तो निष्काम, निश्चल और स्वतंत्र चैतन्यप्रकाशमात्र है। जब ऐसे सहजस्वरूप पर दृष्टि दृढ़ हो जाती है तब फिर इस जीव को कोई कलंक अथवा कोई विकल्प की बात नहीं रहती। जब आत्मा अपने आत्मस्वरूप में मग्न हो गया फिर उसे कष्ट क्या? जैसे एक भाई ने शंका की थी कि कोई पुरुष कच्ची गृहस्थी को छोड़कर विरक्त हो जाय, अपनी चाहने वाली माँ स्त्री पुत्रादिक को छोड़कर विरक्त हो जाय तो क्या उसे ऐसा करना चाहिए? अरे उस विरक्त पुरुष को जब यह अनुभव हो गया कि मैं चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ और इस ही आनन्द में वह तृप्त है तो उसे कोई विकल्प उठता ही नहीं। जिसमें विकल्प उठे उसमें कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेक होता है। थोड़ा दृष्टान्त के लिए ऐसा समझें कि जब किसी का विवाह होता है तो पति पत्नी में 7 प्रतिज्ञाएँ हो जाती हैं जो कि उनके धर्म और जीवन से सम्बंधित हैं। उनमें मानो पति ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं आजीवन पत्नी की रक्षा करूँगा और पत्नी ने मानो यह प्रतिज्ञा की कि मैं आजीवन अपने पति के अतिरिक्त किसी में चित्त न दूँगी। दोनों में बंधन हो गया पर पति मानो विरक्त हो जाय, पति का मोह गल जाय, पति निर्ग्रन्थमुनि बन जाय तो क्या उसके नियम भंग करने में दोष आता है? नहीं, क्योंकि वह नियम मोह में था, जब मोह गल गया तो वह नियम भी गल गया। इसी कारण मुनि का नाम द्विज है। द्विज लोग ब्राह्मण को कहते हैं पर द्विज का अर्थ जो दुबारा पैदा हुआ हो। जैसे कोई मनुष्य मरकर दूसरा भव पाये तो अब इस मनुष्य का कोई सम्बंध तो नहीं रहा। कुछ भी नियम किया हो, प्रतिज्ञा की हो और अपने जीवन में उसने पूरा न कर पाया हो तो कोई उसे दोष नहीं आया। दूसरा जन्म हो गया। ऐसे ही मुनि होने के मायने दूसरा जन्म हुआ। जैसे यह मनुष्य मरकर कुछ बन जाय तो अब उसका शत्रु कहाँ रहा? ऐसे ही जब यह मुनि बन गया तो इसके अब गृहस्थी कहाँ रही, दोष क्या रहा? तो यह मोह में किया गया नियम मोह तक ही है। जहाँ मोह टूटा वहाँ फिर आत्मा का शुद्ध नियम चलता है। विकृत नियम

फिर नहीं चलता। ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है कि मैं जो एक चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ वह न तो किसी को समझाना है और न किसी के द्वारा समझाया जाता है, वह तो जो है सो है। जान जाय तो अनुभव कर ले। जो न जाने, बाह्यपदार्थों में तो रसतो मैं लेकर दुःखी हो और बाह्य में जन्ममरण की परम्परा बढ़े तो एक अभेदरूप मैं आत्मा हूँ चित्स्वरूपमात्र ऐसा सामान्यरूप का व्याख्यान सुनकर कुछ मतावलम्बियों ने यह मान लिया कि आत्मा में ज्ञान होता ही नहीं। ज्ञान तो प्रकृति का धर्म है, पौद्गलिक तत्त्व है, भौतिक चीज है। उस ज्ञान का चेतन से सम्बंध होता है तो यह चेतन ज्ञानी कहलाता है अर्थात् वह चेतनसामान्य इस ज्ञान से विलक्षण है। मैं चैतन्यमात्र आत्मा हूँ जिसे न कोई दूसरा समझाता और न किसी दूसरे को समझाता। जब मैं दूसरे को समझाता दूसरा मुझे समझाता है ऐसा मानना भ्रम है, विकल्प है। अब ज्ञानी ने समझा कि मैं आत्मा निष्कलंक हूँ, ये वचनव्यवहार से परे हैं, तब मैं किससे बोलूँ किसको समझाऊँ, मैं तो एक इस चैतन्यरस का ही स्वाद लूँ।

श्लोक-1521

यः स्वमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतोऽपरम्।

निर्विकल्पः स विज्ञानी स्वसंवेद्योऽस्मि केवलम्॥1521॥

जगत में जितने प्राणी हैं उन सबकी एक यह अभिलाषा है कि दुःख से छूटें और शान्त रहें, आनन्द प्राप्त करें और जितने भी तो कोई भी प्राणी प्रयत्न करते हैं वह सब इस ही प्रयोजन से करते हैं कि दुःख हमारा दूर हो और आनन्द प्राप्त हो। किन्तु अनेक प्रयत्न करने पर भी कभी आनन्द नहीं मिल सका, तृप्ति नहीं मिल सकी। इसका क्या कारण है? इस पर विचार करना चाहिए और हम उसका निर्णय करके उस मार्ग पर चलें ऐसा हमारा प्रयत्न होना चाहिए। प्रथम तो मोटे रूप से यह ही विचार कीजिए कि जिस भव में जो-जो समागम मिला है उन समागमों से हमने लाभ क्या प्राप्त किया? भव-भव की बात छोड़कर इस ही भव की बात का विचार कीजिए। जो भी समागम प्राप्त हुए हैं उन सबकी वृद्धि के लिए हमने 50-60 वर्ष खोया है। अगर पूछें कि उन समागमों से अभी तक आपने क्या लाभ पाया है? तो सभी का हृदय यह बोल उठेगा कि मिला कुछ नहीं। इतने वर्ष खोया, घरगृहस्थी चलाया, कुटुम्ब भी बनाया, अनेक लोगों से परिचय भी बनाया किन्तु वह सब बेकार रहा। यहाँ तो सन्तोष मिला ही नहीं, आनन्द मिला ही नहीं। जब कुछ अपना

उपयोग अपने आप पर दया करे तो वह अपने कल्याण के लिए बनेगा, यह निर्णय रखियेगा। जगत में जितने भी जीव हैं वे सब अपना-अपना अस्तित्व रखते हैं, उनके भावों के अनुसार उनके साथ उनका कर्मबन्धन है। उनका सुख-दुःख उनमें है, उनका पुण्य पाप उनके साथ है, उसी के अनुसार उनका बर्ताव होता है। हम उनकी जिम्मेदारी अपने आप पर क्यों अधिक मानें? साथ ही यह भी निर्णय रखें कि हम जितने भी प्रयत्न करते हैं कुटुम्ब को सुखी रखने के, परिजनों में, बन्धुवों में, मित्रजनों में तो ये सब बातें एक कल्पना भर की हैं। आप ऐसा कुछ करने में समर्थ नहीं हैं। इसको निर्णय में रखते हुए कुछ समागमों से विरक्ति धारण करें। घर में रहकर भी यदि अपने आपके स्वरूप की ओर दृष्टि चलती है तो वहाँ भी आप कल्याण मार्ग पर चल रहे हैं। जब अपने आपके कल्याण की इच्छा जगेगी तब सब बातें सहज ही स्पष्ट रूप से समझ में आने लगेंगी। प्रथम बात तो यह है कि हमें कल्याण की इच्छा बलवती प्रेरणा के साथ नहीं जगी है और जब तक हममें आत्महित की भावना तीव्रता के साथ नहीं जगती है तो हमारा सब कुछ हाथ पैर सिर पीटना किसी भी मोड़में बेकार चीज है। श्रोता किसे कहते हैं? श्रोता के लक्षण में सबसे पहिले यह बताया कि वह भव्य है, वास्तविक श्रोता है जिसके चित्त में यह भावना जग रही हो कि मेरा हित क्या है? मैं आत्महित कैसे करूँ? आत्महित करने के लिए अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए तैयार रहना चाहिए। इस मुझ आत्मा का अहित अभी तक भ्रम में हुआ है। जो पदार्थ जैसा है, पदार्थ का जो स्वरूप है उसको इस रूप में न मानकर एक दूसरे में मिलाकर परवस्तुओं में 'यह मैं हूँ' ऐसा भ्रम करके अपना अहित किया है। और ऐसा भ्रम होने के कारण क्या बना कि अनादिकाल से निमित्तनैमित्तिक सम्बंध के साथ जो परिणतियाँ चल रही थी उन परिणतियों को हमने अपनाया और आपा माना। यह एक भ्रम था। ये भ्रम भी अटपट नहीं बने, कोई विधिपूर्वक बने थे। अब कोई विधि ऐसी भी है कि हम इस भ्रम को दूर कर सकते हैं और अपने आपमें अपने सहजस्वरूप के दर्शन कर सकते हैं। सर्वप्रथम तो यह ध्यान दीजिए कि मूल में समस्त जीव एक समान हैं अथवा नहीं। उपाधि औपाधिकभाव इनकी ओर दृष्टि न देकर केवल एक अस्तित्वमात्र के द्वार से निरखें तो सब जीवों में वही एक चैतन्यभाव है अथवा नहीं। जिसके कारण अस्तित्व रहा करता है वह स्वरूप सब जीवों में एक समान है। सब जीवों में वह चिद्रूप एक समान हुआ करता है। जो आज परिणमनों में विषमता देख रहे हैं वह विषमता क्यों हुई है? उसका कारण अशुद्ध उपादान है। जो अशुद्ध परिणमन कर सके ऐसा निमित्त है, सन्निधान मिला है।

देखिये जब वस्तु का हम निर्णय करें तो हम केवल आत्महित का ध्यान रखकर निर्णय करें। किसी द्वन्द्व प्रतिद्वन्द्व में किसी मंतव्य को ध्यान में न रखा करें और जो हमारी आगम परम्परा चली आयी है उन वचनों का सहारा लेकर निर्णय करें। यह तो प्रकट सिद्ध है कि प्रत्येक पदार्थ अपना-अपनाही स्वरूप रखते हैं। कोई पदार्थ किसी दूसरे का स्वरूप नहीं ले सकता है। यदि कोई पदार्थ किसी दूसरे का स्वरूप

स्वभाव ग्रहण कर लेता होता तो शंकरता होकर आज जगत में कुछ न रहता। सब शून्य रहता। जगत में इतने पदार्थ मौजूद हैं यह इसके बल पर कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही अपने स्वरूप को ग्रहण किए हुए हैं, कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ के स्वरूप को नहीं ग्रहण करता। द्रव्य की जातियाँ 6 हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल— ये चार पदार्थ विभावरूप नहीं परिणमते। विभावरूप परिणमने वाले केवल एक जाति के ही द्रव्य हैं— जीव और पुद्गल। तो विभावरूप परिणमने की यह विधि है कि विभावरूप परिणमने वाले पदार्थ परिणमते तो हैं अपने ही परिणमन से विभावरूप, पर अपने विभावरूप परिणमन में जैसा खुद उपादान हे ऐसा खुद ही निमित्त बन जाय तो यह विभावरूप परिणमन सदा काल रहा करे। सो किसी परनिमित्त को पाकर यह उपादान अपनी परिणति से विभावरूप परिणमता है। परिणमों, लेकिन हम अपनी एक ऐसी धुन रखें एकत्व भावना की कि उन समस्त सम्पर्कों से अपने को हटा हटाकर केवल अपने आपके स्वरूप की ओर लगायें अपने उपयोग को ऐसी हम अपनी धुन बनायें, ऐसी हम अपनी दृष्टि बनायें। जब वस्तु के परिणमन का निर्णय करना होता है तब तो निमित्त उपादान की चर्चा चला करती है और जब केवल अपने आत्महित की दृष्टि होती है तब वहाँ केवल एक अद्वैत निज अंतस्तत्त्व की दृष्टि लगायी जाया करती है ऐसे दो प्रयोजनों में दो विधियाँ हैं। निर्णय की बात एक बार दृढ़कर ली जाय तो आत्महित के अर्थ सबसे निराले केवल विविक्त इस आत्मतत्त्व की दृष्टि का यत्न करना चाहिए। और इस दृष्टि में रहकर जब हम निरखते हैं तो सर्वत्र यह देखते हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपकी परिणति से परिणमता है, किसी दूसरे की परिणति से नहीं परिणमता है। इस निर्णय में यह बात जरूर है कि जीव और पुद्गल ये दोनों जब विभावरूप परिणमते हैं तो किसी परनिमित्त को पाकर ही परिणम सकते हैं। निमित्त सन्निधान बिना विभाव नहीं होता लेकिन साथ ही साथ आत्मकृपा की भी बात सुनिये। आत्मदया किसमें है, परदृष्टि बनाकर हम अपने आपकी रक्षा न कर सकेंगे, निजदृष्टि बनाकर ही हम अपने आपकी रक्षा कर सकेंगे।

अनादिकाल से हम परपदार्थों की ओर दृष्टि लगाकर, उनसे रागस्नेह लगाकर, उनमें मुग्ध होकर अपने आपके जन्म मरण की परम्परा बनाये-बनाये चले आ रहे हैं। जब हम देह से निराले केवल ज्ञानानन्दस्वरूप निज अंतस्तत्त्व की दृष्टि बनाते हैं और वहाँ ही हम यह अनुभव करते हैं कि यह चित् चमत्कार मात्र मैं हूँ तो वहाँ जन्ममरण की परम्परा हमारी मिट जायगी। और जन्म-मरण ही इस संसार का सबसे बड़ा अनर्थ है। जितने भी क्लेश हैंवे सब केवल एक इस शरीर के लगे रहने के कारण हैं। यद्यपि क्लेश मानता है यह आत्मा, उन सब क्लेशों के होने का एक आधार है यह शरीर। कल्पना करो कि यदि यह शरीर न होता, केवल मैं ही मैं होता तो मेरी क्या परिस्थिति होती? मेरी वह परिस्थिति होती जो सिद्ध भगवान की परिस्थिति है। सिद्ध भगवान के शरीर नहीं है, कर्म नहीं है, केवल वह आत्मा ही आत्मा है। तो उसकी यह परिस्थिति है कि गुण तो सब विकसित हैं और दोष सिद्ध प्रभु के अन्दर एक भी नहीं है। अर्थात्

दोषों से रहित गुणों से परिपूर्ण स्थिति हमारी होती है, पर शरीर का सम्पर्क है तो उसका फल यह है कि जरा जरासी बातों में हम क्लेश मानते हैं। तो हम यह भावना करें कि हे प्रभो ! मैं शरीररहित स्वरूप वाला हूँ और मेरी ऐसी स्थिति बने कि शरीररहित केवल अपने आपके स्वरूप में बस सकूँ। इस ही स्थिति में हम आप सबका कल्याण है। देखिये जब जिस बात का वर्णन चलता हो उस नय को मुख्य करके, उस दृष्टि को मुख्य करके हमें उसका निर्णय लेना चाहिए और यह बात जब हम नहीं कर पाते हैं तो हमें विवाद मालूम होने लगता है। यह स्थिति आज करीब-करीब फैल रही है कि जोजिस नय से बात करता है, जिसे जो नय प्रिय है वह अपने उस नय को ही एकान्त करके चर्चा करता है और यह कुछ विवाद का स्थान बन जाता है और जैनसिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले सभी लोग चाहे कोई निश्चय के पक्ष का हो, चाहे व्यवहार के पक्ष का हो, सबमें सबकी बात उन उनकी दृष्टि से यथार्थ जँचती है लेकिन जब अपने नय के एक अभिनिवेश में आकर अन्य नय की बात को असत्य कहींतब वहाँ विवाद हो जाता है।

हम आप सबको ऐसे एक मध्य मार्ग से चलना चाहिए जिससे हमें कोई भी अपना विरोधी न जँचे और वास्तव में कोई किसी का विरोधी है भी नहीं। जैसे लौकिक कामों में हम किसी को अपना विरोधी मान लें तो दुःखी हमको ही होना पड़ता है। कोई जीव किसी का विरोधी नहीं है—इस बात को पहिले इस तरह उतारिये। जगत में जितने भी जीव हैं उन सबकी यह चाह नहीं है कि मैं किसी का विरोध करूँ। सभी के इन कषायों से जो वेदना उत्पन्न होती है वह वेदना शान्त हो जाय ऐसा चाहते हैं। तब प्रत्येक प्राणी अपनी कल्पना के अनुसार जो कुछ भाव लिए हुए है और उसमें जो कुछ भी अशान्ति है, अपनी अशान्ति को शान्त करने के लिए अपना प्रयत्न करता है।

किन्तु अन्य जन अपने साधन में समर्थन न मिलने के कारण उसे विरोधी मान लेते हैं। जगत में कोई भी मेरा विरोधी नहीं है। कोई गाली गलौज भी देता हो तो उसका एक भाव है, अपने भावों के अनुसार वह अपनी शान्ति के लिए अपनी चेष्टा करता है। मेरा कुछ नहीं कर रहा है। ऐसा अपने में निर्णय रखकर उसे अब विरोधी न समझिये। एक कथानक है कि एक राजा अपने शत्रु पर चढ़ाई करने चला जा रहा था और उस ओर से वह शत्रु भी अपनी सेना साथ लेकर उसकी ओर आ रहा था। रास्ते में इस राजा को एक मुनिराज के दर्शन हुए, जंगल में मुनिराज के समीप बैठ गया। मुनि से उपदेश सुनने लगा। इस बीच में शत्रु सेना के शब्द सुनाई पड़ने लगे। राजा कुछ सावधानी सहित तलवार पर हाथ रखकर बैठ गया। कुछ और ज्यादा शब्द सुनाई देने लगे। तलवार उठाकर खड़ा हो गया। तो मुनिराज कहते हैं कि राजन् ! यह क्या करते हो? तो राजा बोला— महाराज ! जैसे-जैसे शत्रु सेना मेरे निकट आती जाती है वैसे ही वैसे मेरा क्रोध बढ़ रहा है कि मैं इस शत्रु का घात कर दूँ। तो मुनिराज बोलते हैं कि राजन् ! तुम बहुत अच्छा काम करते हो। शत्रु निकट आये तो उस शत्रु को ध्वस्त कर देना ही चाहिए। लेकिन एक शत्रु तुम्हारे बिल्कुल अन्दर आ

चुका है उसको तो ध्वस्त करो। राजा बोला—महाराज वह कौन शत्रु है? मुनिराज बोले कि तुम दूसरे राजा को अपना विरोधी मानते हो, उससे द्वेष करते हो, ऐसा तो द्वेषरूप परिणाम तुममें आया है, यह द्वेषरूप परिणाम तुम्हारा शत्रु है उसको ध्वस्त करो। राजा की समझ में आ गया। वह झट निर्ग्रन्थ मुनिपद धारण करके बैठ गया। विरोधी सेना के जितने भी लोग आये वे सब उसके पैरों पड़कर वापिस लौट गए। हम सबको यह भाव रखना चाहिए कि इस जगत में मेरा कोई विरोधी नहीं है। मेरा मात्र मैं ही विरोधी बन जाता और मैं ही अपना उद्धारक बन जाता। जैसा हम भाव करते हैं उस प्रकार कर्मबन्धन होता है। उनका जैसा उदय होता है उस प्रकार यह विभाव परिणमन चलता है और इस बीच हम निमित्त से अपना भेद नहीं कर पाते। आस्रवों से भिन्न हम अपने को नहीं समझ पाते हैं। सबसे निराला चैतन्यस्वरूप अपने को नहीं समझ पाते तो यह निमित्तनैमित्तिक सम्बंध की परम्परा चलती है और उसका फल होता है संसार में क्लेश भोगना। तो अपने आपकी रक्षा के लिए यह जरूरी बात है कि अपने सहजस्वरूप का परिचय प्राप्त करें। अब इस दृष्टि में आकर के इस प्रकरण को सुनिये जो इस श्लोक में कहा जा रहा है।

मैं क्या हूँ ? जो हूँसो हूँ। सीधा उत्तर तो यह है कि तब हम वचनों का प्रतिपादन करते हैं तो यह करना होगा कि मैं अपने चतुष्टय से हूँ और पर के चतुष्टय से नहीं हूँ। स्याद्वाद में जो सप्तभंग बताये गए हैं वे सप्तभंग केवल एक ही किसी भी बात के बोलने पर बन जाते हैं। जो कुछ आप कहते होंगे वह एक भंग हुआ, उसके विरुद्ध जो दूसरी बात है उसका निषेध हुआ, यह दूसरा भंग हुआ और दोनों बातों को एक साथ नहीं बोल सकते हैं तो यह एक तीसरा अवक्तव्य भंग हुआ। जब यह एक स्वतंत्र भंग हो गया तो इसके प्रतिपक्षी धर्मों को मिला करके जो भंग बनेगा वह दूसरा और बनेगा, तीनों को दो-दो बनायेंगे तो तीन बनेंगे। जैसे तीन वस्तु हैं— सोंठ, पीपल और मिर्च। इनको 7 प्रकार से खाया जा सकता है। केवल सोंठ, केवल मिर्च, केवल पीपल, सोंठ ,मिर्च, मिर्च पीपल, और इन सबको दो-दो मिलाकर स्वाद लिया जा सकता है। इसमें मुख्य तीन पदार्थ हैं। केवल इस समय उन 3 पर दृष्टि रखिये। मैं हूँ, अपने स्वरूप से हूँ, पर के स्वरूप से नहीं हूँ। स्वरूप में चार चीजें होती हैं— द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। तब इसका अर्थ यह हुआ कि मैं अपने द्रव्य से हूँ, अपने क्षेत्र से हूँ, काल से हूँ और भाव से हूँ। पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से नहीं हूँ। देखिये इस तरह की दृष्टि बनाकर आप निरखियेगा। तो प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र समझ में आना चाहिए। प्रत्येक पदार्थ अपने चतुष्टय से रहा करते हैं, पर उस चतुष्टय के परिणमन में यदि कोई विभावपरिणमन है तो उपादान अपनी कला से विभावरूप परिणमता है, इसमें कोई संदेह नहीं। पर उपादान अपनी कला को विकसित करे ऐसे उसके वातावरण परिणमन अनुकूल पर निमित्त सन्निधान पाकर हुआ करता है। तो मूल में तो प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से हैं, तो मैं अपने द्रव्य से हूँ, अपने गुणपर्याय वाला हूँ, अपने प्रदेश में ही हूँ, अपने ही परिणमन में हूँ और अपने ही गुणों में हूँ। ऐसा अपने आपका निर्णय

करके देखा जाय तो यह मैं अपने स्वरूप को ही ग्रहण करता हूँ, मैं किसी परपदार्थ का ग्रहण नहीं कर सकता। तब फिर हम अपने स्वरूप को देखें और परस्वरूप से अपने को निराला समझें तो यह मैं एक अभेद निर्विकल्प ही था, और ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व स्वसम्बन्ध हूँ। अपने आपके द्वारा ही मैं अनुभव में आने योग्य हूँ।

देखिये एक आत्मरक्षा के प्रकरण में आत्मा के स्वतंत्रता की यह बात कही जा रही है। यद्यपि हम जब इस लोक पर दृष्टिपात करते हैं तो ये विभिन्नताएँ कैसे बनीं? ये विभिन्नताएँ कैसे हुईं? तो वहाँ यह निर्णय है कि सब हम अनुकूल कर्मों का सन्निधान पाते हैं तो उस-उस प्रकार हम क्रोधादिक भाव रूप परिणम जाते हैं। फर्क यह है। पर जब हम आत्मरक्षा की दृष्टि में चलते हैं तो हमें इस ओर अपनी दृष्टि गड़ानी चाहिए कि जिससे विकल्प दूर हों और शान्ति प्राप्त हो। लोकव्यवहार में भी जब हम अनेकों से परिचय बढ़ा लेते हैं, अनेकों के साथ स्नेह भाव रखते हैं तब हम बहुत से विकल्पों में पड़जाते और एक किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते। तब यह निर्णय करना है कि परिचय बढ़ाना, स्नेह बढ़ाना, मोह बढ़ाना—ये हमारे हित के लिए ठीक नहीं हैं। मूल प्रयोजन यह है कि आत्मा में मोहभाव न रहे, जितने भी क्लेश हैं इन जीवों को वे मोह भाव के कारण है। माना कि यह मेरी स्त्री है, जहाँममता की बस सब बोझ अपने पर आ गया, क्योंकि उसे अपना मान लिया ना। माना कि यह मेरा वैभव है तो सब बोझ अपने आप पर आ गया। माना कि मेरी नामवरी है, मेरा यश है, लोग मुझे अच्छा कह दें यह आशा यदि बन गयी तो ऐसी आशा वाले को शान्ति कहाँ से आयगी? और एक बात इसके सम्बंध में यह देखिये कि लोग उसी को बुरा कहते हैं जो जगह-जगह जाकर रोटी की, पैसों की भीख माँगे। दूकान पर जाकर भिखारी पैसा मांगता है तो लोग उसे बुरी निगाह से देखते हैं। यदि दो एक रोटी मांगता है तो यह भिखारी दया का पात्र है, मंदभाग्य है, बेचारा कष्ट में है यों अनेक परिचयों से उसे देखते हैं। तो दूसरे से कुछ मांगना यह एक भीख है और उसे हम अच्छे रूप में नहीं निरखते। लेकिन कोई इस ओरही दृष्टि की जाय, यदि हम यह चाह रहे हों कि ये लोग मुझे कुछ अच्छा कह दें, लोक में मेरा नाम हो और मुझे अच्छी तरह समझें, मेरे को एक बात बोल दें ऐसी यदि लोगों से आशा बना रखी हो तो इसके मायने क्या यह नहीं है कि लोगों से हम कुछ मांग रहे हैं और मांगना ही भीख है। तो यह भीख उन भीखों से भी गंदी है। यदि हम यह चाहते हैं कि लोक में मेरा नाम हो, यश हो, लोग मुझे अच्छा कहें तो यह उस भीख से भी गंदी है जो भिखारी लोग मांगते हैं। और रोटी से तो पेट भरता है किन्तु इससे कहाँपेट भरता है बल्कि एक अतृप्ति बढ़ती है।

भीख बिल्कुल न मांगता हो ऐसा बिरला ही पुरुष है। लोग बड़े धनिक बनना चाहते हैं, धन की ओर अपनी धुन लगाये हुए हैं। ताकि लोग समझ जायें कि यह भी कुछ हैं और नाना प्रकार की विद्याएँपढ़ने में अपनी धुन बनाये हैं। लोग परिवार क्यों चाहते हैं? मेरे घर संतान अच्छे हों, पुत्र हों, कुल चले ताकि लोग

यह कह सकें कि यह कुल वाले हैं, अच्छे हैं, प्रशंसा कर सकें। तो मुझे संतान चाहिए, धन चाहिए, विद्या चाहिए, नेतागिरी चाहिए। जो-जो बातें यहाँ लोग दूसरों से चाह रहे हैं वे भीख नहीं है तो फिर और क्या है? अरे जरा अपने आपके आत्मस्वरूप की ओरदृष्टि कीजिए, यह आत्मा स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप है, हमारा ज्ञान पर से नहीं मिला, हमारा आनन्द पर से नहीं मिला। सब कुछ वैभव एक अपने आपमें है, अपनी ओरसे आया है, हम अपनी ओरआयें, अपने को पहिचानें, मोह का परित्याग करें तो हम शान्ति को प्राप्त कर सकते हैं, दुःख से छूट सकते हैं, अन्यथा दुःख से छुटकारा पाने वाले हम कितना ही यत्न कर डालें पर दुःख से नहीं छूट सकते हैं। अपने आपके स्वरूप को समझें और मुक्त होने का प्रयत्न करें, मोह ममता अज्ञान मिथ्यात्वभाव से निवृत्ति पायें तो हम शान्ति पा सकते हैं, ऐसा बनने के लिए हमें स्वाध्याय में, तत्त्वचर्या में, परस्पर के वात्सल्यभाव में रहकर बढ़ना चाहिए और अपने स्वरूप के निकट पहुँचकर हम अपना उद्धार कर लें तो समझ लीजिए कि हमारा मनुष्य जन्म पाना सफल है। श्रावककुल, जैनधर्म जो-जो कुछ प्राप्त हुआ है उसकी सफलता भी तभी समझें।

श्लोक-1522

जातसर्पमतेर्यद्वच्छृङ्खलायां क्रियाभ्रमः।

तथैव मे क्रियाः पूर्वास्तन्वादौ स्वमिति भ्रमात्॥1522॥

अतीत भ्रम पर ज्ञानी का चिन्तन— जैसे जिस पुरुष को रस्सी में अथवा साँकर में सर्प की बुद्धि बनी है तो उसकी क्रिया में भी भ्रम हो जाता है अर्थात् विभ्रमरूप, मायारूप उसकी क्रिया होने लगती है। इसी प्रकार शरीर आदिक में स्व का भ्रम हो गया उस भ्रम के कारण पहिले हमारी विभ्रमरूप क्रिया हुई थी। ज्ञानी पुरुष विचार कर रहे हैं, जब ज्ञान जग गया तब अपनी पहिले की अज्ञानदशा पर एक पछतावा कर रहा है। यह पछतावा उसे क्लेशरूप नहीं हो रहा है, किन्तु आनन्द का ही प्रदाता हो रहा है। आप ऐसा सोचेंगे कि कोई पछतावा ऐसा भी होता है जो कुछ आनन्द से भी सम्बंध रखता है यह एक विलक्षण बात है। कोई पछतावा में शोकातुर हो जाता है, रंज में डूब जाता है, पर ज्ञानी जीव को अपनी अज्ञान दशा पर पछतावा हो रहा है आनन्द को छूती हुई परिणति के साथ।

दृष्टान्तपूर्वक अतीतभ्रम पर ज्ञानी के विचार का वर्णन— जैसे कोई पुरुष को स्वप्न में ऐसा दृश्य दिख जाय कि हम जंगल में जा रहे हैं, जाते-जाते कहीं एक तालाब में गिर पड़े हैं। वहाँ कोई एक मगर झपट रहा है उसने मेरी टाँग को पकड़ रख है। मान लो ऐसा ही स्वप्न आ जाय तो उस स्वप्न में उसकी कितनी बुरी दशा हो रही है? दुःखी हो रहा है और कुछ हिम्मत बनाकर उस समय वह जग जाय तो इस जगने पर झट वह ख्याल करता है कि हूँ मैं कहाँ क्योंकि पहिले मैं तालाब में डूबा जा रहा था, मगर ने पैर पकड़ रखा था। ओह ! मैं तो घर में पड़ा हूँ, उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। साथ ही यह पछतावा भी हुआ कि कैसा स्वप्न आया जो दुःखी हुआ। यह पछतावा आनन्द से सम्बंध रखता है। वैसे ही यों समझिये कि आत्मा को पहिले ज्ञानदशा में, शरीर आदिक में 'यह मैं हूँ' ऐसा भ्रम करके जो उसे क्लेश हुआ था, क्रिया भ्रम हुआ था उसके अब यह पछतावा हो रहा है। कब? जब ज्ञानदशा प्रकट हुई है। आत्मा को आत्मारूप से जाना है, समझा है। यह तो कष्टरहित निराकुल निष्कम्प चैतन्यमात्र है ऐसा समझने पर कुछ जब याद आता है ज्ञान ही तो है, पहिली बात। जब कुछ ख्याल में आता है तो उनका जो पछतावा हो रहा है वह पछतावा शोक में डुबाने वाला नहीं है, किन्तु भार से हटा हुआ है। जिसको सांकल में सर्प की बुद्धि हुई ऐसे पुरुष को क्रियाबुद्धि हुई उसी प्रकार उसके शरीर आदिक में आत्मबुद्धि रूप भ्रम का भेदविज्ञान होने से पहिले भ्रमरूप कार्य अनेक हुए हैं ऐसा ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है। जरा अनेक लोगों को वर्तमान में भी कुछ निरखना चाहिए कि हमारी क्रिया भ्रमरूप है या नहीं। यदि हमारी भी समझ में आ जाय वास्तविक ढंग से कि हमारी क्रिया भ्रमरूप है तो उसका भ्रम हट गया, हट रहा, हटने ही वाला है ऐसा समझना चाहिए।

भ्रम वाले पुरुष को भ्रम का पता नहीं हुआ करता। जब भ्रम से हटने की अवस्था होने को होती है या भ्रम से हटा हो तो उसे पता पड़ता है कि यह है भ्रम। तो अपने आपको निरखिये कि हम भ्रम से चल रहे हैं या नहीं। अपने-अपने चित्त का सबको पता है। घर में रहने वाले स्त्री पुत्रादिक को आप क्यों अपना मानते हैं? यह भी क्या कोई ढंग है? आपको उनके प्रति यह सत्य वोट कैसे हैं कि जीव स्वतंत्र हैं, यह भी पृथक् है, मैं भी पृथक् हूँ। यह अपने में परिपूर्ण है, मैं अपने में परिपूर्ण हूँ इस प्रकार की परिपूर्णता चित्त में है या नहीं? सब बातें अपने आपके चित्त में मिल जायेंगी और समाधान भी हो जायगा। यह बात किसी से पूछकर उत्तर लेने की नहीं होती। खुद ही अपने आपमें निर्णय कर लें। यदि पर की ओर आकर्षण है तो समझ लीजिए कि बहुत बड़ी विपत्ति में हैं। सांसारिक सुखों के साधन मिलाकर विभाव छोड़कर अपने शारीरिक आराम के साधन जुटाकर अपना सुख मान लिया तो इतने से इस जीव का क्या पूरा पड़ता है? अजीव है, सत्भूत है। रहेगा यह, किसी न किसी पर्याय में चलेगा। आगे की बात तो सोचिए एक भव के सुख से पूरा न पड़ेगा। अपने को अपने निकट बैठाकर समझायें। आत्मा का उपयोग बाहरी पदार्थों में लग रहा है तो इससे बढ़कर विडम्बना और आपत्ति किसी को नहीं कहा जा सकता।

अणुव्रत में एक परिग्रह परिमाण नामक अणुव्रत है, जिसमें इस श्रावक ने यह नियम लिया है कि हम इतना परिग्रह रखेंगे। उस प्रमाण से अधिक वाला कोई धनी पुरुष दिख जाय। जैसे उसने एक लाख का प्रमाण रखा है और करोड़पति आँखों दिख जाय तो उस श्रावक के चित्त में एक प्रकाश आता है। जो वास्तविक मायने में सम्यग्दृष्टि श्रावक परिग्रह प्रमाण वाला है उसके परिग्रह की बात कह रहे हैं, यह कितना विपदा में फँसा है, कितना पर की ओर फँस गया है, कितना पर में लग गया है? कृपापात्र है। इस प्रकाश के साथ बड़े धनिकों को देखता है परिग्रह परिमाण वाला, न कि यह हमसे बड़ा है, और मैं छोटा हूँ। यह कल्पना नहीं करता है सम्यग्दृष्टि श्रावक परिग्रह परिमाण अणुव्रती। तो आप समझिये कि बाह्य जड़ पदार्थ पत्थर ढेला जिनकी कोई कीमत नहीं उनमेंदृष्टि लगाकर उन्हें सर्वस्व मानकर हम अपनी शान्ति भंग करते हैं, अशान्ति बनी रहती है यह हमारा सन्मार्ग नहीं है, कुमार्ग है, इससे निवृत्त होकर अपनी ओर आये।

देखिये व्यापारी लोग बोलते हैं कि सोने का क्या भाव है, गेहूँ का क्या भाव है? जो बोलते हैं उसको उसी रूप में कोई सुनना नहीं चाहता। वे बोल रहे हैं यह किसोने के सम्बंध में पब्लिक का क्या ख्याल है? भाव मायने ख्याल, परिणाम। सोने में कुछ भाव नहीं रखा है। वे तो सब एक समान हैं, पत्थर हैं, धातु हैं, सब एक चीज हैं। इस ओर से देखें तो। उसका पता तो ज्ञानी पुरुष को रहता है। लोग बहुत सही बोल रहे हैं, पर सुनने वाले दूसरा अर्थ लगाते और बोलने वाले दूसरा अर्थ लगाते। भाव पदार्थों में नहीं है पर गेहूँ, चावल, चाँदी, सोना आदि के प्रति लोगों का क्या भाव है, क्या ख्याल है, ऐसा पूछा जा रहा है। तो एक मनुष्य ने महत्त्व का भाव नहीं बनाया और एक मात्र उसे ज्ञेय कर लेता है। यह तो भाव बनाये अपना, अपने विभावों का महत्त्व तौलें, अपने उस सहज ज्ञायकस्वरूप का दर्शन करें, उसमें ही तृप्त रहें तो यही है हमारा सन्मार्ग। जीव को विषय के साधनों से तृप्ति नहीं हुआ करती। जैसे अग्नि ईंधन से तृप्ति नहीं पाती ऐसे ही इन विषयों के साधनों के मिलने से तृप्ति नहीं होती। तृप्ति का कारण तो एक निज चैतन्यस्वरूप का स्वाद है। अपने आपको ज्ञानमात्र बनाये बिना, ज्ञानानुभव किए बिना अपने आपका जैसा निर्णय विविक्त केवल चैतन्यमात्र स्वरूप है, जो सहजस्वभाव है ऐसा अपने को ज्ञान कर ले तो तृप्ति होगी। बाहर में दृष्टि रखकर कोई तृप्त होना चाहे तो तृप्त नहीं हो सकता। जैसे कोई यह सोचे कि आज हम पेटभर खा लें, फिर मस्त हो जायेंगे, सदा के लिए भोजन से छूट जायेंगे तो क्या उसका यह ख्याल सच्चा है? किसी भी प्रकार का भोगोपभोग हो, ऐसा सोचियेगा कि इसे मन भर भोग लें, फिर बाहर में यह कष्ट न रहेगा। तो जहाँ मन में भोग भोगने का भाव है वहाँ मन के भोग क्या सदा बने रहेंगे? वहाँ भी तृप्ति नहीं हो सकती है। और बड़ा दुर्लभ से दुर्लभ समागम मिला है—जैन शासन का पाना, अहिंसा का वातावरण मिलना जो दुर्लभ से दुर्लभ समागम हैं उनकी उपधारणा की शक्ति और अपने आपके स्वरूप की ओर देखने का बल जो कुछ यह प्राप्त हुआ है यह सब सफल हो जायगा यदि ज्ञान और वैराग्य का आदर किया जाता।

देखिये कि यदि इस जड़ वैभव का ही आदर रहा तो बहुत-बहुत श्रेष्ठ समागम पाकर भी समझियेगा कि हमने कुछ नहीं किया। जैसे एक अहाना में कहते हैं— कहाँ गए थे? दिल्ली। वहाँ क्या किया? भाड़ झोंका। अरे भाड़ ही झोंकना था तो गाँव में क्यों नहीं रहे? यों ही कहाँ गए थे? मनुष्यभवं में, श्रावक कुल में, जैनशासन में। क्या किया? विषयों को भोगा। यदि विषयों को भोगने के लिए ही मनुष्यभवं पाया था तो गधा, कुत्ता, बिल्ली आदि के भव कौनसे बुरे थे? वहाँ भी तो यही चीजें थीं। तब समझियेगा कि मनुष्यभवं पाकर कोई विविक्त लाभ लेने की बात मन में होना चाहिए। इस वैभव के पीछे मन परेशान हों, यह तो छाया की तरह पीछे चलने वाला है। मेरा काम है कि सत्य का आग्रह करें, असत्य को सत्य नहीं समझते, माया को परमार्थ नहीं जानते। सत्य समझना एक ही हमारा काम है। उसके ही लिए मेरा जीवन है ऐसा निर्णय करके चलिए और संसार में फिर जो स्थितियाँ आयें, उन स्थितियों को तुच्छ गिनकर उनमें रंच भी घबड़ाहट न करें। क्या होगा मेरा इस लोक में, मेरी आजीविका रहेगी या नहीं? अरे क्या शंका करना, ज्यादा रहेगा तो वहाँ व्यवस्था रहेगी, कम रहेगा तो वहाँ व्यवस्था रहेगी। न रहेगा तो दो जगह से रोटी माँगकर पेट भर लेंगे, किन्तु अपने आपका ज्ञानदर्शन रूप जो महान कार्य है हमारे लिए तो कर्तव्य वह है, अन्य नहीं है।

भैया ! किस बात की शंका करना? जहाँ जितनी अपने आपके आत्मत्व की दृढ़ता है वहाँ पर लोक का क्या भय? परलोक क्या किसी दूसरे के हाथ की दी हुई चीज है? क्या किसी दूसरे कर्ताधर्ता के हाथ की बात है? परलोक क्या चीज है? हमारा आगे का परिणमन ही परलोक है और फिर एक खुले रूप में इस मनुष्यपर्याय में जो हमारा परिणमन है वह हमारा परलोक है। वह किसी दूसरे के हाथ की बात नहीं है कोई ईश्वर करने नहीं आया है। कर्मोदय की बात तो यह आयुकर्म के उदय से होता है परलोक। इस मनुष्य पर्याय में नवीन आयु कर्म का बंध अपनी आयु के 60 वर्ष तक तो होता नहीं। मान लो जिसकी 90 वर्ष की आयु है, 60 वर्ष तक तो होता नहीं, शेष रहे 30 वर्ष तक नहीं होता। 30-30 वर्ष के तीन टुकड़े करके 3 भागों में न होगा, 10 वर्ष के तीन भागों में न होगा। ऐसा ही होता है आयुबंध। एक अपने आपमें बल बढ़ाने के लिए यह समझ लीजिए कि अभी आयु का बंध नहीं हुआ। अब शान्त रहें, अपने आत्मा के दर्शन करें। वैभव का मोह हटावें, सम्यग्ज्ञान का आदर करें। निश्चय से परलोक अच्छा होगा। और जैसे यह बताया गया है करणानुयोग के शास्त्रों में कि जिसका नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य आयु का बंध होगा उस पुरुष के महाव्रत का परिणाम नहीं होता। यदि देव आयु का परिणाम हो तो अणुव्रत महाव्रत बन सकता है। उससे यह भी तो निष्कर्ष निकालें कि जो ज्ञान की आराधना में रहना चाहता है वह वस्तु के सम्यक स्वरूप की जिज्ञासा रखता है जिसका उपयोग ऐसे मोक्षमार्ग में लगने वाले शुभसाधनों की ओर है उस पुरुष का परलोक कोई बुरा नहीं होने का। अपने चित्त में दृढ़ता रखें, मोक्षमार्ग में बढ़ने के लिए कदम पर कदम बढ़ाते रहें। वह कदम है ज्ञान

का कदम पुरुषार्थ। जैसे व्यापारी वर्ग कमाने में अब इतना कमाया, अभी इतना कमाना है ऐसी बाट जोहते हैं ऐसे ही ज्ञानी जन जिस दृष्टि में आत्मदर्शन हो उसमें उत्साह बढ़ाते हैं और आगे बढ़ते हैं। आगे क्या बढ़ना, अन्तः मग्न होना है। व्यवहार में आगे बढ़ने का तरीका है बाहर में आगे बढ़ना और अध्यात्म में आगे बढ़ने का तरीका है। अन्तः मग्न होना। अपने से बाहर आगे बढ़ना या भीतर आगे बढ़ना? लौकिक बढ़ने में और अध्यात्म बढ़ने में एक विपरीत दिशा है। ज्ञानी पुरुष यहाँ चिन्तन कर रहा है, अहो ! जब मैंने पर में आत्मबुद्धि की थी तब हमारी क्रिया भ्रम हुआ था, लेकिन—

श्लोक-1523

शृङ्खलायां यथा वृत्तिर्विनष्टे भुजगभ्रमे।

तन्वादौ मे तथा वृत्तिर्नष्टात्मविभ्रमस्य वै॥1523॥

जैसे सांकल में जब सर्प का भ्रम नष्ट हुआ तो सांकल में ऐसी यथावत प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार मेरे शरीर आदिक में जब आत्मत्व का भ्रम नष्ट हुआ, अर्थात् जब भ्रम से रहित हो गया तब मेरी शरीर आदिक में यथावत प्रवृत्ति हुई अर्थात् ममत्व का परिहार हुआ। शरीर आदिक ज्ञेयमात्र रहे। जैसे रस्सी में भ्रम था वह पुरुष एक उत्साह बनाकर धीरे-धीरे आगे बढ़कर दृश्यमान पदार्थ में लक्षण निरखकर जब यह जानकर अरे यह तो रस्सी मालूम होती है तो और आगे बढ़ा। खूब उठा उठाकर देखा, ज्ञान हो गया कि यह रस्सी ही है। अब उस पुरुष से कोई कहे कि हम तुमको 10 हजार रुपया देते हैं, तुम जैसे पहिले व्याकुल हो रहे थे, घबड़ा रहे थे, जरा वैसी ही फिर चेष्टा करना, तो ऐसा वह न कर सकेगा। हाँ भले ही लोभवश दिखावा में वह वैसी चेष्टा करे लेकिन अन्त में न वह व्याकुलता है, न शंका है, न डर है। ऐसे ही जिस ज्ञानी पुरुष ने सुलक्षण पहिचानकर सबसे निराले चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व का अनुभव कर ले उस पुरुष को अब इन लौकिक बातों में भय नहीं होता। किसी भी लौकिक वैभव को देखकर उसके वह भ्रम नहीं है जो अज्ञानदशा में था। परपदार्थों में झुकने वाले बड़े-बड़े महाराजाओं ने दयापात्र कर सन्तोष के, किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अज्ञान— यह स्थिति दिखती है। यों भ्रम दूर हो गया ज्ञानी के तो आशा नहीं रही, अब वह प्रसन्न रहता है। साथ ही उसके यह श्रद्धा बन गयी है कि इच्छाएँ करने में रखा क्या है, सार क्या है? वहाँ भी सार नहीं है। यों परस्पर बन्धन है कि जब इच्छा की जाती है तब भोग नहीं रहते, जब भोग है तब उस जाती

की इच्छा नहीं रहती। बड़े-बड़े लोग जब कोई मन में चाह उत्पन्न करते हैं वे चाहते हैं कि यह तुरन्त काम हो। छोटी-छोटी सी बात में किसी को इच्छा हुई कि हमें तो पापड़ खाना है तो कहता है कि हमें तुरन्त पापड़ बनाकर खिलावो। अरे तुरन्त कहाँ धरे हैं। कुछ तो समय लगता ही है। मामूली सी बात में भी जिसमें कुछ तत्त्व नहीं रखा है चाहते हैं कि जिस समय इच्छा हुई उसी समय पूर्ति हो, मगर स्वरूप तो देखिये, वास्तविकता देखिये— चक्रवर्ती तीर्थंकर के भी यह नहीं हो सकता है कि जिस समय इच्छा हुई उसी समय उस इच्छा की पूर्ति हो जाय। थोड़ा सुनने में कुछ कठिन सा लग रहा होगा कि ऐसे पुण्यवान चक्रवर्ती के भी यह बात नहीं होती कि जिस समय इच्छा हुई उसी समय उस इच्छा की पूर्ति हो जाय। अरे यह तीर्थंकरों ने ही बताया है हम अपनी बात नहीं कह रहे हैं किन्तु ऐसा होता है सो सुनिये। इच्छा का नाम है वेद्यभाव। हम आगम के शब्द पर कह रहे हैं और बोधक का नाम है वेदकभाव। मान लो किसी को इच्छा हुई कि हमें 2 हजार रु. का लाभ हो तो उसी समय दो हजार रु. धरे हैं क्या? अगर धरे हुए हैं ऐसा कोई सोचता है। मानो दो हजार मिल भी जायें तो उसी समय नहीं मिले जब कि दो हजार रुपयों की चाह हुई। इच्छा के समय इच्छा की पूर्ति नहीं होती तब फिर ऐसी इच्छा का हम क्या करें? जो इच्छा केवल सताने का ही काम रखे, जिसका और कोई प्रयोजन नहीं, दुःखी करने की ही जिसकी वृत्ति है ऐसी इच्छा का हम क्या आदर करें?

ज्ञानी पुरुष का चिन्तन एक अलौकिक चिन्तन होता है, जिसे लौकिक जन नहीं सोचते— उनकी चिन्ताएँ और हैं, ज्ञानी पुरुष का चिन्तन और भाँति है। ज्ञानी पुरुष के साथ वर्तमान में वैभव भी हो तो भी वह वैभव से इतना हटा होता है श्रद्धा में, अन्तरङ्ग में जितना कि श्रद्धा में साधु हटा हुआ है। एक राग की प्रेरणा हैसो चारित्र में नहीं उतर पाया है, पर श्रद्धा में ऐसा नहीं है कि गृहस्थ मानता हो कि घरबार सारा नहीं तो कुछ-कुछ तो मेरा है, मेरे आत्मा के सहज चैतन्यस्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी परतत्त्व मेरा नहीं है ऐसा बार-बार सोचना चाहिए। इसी कारण वर्तमान परिग्रह मेरा परिग्रह नहीं। रागवश जितना बिगाड़ है वह राग का परिग्रह है, पर श्रद्धा का परिग्रह नहीं है, क्योंकि परिग्रह तीन प्रकार के होते हैं— अतीत, वर्तमान और भावी। अतीत तो गुजर ही गया, उसका क्या ममत्व करें? भावी वर्तमान में है ही नहीं, उसकी क्या आकांक्षा करें? इतने लम्बे प्रोग्राम नहीं होते ज्ञानी के, और वर्तमान परिग्रह में वह वियोगबुद्धि कर रहा है कि मैं इससे कब हट जाऊँ, ऐसी निवृत्ति किया है तब समझ लीजिए कि सम्यक्त्व की महिमा कितनी निर्लेपता, श्रद्धा में प्रकट हो जाती है। सारांश यह है कि हम आपका शरण तो आत्मा है, इसको हम परमात्मा के स्मरण से ही पुष्ट करते हैं। उस आत्मा की शरण में जायें तो हम शान्त हो सकेंगे, मुक्त हो सकेंगे और पर की ओर लगे रहे तो जन्म मरण की परम्परा है।

श्लोक-1524

एतदेवैष एकं द्वे बहूनीति धियः पदम्।

नाहं यच्चात्मनात्मानं वेत्यात्मनि तदस्म्यहम्॥1524॥

जो किया हो उसके निर्णय पर हमारा सारा होनहार निर्भर है। हम आगे क्या बनेंगे, क्या करेंगे, क्या सहेंगे, किस स्थिति में होंगे, यह सब बात केवल इस पर ही निर्भर है कि मैं अपने बारे में अपने को क्या समझ रहा हूँ? अनादि से अब तक यह जीव अपने को देहरूप समझता रहा। देह के ढंग को निरखकर मैं काला हूँ, गोरा हूँ आदिक विकल्प करता है, देह के संस्थान को निरखकर मैं गोरा हूँ, लम्बा हूँ, मोटा हूँ— इस प्रकार की प्रतीति रखता है और देह को ही निरखकर मैं पुरुष हूँ, नपुंसक हूँ, स्त्री हूँ, इसी प्रकार की प्रतीति रखता है। तो शरीर में आत्मा की प्रतीति रखने का फल है यह संसार का जाल बनते रहना। जन्म हो, मरण हो, सारे कष्ट उठाना ये सब बातें चलती रहती हैं। और जिस काल में यह जीव अपने आपका ऐसा निर्णय रखता है कि मैं देह से भी निराला, रागादिक भावों से भी निराला केवल ज्ञानमात्र आनन्दस्वरूप में सद्भूत आत्मा हूँ। जब ऐसी दृष्टि करता है तो शरीर इसके ख्याल में नहीं, वैभव इसके ध्यान में नहीं, केवल एक विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा उपयोग में रहता है ऐसी प्रतीति करने वाले जीव जन्म मरण की शृंखला से छूट जाते हैं। तो जैसे यह एक साधारण रूप से नियम है तो विशेषरूप से और भीतरी नियम है। जिन्हें एक अंदाज से समझा जा सकता है। कीड़ा, मकोड़ा, खटमल, बिच्छू कितनी ही प्रकार के जीव पाये जाते हैं। ये भिन्न-भिन्न देह मिलने के कारण कोई विशिष्ट परिणाम है। उन परिणामों को करके यह जीव भ्रमवश जन्म मरण के भार को ढोता चला आ रहा है। करना क्या है अब? करना यह है कि अपने आपका जो सहजस्वरूप है, पर के सम्बंध बिना अपने अस्तित्व के कारण अपने आपका जो स्वरूप है तन्मात्र अपने आपको प्रतीति में लेना यह काम पड़ा है। जगत में ये सारे समागम ठाठबाठ तो प्राप्त हुए हैं ये कुछ भी शरणभूत नहीं हैं, शान्ति के कारणभूत नहीं हैं। प्रत्युत जगजाल भ्रमण कराने के कारण हैं। अपने आपको इस रूप मत समझिये। मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, गरीब हूँ, राजा हूँ, सुन्दर हूँ, कुरूप हूँ— ये सार प्रत्यय समस्त विश्वास इस जीव के अनर्थ के कारण हैं। मैं देह से भी निराला केवल ज्ञानानन्दमात्र हूँ। मैं पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, नपुंसक हूँ इस रूप अपने को अनुभव न करें। जब देह ही मैं नहीं हूँ। देह से निराला एक चैतन्यमात्र वस्तु हूँ तो फिर स्त्री कहाँसे? इस शरीरकृत सम्बंध से भी उपयोग हटाकर केवल ज्ञानस्वरूप अपने को निरखें तो यही है धर्मपालन।

देखिये कुछ कल्याण बुद्धि जगी है, धर्म के लिए कुछ यत्न करना चाह रहे हैं ठीक है, मगर सही निर्णय करके सही ढंग से तो धर्मपालन करना कर्तव्य है। एक यह बात यदि प्रतीति में न आये तो धर्मपालन न होगा। चाहे कितना ही श्रम किया जाय। कौनसी बात? मैं देहादिक सबसे निराला केवल ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ ऐसा दर्शन अनुभवन विश्वास अपने को न हो सका तो धर्मपालन न होगा। यह मूल की बात कही जा रही है। इसी प्रकार यह एक है, यह दो है, यह बहुत है ऐसी संख्या के विषय का स्थानभूत भी मैं नहीं हूँ। मैं एक चैतन्यस्वरूप हूँ। जिस स्वरूप से हूँ उस स्वरूप से मैं जब निरखता हूँ, तो मेरा कहीं कुछ नहीं है, मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा मात्र मैं हूँ। मैं पर मैं दृष्टि डालकर दुःखी होता हूँ। मैं अपने ही द्वारा अपने को अपने में जानने वाला हूँ। ऐसा मैं सुसम्बद्ध हूँ, अकेला हूँ। प्रत्येक पदार्थ में यह बात है कि पदार्थ का जो परिणम होगा वह उस पदार्थ में ही होगा, उस पदार्थ से बाहर न होगा। तो अब अपनी भी सुनिये। मैं आत्मा हूँ, जाननहार हूँ, यह जानन का जो काम है वह मेरे आत्मप्रदेशों में ही हुआ करता है बाहर न होगा। जिसे यह भ्रम है अथवा ख्याल है कि देखो मैं इस भींट को जानता हूँ, मैं इस पेड़ को जानता हूँ जो सामने खड़ा हुआ है, अरे जब मैं जाननहार आत्मा हूँ तो मेरे जानने का काम मेरे में होगा कि पेड़ में या भींट में होगा? लगता जरूर ऐसा है कि मैं वहाँ सीधे पेड़ को जान रहा हूँ, भींट को जान रहा हूँ पर जानने का जो भी काम है वह जानने वाले में हो रहा है, इससे बाहर नहीं हो रहा है, जानने की परिणति से हो रहा है, पर जानना एक ऐसा खासा काम है कि उसमें कुछ तो समझा जा रहा है। जो समझा जा रहा है उसे हम सीधा कह बैठते हैं। मैं पेड़ को नहीं जानता, भींट को नहीं जानता, इतने मनुष्यों को मैं नहीं जानता, पुस्तक चौकी आदिक को नहीं जानता। मैं अपने आपको ही जान रहा हूँ। और मैं अपने आपको उस रूप से जान रहा हूँ, उस ढंग से जान रहा हूँ, उस आकार से जान रहा हूँ जिससे जानने पर हमें यह समझ बैठती है कि यह पत्थर है, यह चौकी है, यह वृक्ष है। इसे एक दृष्टान्त से यों समझिये कि जैसे एक दर्पण है और पीछे जो कुछ भी चीज है भींट, लडके इत्यादि वे सब हमें दर्पण में जानने में आ रहे हैं, मैं उनको सीधा नहीं जान रहा। देखता हूँ केवल दर्पण को और बताता हूँ उस सबको। वह भींट है, वह लडका है, वह पेड़ है। जो-जो कुछ भी बात कर रहा होगा वह सब बताते हैं और जान रहे हैं केवल दर्पण को ही, ऐसा भाव है ना, केवल दर्पण को ही देखकर पीठ पीछे की सारी बातों को बताते रहते हैं। ऐसी ही बात अपने आत्मा की है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और उसमें ये सब कुछ पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, तो मैं इन प्रतिबिम्बित पदार्थों को जान रहा हूँ, पर अपने आत्मा में इन सबका वर्णन करता रहता हूँ। यह भींट है, पेड़ है आदि।

अब सोचिये कि हमारा इन पदार्थों में जानने तक का भी ऐसा सम्बंध नहीं है कि जो मैं उन पदार्थों में जाकर जानूँ। तब राग की तो बात ही क्या कहें। लोग कहते हैं कि मेरा अमुक में बड़ा राग है। अरे जो मैं करता हूँ, जो मेरा परिणमन है वह मुझमें ही रहेगा, मुझसे बाहर न रहेगा। एक यह सिद्धान्त है, हाथ का जो

परिणमन है वह हाथ में ही रहेगा, हाथ से बाहर न रहेगा। फोड़ाहो फुंसी हो तो कहीं बाहर फोड़ा फुंसी देखें। हाथ में जो कुछ बात है वह हाथ में रहेगी। जिस पदार्थ में जो कुछ बात है वह उस पदार्थ में रहेगी। आत्मा में यदि राग की बात चल रही है, रागपरिणमन उठ रहा है तो वह आत्मा में ही रहेगा। यह कहना झूठ है कि मेरा राग इन बच्चों में है, मेरा राग इस वैभव में है, मेरा राग तो मेरे आत्मप्रदेशों में ही है, उससे बाहर राग नहीं है। हम कहते हैं कि इसमें हमारा राग है, पर वस्तुतः हमारा राग परपदार्थों में जा नहीं सकता। राग मेरा अपने प्रदेशों में ही रह जाता है। तब समझ लीजिए कि मेरा जगत से क्या सम्बंध है? मैं अपने आपमें ही बैठा हुआ कल्पनाएँ करके शेखचिल्ली बना करता हूँ। मैं तो सबसे निराला केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूँ। इसे दूसरा कोई नहीं जानता। व्यर्थ का भ्रम न कीजिए कि मुझे जानने वाले इतने लोग हैं ये क्या कहेंगे? अरे मुझे जानने वाला एक भी नहीं है। आप अपने में ऐसा सोचिये कि मुझे जानने वाला इतने लोक में एक भी नहीं है। और यदि कोई जानने वाले मिल जायें तो मेरे जानने में मैं नहीं आया, चैतन्यस्वरूप आया जिसको सब जान जाते हैं। फिर किससे क्या चाहें? अपने आपका ऐसा अनुभव करें कि मैं देह से भी निराला केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूँ। इस अनुभव से आपको मुक्ति का मार्ग मिलता है और बाह्य पदार्थों को अपनाने से संसार की भटकना बनेगी। इस बात पर पहिले जोर दीजिए।

भैया ! अपने आपको समझिये वास्तविक रूप में कि मैं क्या हूँ, क्योंकि धर्मपालन इस आत्मनिर्णय के ऊपर ही निर्भर है। धर्म किसमें किया जाय? जब धर्म के आधारभूत का परिचय नहीं तो धर्म कहाँ किया जाय? हमारे बाहरी जितने भी विभ्रम हैं वे सब इस निश्चय धर्म को प्राप्त कराने के लिए हैं। देवपूजा करते हैं तो देव का सही स्वरूप समझकर हम अपने आपमें अपने स्वरूप का अनुभव करना चाहते हैं। यदि कोई देव से यों कहने लगे और यों श्रद्धा करने लगे कि हे देव ! मुझे आप सुखी करना, मेरा मुकदमा जिताना, ऐसा कोई कहे तो उसने देव का स्वरूप नहीं जाना और न देवपूजा हुई। देवपूजा तो उस गुणस्मरण में है जिस गुणस्मरण के होने पर अपने आपके स्वरूप का भी स्पर्श होता जाता है। ऐसे ही गुरुवों की उपासना है। जैसे कोई किसी रिश्तेदार की सेवा करता है ऐसा केवल रिश्ते का या कुछ अपनी कुलपरम्परा को जानकर गुरु सेवा करे तो अभी धर्म का स्पर्श कराने वाली गुरुसेवा नहीं है। यह सम्यक्त्व के धारी, विशुद्ध निर्णय वाले, इस आत्मा की ही धुन बनाने वाले, ऐसे ये गुरु हैं, इन्हें आत्मा की धुन बनी हुई है, ऐसे विश्वास सहित गुरुवों की सेवा करे तो उसमें आत्मा का भी स्पर्श होता जाता है और वही गुरु की उपासना है। स्वाध्याय में भी जो कुछ लिखा है वस्तुतः बाँचते चले जा रहे और ऐसा संतोष कर लिया जाता है कि हमने स्वाध्याय का नियम लिया, सो 10-15 मिनट बैठ लें, हम अपनी प्रतिज्ञा निभा लें तो केवल प्रतिज्ञा निभा लें और वहाँ अपने आत्मा का कुछ भी चिन्तन न बने तो समझिये कि अभी विधिपूर्वक स्वाध्याय नहीं है। जो बात ग्रन्थ में लिखी है उसे पढ़कर अपने आपमें घटायें, चाहे 4 लकीर ही पढ़ा जाय, पर क्या कहा है

इस वाक्य में उसे अपने पर घटाकर देखें तो इस विधि से अपने आपमें अपना ज्ञानप्रकाश मिलता है और तब यह स्वाध्याय स्व का अध्ययन है। इसी प्रकार संयम की बात है। बाहर में अमुक चीज उठाना, अमुक प्रकार से रहना यह नियम नहीं है, यह त्याग है, ठीक है, पर यह नियम यह त्याग ये सब कुछ बातें किस लिए की जा रही है? एक अपने आप ज्ञानमात्र अनुभवने के लिए किया जा रहा है, ऐसा निर्णय नहीं होता, और मैं साधु हूँ, त्यागी हूँ, मुझे तो ऐसा तप करना चाहिए, मुझे यों नियम से रहना ही चाहिए यह तो विकल्प उठता है। इस विकल्प में उपयोग बसाये हैंतो वहाँ धर्मपालन नहीं हो सकता। जब तक आत्मा के स्वभाव का स्पर्श न हो, बोध न हो इसे दृष्टि में न लिया जाय तब तक कितना भी तपश्चरण हो वह सम्यक्विधि नहीं है। तभी तो लिखा है कि मुनिव्रतधार अनन्तबार ये ग्रैवक उपजा। पै निज आत्मज्ञान बिना सुख लेश न पायो।। मुनिव्रत धार करके ग्रैवेयक तक अनेक बार उत्पन्न हुआ। देखिये स्वर्गों से ऊपर है ग्रैवेयक। ग्रैवेयक में बहुत अच्छा सदाचारी तपस्वी साधु ही उत्पन्न हो सकता है। तो तपश्चरण तो किया, कषाय भी मंद रखा, शत्रु को शत्रु नहीं समझा, इतना कठिन तपश्चरण भी किया, पर कौनसी बात ऐसी हो गई जिससे मोक्ष नहीं पा सकें। ग्रैवेयक में गए तो वहाँ से आयु समाप्त कर फिर नीचे उतरना ही पड़ता है, कोई साधारण मनुष्य होना ही पड़ता है। कौन-सी कमी रह गई? वह कमी रह गयी अपने आपको एक चैतन्यमात्र प्रतीति में न लेना। लिया प्रतीति में कि यह मैं साधु हूँ। जैसे कोई सोचता है कि यह मैं व्यापारी हूँ, मैं अमुक कार्य करता हूँ, इसी ढंग से इसने समझ लिया कि मैं साधु हूँ, त्यागी हूँ, मुनि हूँ, अपने आपको यों ही अनुभवं कि मैं तो केवल चैतन्यमात्र हूँ, ज्ञानानन्दमात्र हूँ, पोजीशन से, नामवरी से, देह के परिचयों से, इन सब वातावरणों से निर्मल हूँ, ऐसा अपने आपको अमूर्त चैतन्यस्वरूपमात्र प्रतीति में नहीं लिया, जिसका फल यह हुआ कि मुनिपदधार अनन्तबार ग्रैवक उपजायो, पर आत्म के ज्ञान बिना शान्ति का लेश भी नहीं प्राप्त किया।

हम धर्म के लिए बहुत-बहुत श्रम भी करते हैं, पर वह मौलिक चीज, गाँठ का वह दाम, गाँठ की चीज मेरे पास है भी अथवा नहीं? निर्णय तो करें। कोई सेठ किसी मिल में गया और वहाँ से 50-60 बोरा धान खरीद लिया और बेचकर लाभ उठाया। एक अज्ञानी सेठ उसके पीछे लग गया। सोचा कि आखिर देखें तो सही कि यह सेठ क्या करता है जिससे इतना धनी हो गया। उस पड़ोसी ने धान के बोरे खरीदकर ले जाते हुए देखा था सो उसने भी वैसा ही किया। एक मिल में धानों का छिलका पड़ा था जिसके अन्दर चावल न था, कुछ मील ऐसे भी होते जिनमें धान में से चावल निकल जाता, पर धान का छिलका साबुत बना रहता। तो उसने उसी रंग की चीज उसी भाव में 50-60 बोरे भरवा लिया और ले जाकर बेचा तो टोटा आया। इससे यह जानें कि ज्ञान बिना सारे तपश्चरण व्यर्थ हैं। ज्ञानी पुरुषों का भीतर में क्या परिणाम रहता है, उनका क्या भाव रहता है—इस बात को तो कोई जाने नहीं और एक यों ही देखो कि इन साधु संतों ने

ऐसा भेष लिया का, ऐसा व्रत पाला था, ऐसा आहार करते थे, यों ही जानकर सारे काम करे, पर लौकिक बातों का पता नहीं तो उन्हें वह फल नहीं प्राप्त हो पाता जो ज्ञानी साधुजनों को प्राप्त होता है। एक गाँव के 4-5 बजाज घोड़ा लेकर कपड़ा खरीदने के लिए गए। जब घर को लौट पड़े तो रास्ते में रात हो गई। जाड़े के दिन थे। रास्ते में ही एक पेड़ के नीचे वे ठहर गए। इधर उधर से बाड़ जरेंठा आदि बीन-बानकर लाये, रातभर आग जलाकर खूब तापा। सबेरा होते ही अपने घर चले गए। इस बात को पेड़ पर बैठे हुए बन्दर देख रहे थे? दूसरे दिन उन सब बन्दरों ने परस्पर में सलाह की। सलाह यह हुई कि कल रात्रि को 4-5 मनुष्यों ने आग जलाकर खूब तापकर अपनी ठंड मिटाया था। अपन भी तो वैसे ही हैं, अपन भी वैसे ही काम करें और अपनी ठंड मिटायें। सो चारों तरफ सभी बन्दर दौड़पड़े। इधर-उधर से बाड़-जरेंठा वगैरह लेकर पेड़ के नीचे इकट्ठा किया। बैठ गए सभी अपनी ठंड मिटाने पर ठंड न मिटी। उनमें से एक बंदर बोला कि अभी तो इसमें लाल-लाल चीज डाली ही नहीं। ठंड कैसे मिटे? तो वहाँ लाल-लाल खूब पटबीजना उड रहे थे सो उन्हें पकड़पकड़करबाड़ में झोंकने लगे। इतने पर भी ठंड न मिटी तो एक बंदर बोला कि इस तरह से हाथ फैलाकर बैठो तो ठंड मिटेगी। वे हाथ फैलाकर बैठ गए पर ठंड न मिटी। फिर एक बंदर बोला कि वे मनुष्य इसे यूँमुख से फूँक रहे थे, अपन भी मुख से फुँके तो ठंड मिटेगी। मुख से फूँका फिर भी ठंड न मिटी। तो सारे उद्यम कर डाले पर ठंड न मिटा सके। अरे ठंड कैसे मिटे? ठंड मिटाने का कारण जो अग्नि है उसका तो परिज्ञान नहीं है। तो यों ही सही परिज्ञान हुए बिना कोई धर्म क्रियाएँ भी करें तो भी वे क्रियाएँ विडम्बनारूप बन जाती हैं। सर्वप्रयत्न करके एक अपने आत्मतत्त्व का परिज्ञान करें कि मैं क्या हूँ, यही एक अपना आवश्यक काम है। इससे अधिक आवश्यक और कोई भी काम नहीं है। तो ज्ञानी पुरुष चिन्तन करता है कि जब मैं देह ही नहीं तो पुरुष नपुंसक स्त्री की बात ही क्या? सुभग, कुरूप, सुख दुःख की बात ही क्या? मैं तो केवल एक ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूँ। इस ज्ञानानन्द स्वरूप का ही मैं कर्ता एवं भोक्ता हूँ। अपने आपसे बाहर किसी भी तत्त्व का मैं कर्ता एवं भोक्ता नहीं हूँ। अपना विशुद्ध चैतन्यस्वरूप विश्वास में आये तो धर्मपालन होगा। अपने आपकी पकड़ के बिना, अनुभव के बिना धर्मपालन होता नहीं, इस कारण कष्ट तो इतना करते हैं, सब कुछ समय भी लगाते हैं पर एक मूल बात और उत्पन्न हुई कि मैं अपने आपके सही स्वरूप का अनुभव कर लूँ कि मैं यह हूँ तो समझ लीजिए कि हमारा सारा प्रयास सफल हुआ।

श्लोक-1525

यदबोधे मया सुप्तं योद्बोधे पुनरुत्थितम्।

तद्रूपं मम प्रत्यक्षं स्वसंवेद्यमहं किल॥1525॥

जिसका ज्ञान नहीं हुआ तो मैं सोया हुआ हूँ और जिसका ज्ञान होने पर मैं जग गया हूँ उस स्वरूपमय सुसम्बद्ध मैं आत्मतत्त्व हूँ। मैं चैतन्यमात्र हूँ इसकी सुध न हो तब मैं सोया हुआ हूँ। मैं अपने को नहीं पहिचान रहा हूँ यही सोना कहलाता है। शान्ति के लिए मुझे क्या करना चाहिए, वह सब प्रकाश मेरे में नहीं रहता। वह प्राणी जागा हुआ है जिसे अपने चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व की सुध है। मैं आत्मा अपने आपके ज्ञानद्वारा प्रत्यक्ष हूँ। अपने आपके स्वरूप का दर्शन अपने आपको कठिन नहीं है। केवल आवश्यकता इस बात की है कि यथार्थ पदार्थ के स्वरूप की समझ हो और समझ के होने पर समस्त परद्रव्यों से उपेक्षाभाव आये, अपने आपके आत्मा का दर्शन बहुत सुगम है, उसे कठिन न समझिये। जिस पुरुष को आत्मदर्शन हो गया उसने एक तिरने का तीर्थ पा लिया। आत्मा तिर सकता है तो अपने आपके इस विशुद्ध चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन से तिर सकता है। इसको तिराने न कोई बाह्य में क्षेत्र है न कोई आत्मा है, न बाह्य में कोई अन्य पदार्थ है। हम बाहर में जो अवलम्बन लेने की सोचते हैं तो बाहर में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो जिसका आलम्बन लेकर हम जब चाहे अपने आपका दर्शन कर सकें। यह आत्मा अष्टकर्माँ के बन्धन में इतना विकट जकड़ा है कि इसको किसी भव में चैन नहीं मिलती है। और विषयकषाय ऐसी तीव्रता से जगते हैं कि यह अपने वश नहीं रहता। ऐसा हाल इस जीव का हो क्यों रहा है? तत्त्व तो यों है कि जब कोई पदार्थ किसी का कुछ है ही नहीं, वास्तव में सम्बंध है ही नहीं फिर क्यों किसी पदार्थ में इतनी अनुरक्ति जग रही है? जो अपने को मिला, जो अपना बंधु माना हो, जिससे अभिप्राय मिला वह तो अपना और बाकी दुनिया के अपने नहीं है ऐसा जो द्वैतभाव हो गया है, चित्त में ऐसी दुविधा की बात जो बस गई है यह दुविधा की बात इस जीव को दुःख देने वाली है। जैसे स्वप्न में जो कुछ दिखता है वह बड़ा परिचित मालूम होता है लेकिन परिचय वहाँ कुछ नहीं है, केवल कल्पना ही कल्पना है। जग जाने पर सब स्पष्ट मालूम हो जाता है कि वह सब झूठ था। ऐसे ही अज्ञान दशा में इस जीव को ऐसा लगता है कि मेरा बड़ा परिचय है, मैं लोक में कुछ हूँ, लोग मुझे जानते हैं, मैं लोगों को जानता हूँ लेकिन ये सब बातें स्वप्नवत् हैं, असार हैं, असत्य हैं। ज्ञान होने पर सत्यज्ञान होता है कि वह सब अज्ञानदशा थी। वास्तविकता तो यह है कि मेरा जो चैतन्यस्वरूप है, मेरा जो शुद्ध आत्मतत्त्व है, यह मैं आत्मा अपने आपके द्वारा सम्बेदन के योग्य हूँ और यह स्वयं ज्ञानानन्दमय है। किसी समय ऐसी हिम्मत बन तो पाये कि सब परद्रव्यों की उपेक्षा करके, चित्त को अत्यन्त शान्त करके

अपने आपमें विराजमान इस चैतन्यस्वरूप के दर्शन करके जरा अपने आपका अनुभव कर तो लें सब झंझट मिट जाते हैं। देखिये यह निर्णय अकाट्य होना चाहिए कि मेरा भला मेरे शुद्ध आत्मस्वरूप के दर्शन में होगा। अब न बन सका, न सही। बनेगा, कभी बनेगा, पर निर्णय तो यही रहना चाहिए कि मेरा भला मेरे विशुद्ध स्वरूप के दर्शन से, अनुभव से होगा, इन समागमों से न होगा। तो जिस चैतन्यस्वरूप के न जानने पर मैं विकारी हूँ, बेहोश हूँ, सोया हुआ हूँ, न कुछ हूँ और जिस चैतन्यस्वरूप के दर्शन होने पर मैं सफल हूँ, सही हूँ, स्वस्त हूँ, झंझटों से मुक्त और आनन्दस्वरूपी हूँ। वह मैं चैतन्यस्वरूपी हूँ और वह मेरे द्वारा ही सम्वेदन के योग्य है। भला अपनी जेब में कोई चीज रखी हो तो उसे बड़ी सुभव्यता से जेब से झट निकाल कर उसके दर्शन कर लेते हैं, देख लेते हैं, यह है चीज। और जो खुद ही है उसको अगर हम ज्ञाननेत्र से अन्तः देखें तो उससे भी स्पष्ट मेरा आत्मा दिख जाय, अनुभव में आ जाय इसमें कौनसे संदेह की बात है, इस प्रकार विचार करें में सबसे निराला, विशुद्ध चैतन्यज्योतिमात्र हूँ।

श्लोक-1526

ज्योतिर्मयं ममात्मानं पश्यतोऽत्रैव यान्त्यमी।

क्षयं रागादयस्तेन नारिः कोऽपि प्रियो न मे॥1526॥

फिर यह विचार करें कि मैं अपने को ज्योतिर्मय ज्ञानप्रकाशमात्र, विशुद्ध ज्ञानमात्र देख रहा हूँ ऐसा चिन्तन करें और ऐसा यत्न करें कि बाहर में न तो नेत्रदृष्टि लगायें और न ज्ञानदृष्टि लगायें, अपने आपके अन्दर में जो कुछ सहजभाव है उसका आलम्बन लेकर विचार करें, मैं तो विशुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ। मैं इस आत्मा में, इस सहजस्वरूप में जो कि निरखा गया ज्ञान से उसमें रागादिक रूप स्वभावतः नहीं हैं, ये रागादिक क्षय को प्राप्त हों। जैसे समुद्र में लहर उठी हो तो ज्ञान में आ रहा है कि यह लहर उठ रही है और जब हवा का निमित्त न रहे और समुद्र शान्त हो जाय, तरंगरहित हो जाय तो आपसे यह पूछें कि लहर कहाँ गयी? कोई तो उत्तर देगा कि लहर नष्ट हो गयी, और कोई उत्तर देगा कि लहर समुद्र में मग्न हो गयी। यदि लहर नष्ट हो गई तो कहाँ नष्ट हो गई? कहाँ बाहर चली गई? और लहर समुद्र में मग्न हो गयी तो समुद्र में घुसकर देखो कहाँ पड़ी है? वह लहर न समुद्र में दिखेगी और न वह लहर समुद्र से कहीं बाहर गई किन्तु उस समय तरंगसहित अवस्थारूप पर्याय अब समुद्र की निष्तरंग पर्याय में बदल गयी। न तो बाहर जाकर नष्ट हुई और न भीतर जाकर वह लहर कहीं छिप गई। पर्याय एक होती है एक समय में। तब थी तरंग सहित पर्याय और अब रह गयी निष्तरंग पर्याय। इसी प्रकार राग है आत्मा की तरंग। जब राग भाव उठ रहा है तो

आत्मा की तरंग सहित परिणति हो रही है और जब रागभाव नहीं रहा तो राग होते ही क्षय को प्राप्त हो गयी अर्थात् अब सराग परिणति रागरहित परिणति में परिवर्तित हो गयी।

श्लोक-1527

अदृष्टमत्स्वरूपोऽयं जनो नारिर्न मे प्रियः।

साक्षात्सुदृष्टरूपोऽपि जनो नारिः सुहृन्न मे॥1527॥

ज्ञानी पुरुष चिन्तन कर रहा है कि जगत में न तो कोई मेरा शत्रु है और न कोई मित्र है, क्योंकि दूसरे ये लोग जिनमें शत्रु और मित्र की कल्पनाएँ की जा रही हैं उन लोगों ने मेरे स्वरूप को देखा है या नहीं। मेरा जो सहज चैतन्यस्वरूप है वह स्वरूप उन्हें ज्ञात हुआ है या नहीं। यदि वह स्वरूप उन्हें ज्ञात हुआ है तो वह मेरा मित्र और मेरा दुश्मन नहीं रह सकता, क्योंकि मेरा स्वरूप ज्ञात होते ही वह विशुद्ध ज्ञाता दृष्टा रहेगा, मेरा शत्रु और मित्र न रह सकेगा। और यदि उन्होंने मेरा स्वरूप नहीं जाना है तो जिसे जानाही नहीं है वह मेरा शत्रु कैसे, मेरा मित्र कैसे? इस जगत में कोई भी जीव न मेरा मित्र है और न मेरा शत्रु है।

श्लोक-1528

अतः प्रभृति निःशेषं पूर्वं पूर्वं विचेष्टितम्।

ममाद्यज्ञाततत्त्वस्य भाति स्वप्नेन्द्रजालवत्॥1528॥

यहाँ से लेकर अथवा अब से लेकर तत्त्वस्वरूप के जानने से पहिले मैंने जो-जो चेष्टाएँ की, अब स्वरूप जानने के बाद उसे अब वे सब चेष्टाएँ इन्द्रजाल की तरह असार प्रतिभास होती हैं। इतना तो अपने जीवन में भी सब देख सकते हैं कि बचपन में जो-जो कार्य किया, जैसे-जैसे रहे वे सब असार लग रही हैं। जवानी में जो-जो चेष्टाएँ की वे सब चेष्टाएँ अब असार जँच रही हैं, इतना तो अब भी अपने आपको विदित होता है, फिर ज्ञान जग जाने पर यदि वह अज्ञान की दशा जिस किसी से भी मोह बढ़ाते, जिस किसी से भी स्नेह लगाते, जिस किसी को भी हृदय में बसाते ये सब असार मालूम होती हैं कि वे सब चेष्टाएँ हमारी

अज्ञानदशा में थी। जैसे किसी ने अपनी भूलभरी बातें पहिले की, भूल गलती होने पर ऐसी जँचती हैं कि परपदार्थों में यह मैं हूँ, यह मेरा है, ऐसा भ्रम होने पर जो चेष्टाएँ इसे कुछ सार सी जँच रही हैं, अब भ्रम के मिट जाने पर ये सब चेष्टाएँ असारवत् प्रतीत हो रही हैं। कोई गलती हो जाय तो सही दिमाग बनने पर जैसी गलती एक मैं किसी अज्ञान से कर गया, मैं किसी बेहोशी में कर गया ऐसा प्रतीत होता है, ऐसे ही भ्रम में जो-जो मैंने चेष्टाएँ की, वे सब चेष्टाएँ असार जँच रही हैं। वे किस अज्ञान में हो गई? वह सब अविद्या का प्रताप है, इसे यह सब असार जँचता है।

श्लोक-1529

यो विशुद्ध : प्रसिद्धात्मा परं ज्योतिः सनातनः।

सोऽहं तस्मात्प्रपश्यामि स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम्॥1529॥

निर्मल है और प्रसिद्ध है आत्मस्वरूप जिसका, ऐसा परमज्योति सनातन जो सुनने में आता है ऐसा मैं आत्मा हूँ, इस कारण मैं अपने में ही अविनाशी परमात्मतत्त्व को देखता हूँ। क्या हूँ, जरा सम्मुख होने का और विमुख होने का इतना बड़ा भारी अन्तर होता है कि एक ओर तो रहती है शान्ति और एक ओर रहती है अशान्ति। यह जीव अब तक बाह्य पदार्थों की ओर ही रहा। पञ्चेन्द्रिय के विषयभूत स्पर्श रस गंध रूप शब्द इनकी ओर ही उपयोग रहा और इसी कारण इसके बड़ी वेग की तृष्णा उत्पन्न हुई और उस तृष्णा के वेग में यह अपने आपको सम्हाल न सका और बैचेन रहा। इस जीव ने अब तक भी अपने आपमें बसे हुए एकत्व विभक्त समयसार विशुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्दमात्र अपने आपको नहीं देखा, इसी के कारण यह अब तक बैचेन रहा। लेकिन यह समय बड़े चेतने का है। मनुष्य जन्म पाया, श्रावककुल पाया, इतना धार्मिक वातावरण पाया, बड़े-बड़े तत्त्व की बात जो ग्रन्थों में भरी हुई हैं उनके सुनने, जानने और निर्णय करने की शक्ति पायी, इससे बढ़कर और समागम क्या हो सकता है? इस भव का जैन शासन कितना उत्कृष्ट है लेकिन इस उत्कृष्ट साधन को भी इन्हीं विषयों में खो दिया जाता। इससे बड़ी गलती और क्या हो सकती है? मैं विशुद्धपरम ज्योतिर्मय आत्मतत्त्व हूँ यों यत्न करें और अपने आपमें इस परमात्मस्वरूप को देखें।

श्लोक-1530

बाह्यात्मानमपि त्यक्त्वा प्रसन्नेनान्तरात्मना।

विधूतकल्पनाजालं परमात्मानमामनेत्॥1530॥

फिर बाह्य आत्मा को भी छोड़कर प्रश्नरूप अन्तरात्मा के द्वारा मिटे हैं कल्पनाजाल जिसके, ऐसे परमात्मा को अपने आपमें देखें। आत्मा में अन्तरात्मा और बाह्य आत्मा— इन दो स्वरूपों का जिक्र किया है। बाह्य आत्मा तो है कल्पनाजाल। जो आत्मा का सहजस्वरूप है, शरीरादिक का सम्बंध है, रागादिक भाव का सम्पर्क है वह तो है बाह्यआत्मा और अन्तः जो चैतन्यस्वरूप है वह है अन्तः आत्मा। तो बाह्य आत्मा को तो छोड़ें, बहिरात्मा का त्याग करें। बाह्य में यह मैं आत्मा हूँ— इस प्रकार की कल्पनाओं का त्याग करें और अन्दर में अपने आपके चैतन्यमात्र आत्मस्वरूप को देखें। यह एक शिक्षा दी है। जैसे किसी घोरखंधे में कोई छल्ला वगैरह छुटाना है तो छुटाने का सुगम काम है, वह फँस गया है उसे छुटाना है ऐसे ही अपने आपको इस बाह्य स्वरूप से छूटने का है तो सुगम काम लेकिन बंधन में, विडम्बनाओं में यह फँस गया है। जो आत्मा का बाह्यस्वरूप है उस बाह्यस्वरूप में यह फँस गया है, इस कारण अपने अन्तः आत्मा को प्रसन्न नहीं कर सका। और जब अपने अन्तः आत्मा को प्रसन्न न कर सका तो परमात्मा का अभ्यास क्या कर सकता? यह उपयोग जैसे यह बाहर-बाहर डोल रहा है, बाहर का डोलना छूटे और अपने आपमें उपयोग समाया देख करके ऐसी स्थिति बने तो परमात्मा का दर्शन नियम से होगा। परमात्मदर्शन में बाधक है अहंकारभाव। शरीर आदिक को मानना कि यह मैं हूँ ऐसी मान्यता से ही इस परमात्मा का दर्शन रुका हुआ है। लोग अहंकार को घमंड भी कहते और नाक भी कहते। यह अपनी बड़ी नाक बना रहा है। तो अहंकार की ओट में परमात्मा का दर्शन नहीं होता। एक गाँव में एक पुरुष नकटा था तो लोग उसे बहुत चिढ़ायें, नकटा-नकटा कहा करें। वह बहुत घबड़ाया, बड़ा दुःखी हुआ। आखिर उसे एक उपाय मिला। जब किसी ने कहा ऐ नकटा ! तो वह बोला कि तुम्हें क्या पता कि नकटा होने में क्या लाभ है? जब तक मेरे नाक थी तब तक परमात्मा का भगवान का हमें दर्शन न हो पाताथा। जब से मेरी नाक कट गयी तब से मुझे साक्षात् भगवान के दर्शन हो रहे हैं। तो उसे बड़ी अच्छी बात लगी। कहा भाई हमारी भी नाक काट दो ताकि हम भी भगवान के साक्षात् दर्शन किया करें। तो उसकी नाक काट ली। अब वह ऊपर देखता है कि हमें कहीं भगवान नहीं दिखते। तो वह नकटा बोला कि अरे भाई, तुम्हारी तो नाक कट गई। अब तो तुम दुनिया को यही बतलावो कि हमें साक्षात् भगवान के दर्शन हो रहे हैं। जब तक नाक थी तब तक दर्शन न था। तुम भी दूसरे की नाक काटो। उसने भी नाक काटना शुरू किया। सबको सीखा दिया कि तुम दूसरे को भी बतावो कि हमें साक्षात्

भगवान के दर्शन होते हैं। यों सारे गाँव की नाक कट गई। राजसभा में सभी लोग बैठे। राजा सोचता है कि सभी लोग तो कितना सुन्दर जँच रहे हैं, मेरे यह क्या ऊँची सी लग रही है? सबने कहा महाराज ! जब से हमारी नाक कटी तब से हमें भगवान के साक्षात् दर्शन हो रहे हैं। यदि आप भी भगवान के साक्षात् दर्शन करना चाहें तो आप भी अपनी नाक कटा दें। तो राजा बोला— अच्छा हमारी भी नाक काट दो। तो और लोगों ने कुछ नहीं कहा, पर पुराना नकटा एकान्त में बुलाकर कहता हे महाराज आप नाक न कटावों, लोग मुझे नकटा कह कहकर चिढ़ाते थे सो हमने यह जाल रचा जिससे सभी लोग नकटा हुए। कहीं नाक कटाने से भगवान के दर्शन नहीं होते। तो परपदार्थों में अहं बुद्धि न जगे, आत्मा का जो विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है उसमें ही 'यह मैं आत्मा हूँ' ऐसी आत्मबुद्धि जगे तो नियम से उस परमात्मतत्त्व के दर्शन होंगे। और अपने आपमें विराजमान सनातन विशुद्ध परमात्मतत्त्व के दर्शन हुए तो समझ लो कि हमारी संसार की सारी फाँसी कट गयी। सब झंझटों से हम छूट गए। अपने आपमें बसे हुए परमात्मतत्त्व के दर्शन से ही हमें सहारा है, वही वास्तव में शरण है, उसमें ही हमारा कल्याण है, अन्य-अन्य पदार्थों की दृष्टि में हमारा कल्याण नहीं है।

श्लोक-1531

बन्धमोक्षावुभावेतौ भ्रमेतरनिबन्धनौ।

बन्धश्च परसम्बन्धाद् भेदाभ्यासात्ततः शिवम्॥1531॥

बंध और मोक्ष दो तत्त्व हैं। स्वद्रव्य मायने आत्मा और परद्रव्य मायने देहादिक पौद्गलिक— इन दोनों का मानना यही तो हे बन्ध और स्व और पर में भ्रम न रहे, भिन्न-भिन्न ज्ञान में आये कि आत्मा तो यह है, शेष सब कुछ पर हैं यों भ्रम समाप्त होने से मोक्ष होता है। सीधा सारांश यह है कि जब तक पर के साथ सम्बंध बना रहेगा तब तक तो बन्ध है, कर्मबन्धन है और जब भेद में अभ्यास कर लेगा—यह भिन्न है, यह में आत्मतत्त्व जुदा हूँ— इस प्रकार भेद का अभ्यास करेंगे तो उससे मोक्ष होता है।

श्लोक-1532

अलौकिकमहो वृत्तं ज्ञानिनः केन वर्ण्यते।

अज्ञानी बध्यते यत्र ज्ञानी तत्रैव मुच्यते॥1532॥

कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष का बहुत अलौकिक चरित्र है। जिसका कौन वर्णन कर सकता है? जिस आचरण में अज्ञानी कर्मों से बंध जाता है उसी आचरण में ज्ञानी बंध से छूट जाता है। यह बड़े आश्चर्य की बात है। जैसे भोग और उपभोग में अज्ञानी को ममता है तो भोग और उपभोग करता हुआ यह अज्ञानी जीव बंध जाता है और ज्ञानी को भोग और उपभोग से अरुचि है, वैराग्य है, चाहता नहीं है सो कदाचित् भोगोपभोग आ जायें तो उसमें पूर्वकृत कर्म खिरते हैं, नवीन कर्म नहीं बंधते हैं। चेष्टा एक सी है पर ज्ञानी पुरुष कर्मों से नहीं बंधता है और अज्ञानी पुरुष कर्मों से बंध जाता है। ज्ञानी ने अपने आपका अनुभव किया है जिस अनुभव के प्रसाद से ज्ञानी जीव जागरूक रहता है, अपने में सावधान रहता है और कर्मों से नहीं बंधता। यह सब सम्यक्त्व का प्रताप है। सम्यग्दर्शन के होने पर सारा प्रोग्राम अलौकिक हो जाता है।

श्लोक-1533

यज्जन्मगहने खिन्नं प्राङ्गया दुःखसंकुले।
तदात्मेतरयोर्नुनमभेदेनावधारणात्॥1533॥

ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता है कि मैं दुःख से भरे हुए इस संसाररूपी भयंकर वन में जो खेदखिन्न हो सो आत्मा अनात्मा का खेद न होने के कारण दुःखी होता हूँ। अब तक भी जितने क्लेश भोगे जा रहे हैं तो स्व और पर का भेदविज्ञान न होने से मांगे जा रहे हैं। दुःख और कोई चीज नहीं है। बस वस्तुस्वरूप के विपरीत चलते हैं और उन कल्पनाओं में यह जीव चाहता है कि मैं परद्रव्य का अमुक प्रकार से कुछ परिणमन दूँ, पर वह परद्रव्य उसकी इच्छानुकूल परिणमन नहीं करता है। वह तो उसमें जैसा स्वभाव हुआ वैसा परिणमन करता है। इच्छानुकूल परिणमन न होने से यह जीव क्लेश मानता है। हाय ! ऐसा क्यों न हुआ, इतना ही मात्र दुःख का मर्म है।

श्लोक-1534

मयि सत्यपि विज्ञानप्रदीपे विश्वदर्शिनि।
किं निमज्जत्ययं लोको वराको जन्मकर्ममे॥1534॥

मुझमें सूक्ष्मरूप से दिखने वाले ज्ञानस्वरूप दीपक के होते हुए एक यह दीनवत संसाररूपी कीचड़ में क्यों डूब रहा है? ज्ञानी का यह चिन्तन है कि मेरा ऐसा स्वरूप है कि मैं सारे लोकालोक को स्पष्ट जान लूँ। यों कहो कि जो भगवान का स्पष्ट है वही मेरा स्वरूप है। ऐसा महान स्वरूप वाला होकर भी मैं क्यों संसार के परद्रव्यों की ओरखिंचा जा रहा हूँ? यह बड़ी विपदा की बात है। अरे अपने आत्मा की ओर क्यों नहीं देखते? अपने आत्मा की ओर देख लिया तो फिर संसार कीचड़ में न रुलेगा। सबसे निराला केवल ज्ञानप्रकाशमात्र, जिसके रंच भी रागादिक दोष नहीं हैं ऐसा जो अपने आत्मा का शुद्ध ज्ञानप्रकाश है उस ज्ञानप्रकाश को क्यों नहीं देखते हो? उस ज्ञानमात्र आत्मा में क्यों लीन नहीं होता, ऐसा ज्ञानी पुरुष एक चिन्तन कर रहा है।

श्लोक-1535

आत्मन्येवात्मनात्मायं स्वयमेवानुभूयते।

अतोऽन्यत्रैव मां ज्ञातुं प्रयासः कार्यनिष्फलः॥1535॥

यह आत्मा आत्मा के द्वारा आत्मा में स्वयं ही अनुभव किया जाता है। इसके बाहर जो आत्मा के जानने का खेद नहीं है वह सफल बात नहीं है। आत्मा कुछ न कुछ अनुभव करता रहता है। इसका परिणमन अनुभव के साथ है क्योंकि चेतना है ना तो यह निरन्तर कुछ न कुछ अनुभवता है, तो उस अनुभव में कोई बाहरी पदार्थ नहीं अनुभवा जाता है। बात तो यह इतनी है, पर कल्पना में जो यह मान रखा है कि मैं यह बाहर में सब कुछ देख रहा हूँ, सब कुछ जान रहा हूँ, यों बाहर आत्मा के जानने का जो खेद है वह बिल्कुल निष्फल कार्य है, क्योंकि उससे कोई सिद्धि नहीं है। भ्रमरूप अपनी कल्पना बनाएँ तो उससे आत्मा को न मोक्षमार्ग मिलता और न वर्तमान में ही कोई शान्ति मिलती है।

श्लोक-1536

स एवाहं स एवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम्।

वासनां दृढयन्नेव प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम्॥1536॥

तो जैसा अपने आत्मा के बारे में अभी तक कहा जा चुका है— मैं सबसे निराला हूँ, केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ, ज्ञानानन्दमात्र हूँ, चेतना स्वरूप जिसका प्रकाश है ऐसा मैं अलौकिक प्रकाशमय पदार्थ हूँ जैसा जो कुछ अभी वर्णन किया है उसमें जो निरखा है वही मैं हूँ, वही मैं हूँ, इस प्रकार का अभ्यास करें। मैं क्या हूँ? इसके निर्णय पर सारा भविष्य निर्भर है। सो जब जैसा है यह में उस ही प्रकार अनुभवा तो यह पुरुष उस भावना को दृढ़ करता हुआ अपने आत्मा में अपने को अवस्थित करता है अर्थात् ठहरा लेता है। आत्मा आत्मा में ठहर जाय यही तो मोक्ष का मार्ग है, यही शान्ति की बात है। ये व्यर्थ में अज्ञानी जन बाह्यपदार्थों में कल्पना से ठहरे रहते हैं। ठहरता कोई नहीं बाहरी पदार्थ में। जैसे घर-बार को कोई अपना माने तो क्या वह अपना हो जाता है? वह अपना मान भर रहा है। और न माने तो अपना नहीं, 'माने तो अपना नहीं' अब मानने में चूँकि मिथ्या बात मानेगा इसलिए क्लेश होगा और न माने तो क्लेश न होगा। चीज जहाँ की तहाँ पड़ी है। चीज न अपने को मिले और न अपने से कई हाथ दूर हो जाय। चीज है, वह मेरे से अत्यन्त भिन्न है। मैं अपने स्वरूप में हूँ, बाह्य पदार्थ अपने स्वरूप से हैं और बराबर पड़े हैं। और जो अपनाता है कि यह मेरा है उसको क्लेश होता है, जो अपनाता नहीं है उसको क्लेश नहीं होता है।

श्लोक-1537

स्याद्यद्यत्प्रीतयेऽज्ञस्य तत्तदेवापदास्पदम्।

बिभेत्ययं पुनर्यस्मिंस्तदेवानन्दमन्दिरम्॥1537॥

देखो अज्ञानी पुरुष जिन-जिन विषयों से प्रीति करते हैं, जिन-जिन विषयों में प्रेम करते हैं वे सब बातें इसके अनर्थ के कारण हैं, वे सब आपत्ति के साधन हैं, लेकिन ये अज्ञानी जीव जिस बात में भय करते हैं, ज्ञान में, तपश्चरण में, वैराग्य में भय करते हैं वही वास्तव में आनन्द का निवास है। जो अज्ञानी पुरुष हैं वे अच्छे को बुरे रूप में देखते हैं और बुरे को अच्छे के रूप में देखते हैं। अब स्वयं ही अनुभव कर लें कि इन समागमों में, विषयों में चेतन कुटुम्ब परिवार आदिक में अचेतन वैभव आदिक में प्रीति करते थे पर कहीं तृप्ति हुई है अथवा कहीं भय मिटा है? इन बाह्यपदार्थों में प्रीति करने से न अब तक भय मिट सका और न तृप्ति हुई। खूब देख लो ज्यों के त्यों रीते हैं। क्या करना चाहिए, ये सब बातें सामने अब तक भी पड़ी हुई हैं। क्योंकि तृप्ति का साधन तो बाह्यपदार्थ है ही नहीं। बाह्यपदार्थों से सन्तोष हो ही नहीं सकता। संतोष का साधन तो आत्मतत्त्व है, स्वयं है। स्वयं की रुचि हो, प्रीति हो तो आत्मा को तृप्ति मिलेगी, पर अज्ञानी जीव की उस

ओर कहाँ दृष्टि जाती है? वह तो भ्रम से विपरीत तत्त्व मानता है। अज्ञानी को अज्ञान के कारण सब उल्टा ही भासता है।

श्लोक-1538

सुसंवृतेन्द्रियग्रामे प्रसन्ने चान्तरात्मनि।

क्षणं स्फुरति यत्तत्त्वं तद्रूपं परमेष्ठिनः॥1538॥

भली प्रकार इन्द्रिय समूहों को जिसने वश में कर रखा है ऐसा जो कोई प्रसन्न अन्तरात्मा पुरुष है उसमें ही जो एक क्षण स्थिर होकर जो तत्त्व स्फुरायमान होता है वह तो परमेष्ठी का स्वरूप है। क्या भला है, कौन तत्त्व शरण है, कौन चीज मंगल है, हमारे दुःखों को छुटाने में कौनसा प्रकाश समर्थ है, वह कैसे अनुभवा जाता है? उसकी विधि इस श्लोक में कही है। पहिले तो इन्द्रिय समूहों का सम्बरण किया जाय। ये इन्द्रियाँ जो कुछ चाहती हैं उनकी इस चाह को रोकिये। इन्द्रियों को वश में करिये अर्थात् चाह को रोकिये। किसी भी प्रकार के विषयों की चाह है यों तो इन्द्रियों को सम्हाला गया तब हुआ यह आत्मपरिणमन और पर के मल से रहित होकर निर्मल हुआ ऐसी अन्तरात्मा में, ऐसी निर्मलता रहते हुए, ऐसी निर्दोषता रहने पर क्षणभर में जो कुछ एक अनुभव होता है बस वही आत्मा का सहजस्वरूप है, सत्य स्वरूप है। उस स्वरूप का अनुभव जिसे हुआ वह तो संसार से तिर गया और जिसे अपने स्वरूप का अनुभव नहीं जगा वह बाह्यपदार्थों में ही रमता रहा बच्चों की तरह। जैसे बालक खेल-खेल में रमते रहते हैं इसी प्रकार ये जीव रूप, रस, गंध, स्पर्श में रमते रहते हैं। तत्त्व कहीं प्राप्त नहीं होता। तृप्ति का आधारभूत अथवा आनन्द का परमधाम तो यह सहज चैतन्यपदार्थ है केवल ज्ञानप्रकाश। पक्ष न होवे, रागद्वेष न उपजे, मात्र चैतन्यचमत्कार हो, वही वास्तविक शरण है और वही परमोत्कृष्ट पद है।

श्लोक-1539

यः सिद्धात्मा परः सोऽहं योऽहं स परमेश्वरः।

मदन्यो न मयोपास्यो मदन्येन न चाप्यहम्॥1539॥

ज्ञानी पुरुष विचार कर रहा है कि जो सिद्ध परमात्मा है, जो उत्कृष्ट परमात्मा है, परमेश्वर है वही तो मेरा रूप है, वही मैं हूँ। मेरा मेरे सिवाय अन्य कोई उपासना के योग्य नहीं है। देखिये— अरहंत भगवान ने ऐसा यथार्थ निर्णय किया तो किसमें किया? इस ज्ञानमय स्वयं में किया। अरहंत निर्दोष हैं, सर्वज्ञ हैं, परमपूज्य हैं, ये सब बातें निर्णय में जो आ रही हैं वही तो ज्ञान अरहंत है। हम जब गुणों को, प्रभु की उस विशुद्धता को अपने उपयोग में लेते हैं तो आनन्दविभोर हो जाते हैं क्योंकि मेरा स्वरूप, सिद्ध प्रभु का स्वरूप एक समान है। तो जब इस विशुद्ध स्वरूप का विशुद्ध स्मरण होता है तो परमात्मा का उसमें स्मरण होता है और जब परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ स्मरण होता है तो वही आत्मा का स्मरण है। कहाँ है भेद मुझमें और प्रभु में? पर बीच में इतना कठिन पर्दा डाल रखा है कि भेद पड़ गया है, लेकिन मुझमें और परमात्मा में भेद नहीं है। अर्थात् जब स्वरूप दृष्टि करते हैं तो जैसा चैतन्य स्वरूप मैं हूँ वैसा ही चैतन्यस्वरूप परमात्मतत्त्व है। मुझमें और परमात्मस्वरूप में अन्तर नहीं है। इसी प्रकार जो निरखता है वह ज्ञानी पुरुष है। और जो अपने को अन्य-अन्य रूप देखता है वह अज्ञानी है। ज्ञानी को तो संसार से छुटकारा है और अज्ञानी को संसार के क्लेश हैं। है कुछ नहीं बाहर की चीज अपनी, बस ज्ञान और अज्ञान का सारा अन्तर है। चीज तो जहाँ है सो है। जब मनुष्य मर जाता तो कौनसी चीज साथ ले जाता है? जो है जहाँ है सो है। अज्ञानी जीव परवस्तुओं को अपनी मानता है और उनके बिछोह के समय क्लेश मानता है और ज्ञानी पुरुष अपनी शुद्धि प्रतीति के बल से अपने आपमें प्रसन्न रहा करता है।

श्लोक-1540

आकृष्य गोचरव्याघ्रमुखादात्मानमात्मना।

स्वस्मिन्नेव स्थिरीभूतश्चिदानन्दमये स्वयम्॥1540॥

ज्ञानी पुरुष ऐसी भावना करता है कि मैं अपने आत्मा को इन्द्रिय के विषयरूपी व्याघ्र में मुख को काढ़कर आत्मा के द्वारा ही मैं चिदानन्दमय अपने आत्मा में स्थिर रूप होता हूँ ऐसा देखकर चैतन्य और आनन्द में लीन होना चाहिए। अपना आत्मा इन्द्रिय के विषय के व्याघ्र के मुख में फँसा हुआ बरबाद हो रहा है। जब इन्द्रिय के कहने में अपन लग जाते हैं, इन्द्रियाँ जो चाहती हैं उस प्रकार अपन उसकी चाह की पूर्ति में

लग जाते हैं तब तो यों समझिये कि मैं ऐसा असहाय हूँ। जैसे व्याघ्र के मुख में पड़ा हुआ कोई मनुष्य असहाय है तो यों मैं आत्मा अनादि से अब तक एकेन्द्रिय के विषयरूपी व्याघ्र के मुख में फँसा हुआ था। अब वहाँ से अपने को निकालकर मैं चिदानन्दस्वरूप अपने आत्मा में स्थिर हुआ हूँ। केवल एक शुद्ध दृष्टि रखें, बाहरी दृष्टि मोड़े तो वहाँ केवल क्लेश ही होगा और अपने आपकी ओरदृष्टि दें तो वहाँ इसे शान्ति प्राप्त हुई। मैं अपने को यथार्थ अपने ही द्वारा तो अनुभव सकता हूँ सो मेरा शरण मेरे में है और उस अपने उपयोग को मैं प्राप्त कर सकता हूँ। मैं चैतन्यमात्र हूँ— ऐसा विशिष्ट बारबार अनुभव होता हुआ प्रयत्न कर करके वह सब प्रकाश जो मोक्ष का कारणभूत है, अनुभव में आ जाता है। करें तो उपेक्षा। वैराग्य रखें तो बाह्य वस्तुओं से, लेकिन बाह्य वस्तुओं में यह जीव ऐसा उपयोगी हो रहा है कि जिन्हें मानता कि ये ही मेरे सब कुछ हैं। सो इस ज्ञानी ने उस व्याघ्र के मुख से अपने को खींच लिया अर्थात् इन्द्रिय के विषयों में फँसने से अपने को हटा लिया। तब वह निरख रहा है कि अहो ! यह मैं आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप हूँ। बाहर से कहाँ आनन्द लेना है? बाहर से आनन्द आता ही नहीं, किन्तु लोग एक भ्रम कर लेते हैं कि मुझे बाहर से मेरा सब कुछ प्राप्त हुआ। सो ज्ञानी पुरुषों को उपदेश दिया है आचार्यों ने कि उस चैतन्य और आनन्दस्वरूप में लीन होवें और उसके उपाय में यह भेदविज्ञान उनके बर्तता रहे।

श्लोक-1541

पृथगित्थं न मां वेत्ति यस्तनोर्वीतविभ्रमः।

कुर्वन्नपि तपस्तीव्रं न स मुच्येत बन्धनैः॥1541॥

जो भ्रमरहित मुनि है सो आत्मा को देह से भिन्न यदि नहीं मानता, तो चाहे तपश्चरण कितना ही कर रहे, पर कर्मबन्धन से नहीं छूट सकते। बाहरी पदार्थों में उपयोग लगे तो उससे बन्धन होता है। अब बन्धन का काम कर रहा है। मुनि तो वह चाहे कितना ही घोर तपश्चरण कर ले, उपवास, ऊनोदर, रसों का छोड़ना आदिक बड़े कठिन तपश्चरण कर ले, धूप में बैठकर अथवा नदी किनारे बैठकर तपश्चरण कर रहे, कितने ही कठिन तपश्चरण करे पर मोक्ष का द्वार तो आत्मा का आत्मदृष्टि करना है, वह हुई नहीं जिस साधु को वह साधु मुक्ति के पद को कहाँ से प्राप्त हो? संसार के बंधनों से छुटकारा कैसे प्राप्त हो? अपने स्वरूप को जाने मुनि और यह भी निर्णय रखता हो कि मेरे आत्मा का शरण, मेरे आत्मतत्त्व का अनुभव स्वयं है तो

समझिये कि मुझे कर्मबन्धन से छुटकारा प्राप्त हुआ, क्योंकि यह जीव एक ज्ञानकल्पना से ही तो बंधा है। छूटेगा तो ज्ञान की उस प्रकार की कल्पना मिटा दे तो छूटेगा और दूसरा इसके छूटने का कोई उपाय नहीं है। बाहरी देह के तपश्चरण से तो छुटाकर नहीं मिलता, पर कर्मों के आने का तरीका तो योग है। आस्रव है योग और आस्रव मिटाये नहीं, बाहर में कितना ही खेदखिन्न हो, बड़े-बड़े तपश्चरण करके, फिर भी इस आत्मा को मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, किन्तु मुक्ति का उपाय है भेदविज्ञान। उस भेदविज्ञान का मार्ग इसे नहीं मिला। तो जिसे धर्मपालन करना हो, बहुत सुगम उपाय है, किसी भी जगह स्थित हों, अपने में आपके स्वरूप को देखें। बाह्य साधनों को अपना मानते हैं। आत्मा का जो सत्य स्वरूप है उसे तो ग्रहण ही नहीं कर पाता। तो अज्ञानी की वृत्ति है बाह्य तत्त्व को अपनाना। यह वृत्ति अपनी नहीं छोड़ता। गृहस्थ था तो गृहस्थी के समागम को अपनाया करता था। अब साधु हुआ है तो वहाँ का जो भेष है, तपश्चरण है, व्रत ग्रहण है उनको अपनाता है और उनको अपनाकर मानता है कि यह मैं हूँ। मैं मुनि हूँ, तपस्वी हूँ, ज्ञानी हूँ, धर्मात्मा हूँ, मैं मोक्षमार्गी हूँ— इस प्रकार मैं मैं लगाये रहता है धर्म के बाह्यसाधनों से, इस कारण धर्म के नाम पर बाहरी तपश्चरण करते हुए भी यह जीव कर्मों से मुक्त नहीं होता।

श्लोक-1542

स्वपरान्तविज्ञानसुधास्पन्दाभिनन्दितः।

खिद्यते न तपः कुर्वन्नपि क्लेशैः शरीरजैः॥1542॥

भेदविज्ञान आत्मा और पर के अन्तर्भेदरूप, विज्ञानरूप अमृत के वेग में आनन्दरूप होता हुआ, तप करता हुआ भी शरीर से उत्पन्न खेद से खिन्न नहीं होता। तो ज्ञानी पुरुष बाहर में कितना ही घोर तपश्चरण करे उस तपश्चरण से इसे खेद नहीं होता क्योंकि अन्दर में अपने आत्मस्वरूप में लीन होकर अमृत का स्वाद लिया करते हैं। तो ऐसे अमूर्त तत्त्व में निज तत्त्व को रंच भी खेद नहीं होता है। खेद हो तो कोई खेदमयी कल्पना बने तो होता है। ज्ञानी पुरुष के अन्तरङ्ग में अमृत का स्पंदन होता है, सुन्दर अमृत झड़ता रहता है उसी से तृप्त है तो उस तृप्ति में इतना मग्न है, ऐसा अपने आपके स्वरूप में अभेद होता है कि बाह्य में शरीर आदिक का घोर कष्ट भी हो रहा हो, बड़ा तपश्चरण चल रहा हो, जिसे अज्ञानी देखकर एक अपना धैर्य छोड़ दे, अहो ! कितना कठिन क्लेश किया जा रहा है, पर ज्ञानी को तो क्लेश का अनुभव भी नहीं। वहाँ तो आनन्दरस में तृप्त है क्योंकि उसकी दृष्टि में कोई विशुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा है। यह मात्र मैं हूँ, सो उस आत्मा के अनुभव के प्रसाद से ऐसे आनन्दरस में छक रहे हैं कि बाह्य में घोर तपश्चरण भी कर रहे हैं तो भी

उनसे रंच मात्र भी खेद को प्राप्त नहीं होता। अब सोच लीजिए अज्ञानी जीव तो विभूतियों के बीच में रहकर, उन्हें अपनी मानकर अपने को दुःखी कर डालता है। यहाँ ज्ञानी जनों को देखो— बड़े घोर तपश्चरणजो सामान्यजनों से न किये जायें, उन तपश्चरणों को करके भी खेदखिन्न नहीं होते, किन्तु स्वात्मीय आनन्द के अनुभवरस से तृप्त होते हुए आनन्दविभोर रहते हैं। अज्ञानी जनों को ऐसा लगता कि ये बड़ा कठिन परिश्रम कर रहे हैं, पर ज्ञानी जन तो अपने आत्मीय आनन्दरस में तृप्त ही रहते हैं।

श्लोक-1543

रागादिमल विश्लेषाद्यस्य चित्तं सुनिर्मलम्।

सम्यक् स्वं स हि जानाति नान्यः केनापि हेतुना॥1543॥

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। आत्मा कहते ही उसे हैं जो निरन्तर जानता रहे। अतति सततं गच्छति इति आत्मा। जो निरन्तर जाने उसे आत्मा कहते हैं। इसके जानने का काम निरन्तर है। सोई अवस्था हो, जगी अवस्था हो, कषाय सहित हो, कषाय रहित हो, सभी स्थितियों में आत्मा जानता ही रहता है। कितना जानता, कैसा जानता यह एक विशेष बात है, पर जानने का काम कभी भी नहीं छूटता, क्योंकि जितना अनुभवन है, जितनी वेदना है वह सब जानने के आधार पर है। सो जानता तो है ही निरन्तर कुछ न कुछ, पर जो जीव स्व को जानता है, निज अंतस्तत्त्व को जानता है वह तो संसार के संकटों से छूट जाता है और जो स्व को नहीं जानता, परपदार्थों में दृष्टि देकर कितना ही जाने, वह संसार के संकटों से छूट नहीं पाता। स्व के जानने का अद्भुत प्रताप है, सर्व क्लेश दूर होते हैं और जो यथार्थ बात है वैसा ज्ञाता दृष्टा रहने से संकटों से छूट जाता है। तो अपने आपको भली प्रकार कौन पुरुष जान सकता है? उसका वर्णन इस श्लोक में है। जिस मनुष्य का चित्त रागादिक मल के अभाव से निर्मल हुआ है वही पुरुष भली प्रकार अपने को जानता है और किसी कारण से अपने को भली प्रकार नहीं जानता। ज्ञान अमूर्त है और ज्ञान के द्वारा जिसे जान लेना चाहिए वह अमूर्त है। तो इस ज्ञान को अपने आपके ज्ञान करने के लिए कोई बाधा न आनी चाहिए। मगर बाधा है। वह बाधा क्या है? रागादिक दोष। तो रागादिक दोषों का जहाँ अभाव हो गया उसका चित्त निर्मल हुआ। वही पुरुष अपने आपको जान सकता है। आवरण बीच में से समाप्त हो गया। जैसे समुद्र भी है या उसके ऊपर एक पतली चादर ही बैठी हो तो समुद्र का लाभ नहीं लिया जा सकता। ऐसे ही ज्ञान के और ज्ञान के स्वयं

विषय के बीच रागादिक मल का पर्दा पड़ा है। इस तरह स्व का बोध भली प्रकार नहीं होता क्योंकि उपयोग रागवश बाहर की ओर रम गया या ये रागादिक दोष ये आवरण जिस मुनि के समाप्त हुए हैं वह अपने को भली प्रकार जानता है।

श्लोक-1544

निर्विकल्पं मनस्तत्त्वं न विकल्पैरभिद्रुतम्।

निर्विकल्पमतः कार्यं सम्यक्तत्त्वस्य सिद्धये॥1544॥

जो निर्विकल्प मन है वह तत्त्व है। यहाँ मन शब्द का अर्थ ज्ञान से लेना चाहिए। विकल्परहित, महाझंझटोरहित जो ज्ञान का परिणमन है, जो ज्ञान है, जो ज्योति है। वही तत्त्व है और विकल्पों से उत्सर्ग किया गया, घात किया गया जो मन है, विचार है, ज्ञान है वह तत्त्व नहीं है इस कारण तत्त्व की सिद्धि के लिए भली प्रकार अपने चित्त को निर्विकल्प करना चाहिए। बाह्य पदार्थों से उपयोग को हटायेँ और अपनी ओर उपयोग को ले जायेँ तो बाह्य का आक्रमण न रहने से इसे सुविधा है, अपने आपके सम्यक्त्व की प्राप्ति होने में। संसार में शरण बस इतना ही है अपने लिए सहाय अपना जो सहजस्वरूप है उसका आलम्बन लेना यही मात्र शरण है, यही धर्म है। और चत्वारिदण्डक में पहिले अरहंत को, फिर सिद्ध को, फिर साधु को, मंगल, लोकोत्तम शरणभूत बताकर अन्त में बताया है कि धर्म मंगल है, धर्म लोक में उत्तम है और धर्म शरणभूत है, जो भगवान केवली द्वारा प्रणीत है वही धर्म शरण है। वह धर्म निर्विकल्प है, अभेद है, सनातन है, आदि अन्तरहित है।

श्लोक-1545

अज्ञानविप्लुतं चेतः स्वतत्त्वादपवर्तते।

विज्ञानवासितं तद्धि पश्यत्यन्तः पुरः प्रभुम्॥1545॥

जो मन अज्ञान में बिगड़ा हुआ है अर्थात् जहाँ अज्ञान का वास है वह तो निज स्वरूप से छूट जाता है और जो मन विज्ञान है, सम्यग्ज्ञान से वासित है वह अपने अन्तरङ्ग में प्रभु भगवानपरमात्मतत्त्व को निरखता है। परमात्मतत्त्व को निरखने की यही विधि है। ज्ञानान्धकार दूर करें और परमात्मतत्त्व पर दृष्टि दें, उसे ज्ञेय बनायें तो ऐसा एक तान होकर जब ज्ञान ज्ञान के स्वरूप को जानने लगता है तो यह विधि है कि वह अपने आपमें बसे हुए परमात्मतत्त्व का साक्षात् अनुभव करता है। मूल में सबका भेदविज्ञान शरण है। भेदविज्ञान किए बिना धर्म की कोई पीढ़ी नहीं चलती। भेदविज्ञान होता है पदार्थों के स्वलक्षण के परिचय से। आनन्द भी भेदविज्ञान से ही मिलता है, नहीं तो परपदार्थ का कुछ थोड़ा बहुत जो कुछ अनुकूल और प्रतिकूल परिवर्तन हो रहा है अज्ञान के कारण उसी में रमता है यह जीव। जब ज्ञान उत्पन्न हो तो सबसे उपेक्षा करके एक अपने आपके स्वरूप में प्रवेश करता है। यह विधि है परमात्मतत्त्व के दर्शन की। एक उपयोग में दो बातें नहीं समा सकती कि विषयों से प्रतिभाव भी बना रहे और सर्व आनन्द का आधारभूत जो निज अन्तस्तत्त्व है उसका ज्ञान भी होता रहे। परमात्मतत्त्व में देखना क्या है, दर्शन क्या चीज है? कहीं रूपी पदार्थों की तरह तो इसका दर्शन नहीं होता। जैसे हम आँखों से देखते हैं, बताते हैं कि हमने यह देखा, इस तरह ज्ञान के द्वारा भीतर कोई नेत्रवत् नहीं देखा जाता, पर ज्ञान का काम जानने का है, अनुभवने का है सो यह होता है ज्ञानी जीवों में।

श्लोक-1546

मुनेर्यदि मनो मोहाद्रागाद्यैरभिभूयते।

तन्नियोज्यात्मनस्तत्त्वे तान्येव क्षिप्यते क्षणात्॥1546॥

मुनि का मन, ज्ञानी का मन यदि मोह के उदय से रागादिक से पीड़ित हो तो मुनि उस मन को आत्मस्वरूप में लगाता है और रागादिक भावों को क्षणमात्र में दूर करता है। जहाँरागरहित निर्विकार आत्मस्वभाव ज्ञान में लिया, लो ये रागादिक झंझट दूर हो जाते हैं। अब देखिये एक ज्ञान को ग्रहण करने की ही बात है। जैसे हड्डी का फोटो लेने वाला यंत्र शरीर पर पड़े हुए कपड़े को छोड़कर हड्डी का फोटो ले लेता है, इसी प्रकार विकारपरिणमन चल रहा है, विरुद्ध बात समझी जा रही है और वातावरण भी अपने पर ऐसा

छाया है कि ज्ञानी पुरुष वहाँ सब चीजों से दृष्टि हटाकर अन्तःगुप्त स्वरक्षित जो आत्मा का सहजस्वरूप है उसको लक्ष्य में ले लेता है तब उस चित्त में रागादिकभाव पीड़ा नहीं करते। मैं निर्विकार अंतस्तत्त्व हूँ। विकार आते हैं तो वे पीड़ास्वरूप हैं, आत्मस्वरूप हैं और वे दुःख के लिए ही आते हैं। मैं रागादिक से भी रहित मात्र एक ज्ञानस्वरूप हूँ। ऐसी ज्ञानज्योति को अपने चित्त में लें तो इन रागादिकों को क्षणमात्र में यह ध्वस्त कर देता है।

श्लोक-1547

यत्राज्ञात्मा रतः काये तस्माद्द्वयावर्तितो धिया।

चिदानन्दमये रूपे योजितः प्रीतिमुत्सृजेत्॥1547॥

जिस काय में अज्ञानी आत्मा रागी होता है उस काय से बुद्धिपूर्वक भिन्न किया गया, चिदानन्दस्वरूप में लीन हुआ मन उस काय में प्रीति को छोड़ देता है। जैसे पुराणों में बड़े-बड़े महामुनियों का चरित्र जहाँ बताया है उपसर्ग के समयों का तो आप समझ लीजिए कि देह से कितनी प्रीति उनकी कम हुई? सुकुमाल मुनि को सिंहनी खाती जाती थी, पर उनका उपयोग अपने आत्मस्वरूप में ही टिका हुआ था। किसी उपलों के घर में जहाँ गोबर के उपले रखे हुए थे उस घर में उन मुनिराज को बैरवश बंद कर दिया और कमरे में आग लगा दी। उस समय जरा विचार तो करो कि उन्हें क्या वेदना हुई? सुकुमाल मुनि को सिंहनी खाती जाती थी, महामुनि कोल्हू में पेले गए, समुद्र में फेंक दिए गए, चाकू से चाम छीलकर उसमें नमक भरा गया लेकिन चित्त एक आत्मतत्त्व की ओर था। यह एक भीतरी सावधानी की बात कही जा रही है। यहाँ तो लोग जरा जरासी बातों में अपने श्रद्धान को शिथिल कर लेते हैं और मैं कुछ नहीं कर सकता, इस प्रकार की कायरता को चित्त में बसाये रहते हैं, लेकिन भावों से जिस समय उन परपदार्थों से दूर हुआ उस समय यह जीव इस योग्य है कि वह अपने में परमात्मतत्त्व का दर्शन करता है। जब अज्ञान दशा थी तब यह जीव शरीर में रागी था। रागी क्या था, शरीर को आत्मारूप से मानता था। शरीर से जीव भिन्न है यह उपयोग में समाया ही नहीं जा सकता। जब यथार्थस्वरूप का बोध हुआ तब समझ में आया। ओह ! यह काय क्या है, अत्यन्त विलक्षण है, आत्मा से भिन्न है। उस काया से फिर ज्ञानी पुरुष को प्रीति नहीं जगती। वह तो सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा में ही लीन होने का यत्न करता है।

श्लोक-1548

स्वविभ्रमोद्भवं दुःखं स्वज्ञानेनैव हीयते।

तपसापि न तच्छेद्यमात्मविज्ञान वर्जितैः॥1548॥

अपने विभ्रम से उत्पन्न हुआ दुःख अपने ही ज्ञान से दूर होता है। जैसे पड़ी तो रस्सी है और विभ्रम हो गया कि यह सांप है तो यह विभ्रमा पुरुष आकुलित होता है, और-और साधन जुटाता है। फल यह होता है कि जब तक किसी भी प्रकार के साधन जुटाये, इस आत्मा को शान्ति पथ नहीं मिल सकता। कितने ही साधन लोग जुटाते अपने ऐश आराम के, अपने को सुखी बनाने के लिए, लेकिन फल उल्टा ही होता है, क्षोभ बढ़ता है, विपदा बढ़ती है। दुःख नाम है किसका? इसे बहुत-बहुत समझाया जाय तो दृष्टि जायगी कि इस दुःख का सम्बंध अन्य पदार्थ से है। जैसे रस्सी को सांप जाना तो वह काहे की घबडाहट थी? वह घबडाहट इसी बात की थी कि रस्सी में सर्प का विभ्रम हो गया है। विभ्रम होने से वह खेदखिन्न हो गया। वह खेदखिन्नता कैसे मिटे? कोई हजारों रुपये दे दे तो भी खेदखिन्नता न मिटेगी। वह खेदखिन्नता तो अज्ञान से उत्पन्न हुई है। अज्ञान से उत्पन्न हुई यह खिन्नता ज्ञान होने पर दूर हो जाती है। घबडाहट तब थी जब रस्सी को सांप जान रहे थे, पर जब थोड़ी सी हिम्मत करके देखें कि यह तो रस्सी ही है तो यथार्थ जहाँ ज्ञान हुआ वहाँ विभ्रम सब समाप्त हो जाता है। तो अज्ञान से दुःख उठाया जा रहा था वह दुःख ज्ञान से दूर किया जा रहा है। जान लेवें कि मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र हूँ। कैसी ही कठिन स्थिति हो, कितनी भी दुःखमयी स्थिति हो पर सम्यग्ज्ञान के होने पर सब दुःख दूर हो जाते हैं। और फिर ज्ञान से दूर हुआ भ्रम फिर उस भ्रम को उत्पन्न करने में एक साधन भी नहीं बन सकता। जैसे रस्सी को जान लिया कि यह रस्सी है, फिर कोई कितना ही बहकाये, कितनी ही कुछ भी आकुलताएँ प्रतिकुलताएँ करे, पर उसके चित्त में भ्रमभरी बात नहीं रह सकती है। वह तो जान जाता है कि यह रस्सी ही है। ऐसे ही जिसने अपने आत्मा के स्वरूप को जान लिया और खूब योग्यतानुसार उसने अपने चित्त में बसा लिया, भ्रम दूर हुआ, शुद्ध अंतस्तत्त्व का बोध हुआ अब उसे कोई भी हटाने में, उसको विभ्रमरहित से च्युत करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता। अज्ञान से ही दुःख उठाया था, अज्ञान दूर हुआ कि दुःख दूर हुआ।

श्लोक-1549

रूपादिर्बलवित्तादिसम्पत्तिं स्वस्य वाञ्छति।

बहिरात्माथ विज्ञानी साक्षात्तेभ्योऽपि विच्युतिम्॥1549॥

जो बहिरात्मा पुरुष हैं वे अपने लिए सुन्दर रूप, दीर्घ आयु, खूब बल, धन आदिक सम्पत्ति को चाहते हैं। अब देख लीजिए ऐसी चाह कहाँ-कहाँ कितने में है? अगर यह चाह बस रही है, उससे ही विराम नहीं मिल रहा है तो कैसे कहा जा सकता है कि धर्ममार्ग इसमें सम्भव है? एक तो होती है आवश्यकता के कारण चाह और एक होती है अपने आपके आराम के लिए चाह। आवश्यकतानुसार चाह कुछ दर्ज में ज्ञानी के प्राक् पदवी में हो जायतब इसकी प्रमत्तदशा अथवा कुछ उत्कृष्ट बात इस ज्ञानी के हो तो ये आकांक्षाएँ रूच भी नहीं रहती। कोई रूप चाहे सुन्दररूप देखकर अपने चित्त में बड़ा खुश रहे और अपने को भाग्यशाली समझें, यों कोई रूप, आयु, बल, धन आदिक की वाञ्छा करता है तो वह बहिरात्मा पुरुष है। जिसे अन्तःवैभव की पहिचान नहीं है तो वह बाहर से कहाँहटे? अपने में कहाँ लगे? तो जो बहिरात्मा पुरुष हैं वे ही अपने सुन्दर रूप, आयु, बल, धन आदिक की वाञ्छा करते हैं और जो ज्ञानी पुरुष हैं वे उनसे छूटना चाहते हैं। निकट दोनों हैं। अज्ञानी भी उन भोगोपभोगों के साधनों के निकट है और ज्ञानी भी उन पदार्थों के निकट है, पर अज्ञानी तो उन समस्त वैभवों को अपनाता है और ज्ञानी उनसे छूटना चाहता है। प्रसंग यद्यपि दोनों में लग रहा है, पर भीतर में जो परिहार करने का और ग्रहण करने का स्वभाव पड़ा है उस स्वभाव का यह अन्तर हो जाता है। अज्ञानी को तो ग्रहण से अशान्ति मिलती है और ज्ञानी का परिहार करने से शान्ति का मार्ग मिलता है। अज्ञानी की स्थिति होती है लोहवत। जैसे लोह जंग को ग्रहण कर लेता है, लोह में ऐसा ही स्वभाव पड़ा हुआ है। ऐसे ही अज्ञानी जीव पर को मोह से ग्रहण कर लेता है किन्तु ज्ञानी पुरुष स्वर्ण की तरह है जैसे स्वर्ण कीचड़ में भी डाल दिया जाय तो वह भी कीचड़ से हटा हुआ अपना स्वभाव बनाये रहता है। जो भेदविज्ञानी पुरुष है वह अपने में रूप आदिक विद्यमान हों, उनसे भी छुटकारा चाहता है, क्योंकि मुख्य कारण यह है कि ज्ञानी ने अपने आपके आत्मा को जाना। जो शान्ति का आधार है, धर्म का आधार है उस अपने आपकी ओर जो चला यह भेदविज्ञानी पुरुष तो उसके अनुभव के पश्चात् उसे बिल्कुल प्रकट निर्णय होता है कि जीवादिक समस्त परपदार्थ परिहार के योग्य हैं। ज्ञानी जीव उनका परिहार करता है, अज्ञानी जीव उनका ग्रहण करता है, पर न अज्ञानी के पास आ जायगा और न ज्ञानी के पास। ज्ञान है तो राग का परिहारपूर्वक रहा करता है और अज्ञान है तो राग का ग्रहण करता हुआ रहा करता है। यही अन्तर है कि अज्ञानी जीव कर्मों का बन्धन करता है और ज्ञानी जीव कर्मों से छूटता है। भूल में उसकी पर्याय प्रकृति में

भेद आ गया। पर को ग्रहण करने का भाव रहता है अज्ञानी के और पर से हटे रहने का भाव रहता है ज्ञानी के। छूटकारा जिससे पाना है उससे यह मालूम कर लें कि मैं तो यह छूटा हुआ ही हूँ। मैं इस स्वरूप में मिला हुआ नहीं, केवल जो पर की ओर आत्मा स्वयं जा रहा है उससे निवृत्ति करना है।

श्लोक-1550

कृत्वाहंमतिमन्यत्र बध्नाति स्वं स्वतश्च्युतः।

आत्मन्यात्ममतिं कृत्वा तस्माद् ज्ञानी विमुच्यते॥1550॥

जो आत्मा स्वभाव से च्युत हो गया। ऐसा अज्ञानी पुरुष अन्य पदार्थों में अहंबुद्धि करके अपने आपमें बंधता है। देखिये अपने ही उपयोग से, अपनी ही करतूत से, अपनी ही विशिष्ट परिणतियों से उसने अपना बन्धन बनाया, इसके बांधने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। आत्मा को कौन बांधे? यह आत्मा ही स्वयं कल्पनाएँ करता है और बंध जाता है। जैसे किसी भाई से स्नेह न हो तो वहाँ कोई बंधन नहीं है, और कोई बन्धन नहीं है तो बड़े मौज में है, चाहे कितना ही कुछ चल रहा हो। ज्ञानी पुरुष जो है वह परपदार्थों को अपनाता नहीं, उसे सुलक्ष्य का निर्णय है और जानता है कि इसमें हित क्या रखा? किसी भी पर को अपनाया तो उससे लाभ क्या मिला? कदाचित् मान लो थोड़ी बहुत सुखसाता हो गई तो थोड़ी देर से इस जीव का पूरा क्या पड़ता? अज्ञान से यह जीव परपदार्थों का संचय करता और ज्ञान होने पर सबसे उपेक्षाभाव करता है, फिर बंधता नहीं। बन्धन तो स्नेह में है। गाय ने बछड़े से स्नेह किया लो बंध गई। जिधर बछड़ा जाता है उधर गाय भगती जाती है। ऐसे ही समझो इस मोही जीव ने अज्ञानता के कारण अपने को पर के बन्धन में डाल रखा है। ज्ञानी जीव तो अपने स्वभाव को दृष्टि में लेकर झंझटों से छूट जाता है, पर अज्ञानी जीव विषयों के पंक में ही रमकर अपने आपके संसार को लम्बा करता है। हम आपका यह कर्तव्य है कि जहाँ तक बने, किसी जगह बने घर में, दूकान पर किसी भी स्थान पर, अपने आपमें देखें तो सही कि इस मुद्ग आत्मा में तत्त्व क्या बसा है? एक जानने के लिए कमर कस लें, अवश्य जानने में आयगा, फिर उसके सिवाय अन्य को जानने की धुन न बनायें। राग न करें तो अपने आपके स्वरूप का बोध हो सकता है और वही स्वरूपस्मरण हमारे क्लेशों को दूर कर देता है। आत्मस्वरूप का स्मरण ही तो शरण है, उसी के दर्शन से ज्ञानी जीव ने अपने आपमें कोई नवीन तत्त्व पाया है। तो ज्ञानी पुरुष तो दोषों से छूटता है और अज्ञानी पुरुष दोषों से बंधता है यह बात एक निचोड़ की आचार्यदेव लिखते हैं।

श्लोक-1551

आत्मानं वेत्यविज्ञानी तिलिङ्गी संगतं वपुः।
सम्यग्वेदी पुनस्तत्त्वं लिङ्गसंगतिवर्जितम्॥1551॥

जो भेदविज्ञान से रहित हो वह बहिरात्मा। जो पुरुषलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग से रहित अपने को मानता है वह ज्ञानी पुरुष है। ज्ञानीपुरुष अपने आपके बारे में ऐसा चिन्तन करता है कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, परिणमता हूँबस अब इसी को बढ़ा लीजिए जो कुछ बढ़ाना हो।वैसे तो प्रति समय अभेद है और उसकी जो अवस्था है वह भी उस काल में अभेद है, पर अपने आपकी स्वरूप सत्ता की प्रतिष्ठा रखने के लिए जो परिणमन चलता है वह तो है तन्मात्र अपने को जाने सो ज्ञानी है और उस अंतस्तत्त्व को भूलकर बाह्य में किन्हीं को भी अपनाए तो उसके सम्यक बोध नहीं है। अपने आपको जाने, अपने आपको माने, अपने में रत रहे यह बात जिस प्रकार बने, जैसे बने उसको बनायें और अपने में अपने आपको निरखकर प्रसन्न रहने का प्रयत्न करें, इसमें ही अपना हित है।

श्लोक-1552

समभ्यस्तं सुविज्ञातं निर्णीतमपि तत्त्वतः।
अनादिविभ्रमात्तत्त्वं प्रस्खलत्येव योगिनः॥1552॥

जो प्राणी अपने आत्मस्वभाव से च्युत होकर अन्य पदार्थों में अहंबुद्धि रखता है वह अपने आपको बांधता है। कर्मों का आत्मा से बन्धन होने में आत्मा का परिणाम निमित्त है। आत्मा के रागद्वेष मोह आदिक भावों का निमित्त पाकर लोक में भरी हुई कार्माण वर्गणा में कर्मरूप परिणम जाती हैं। सो ऐसे कर्मों का बन्धन होने में निमित्त क्याहै? आत्मा के विकल्प, आत्मा के रागद्वेष मोह भाव। उन सबमें प्रधान है अहंकार। परद्रव्यों को अहंरूप मानना सो अहंकार है। यहाँ अहंकार का अर्थ घमंड न लेना किन्तु पर को अहं करना सो अहंकार है। देह वैभव सब भिन्न पदार्थ हैं, उनमें मानना कि यह मैं हूँ— यह तो अहंकार है और यह मेरा है, ऐसा मानना ममकार है। परद्रव्यों में ममत्व बुद्धि हुई तो वह बंध गया। वह अज्ञानी जीव है। है तो पर और मानता है कि यह मैं हूँ और ऐसी मान्यता में मुख्य आधार है देह का सम्बंध। जीव इस देह को निरखकर मानता है कि यह मैं हूँ सो ऐसा जीव कर्मों से बंधता है, अपने आपको बन्धन में डालता है परन्तु

जो ज्ञानी जीव हैं, आत्मा में आत्मबुद्धि करता है अतएव वह ज्ञानी जीव कर्मों से छूट जाता है। मैं किसको मानूँ इस पर इस बात की समस्या है। देह को मैं मानातो यह मोह हुआ, अज्ञान हुआ, इससे कर्मों का बन्धन है और जैसा मैं हूँज्ञान ज्योतिर्मय समस्त परपदार्थों से निराला अपने सहज ज्ञानस्वभावरूप उसे मान लेना कि यह मैं हूँसो कर्मों से छुटकारा हो जाता है।मैं क्या हूँ, इसका हल कर लेना धर्मपालन के लिए सर्वप्रथम बात है। जिसने अपने मैं का हल नहीं किया वह किसके लिए तपश्चरण करे, किसके लिए क्या करे? मैं का निर्णय कर लेना बहुत जरूरी काम है। मैं धर्म का पालन करता हूँतो वह मैं क्या? यदि देह को ही मान लिया कि यह मैं हूँ और यह मैं धर्म का पालन करता हूँ तो वहाँ धर्मपालन नहीं है। जहाँ एक का आँकड़ा ही नहीं रखा है तो सारी बिन्दियाँकाम न देंगी। एक का आँकड़ा हो तो प्रत्येक बिन्दी दसगुना काम करती है। ऐसे ही यदि हम अपने आपके आत्मा का परिचय हो गया हो तो हमारे ये सब व्रत, संयम, तप, नियम उसमें 10 गुना काम करते हैं अर्थात् हम अपने यथार्थ रत्नमय में बढ़ते हैं और इस एक का ही पता न हो तो किसके लिए क्या कर रहे, इसका कुछ निर्णय ही नहीं। तो जो पुरुषअन्य पदार्थों में मैं का निर्णय किए हुए है वह तो कर्मों से बंधता है और जिसने अपने आत्मा में ही मैं का निर्णय किया है वह ज्ञानी कर्मों से छूटता है। यह मैं आत्मा डेला-पत्थर आदिक की तरह पिण्डरूप तो हूँ नहीं, जो हाथ से छूकर दिख सकूँ कि यह मैं आत्मा हूँ, अथवा रसना से चखाकर, घ्राण से सूँघाकर, चक्षु से दिखाकर तथा कर्ण से सुनाकर कह सकूँ कि यह आत्मा है, ऐसा भी नहीं है, किन्तु यह तो मात्र ज्ञान द्वारा ज्ञान में अनुभवा जाता है। इसके जानने में अन्य कोई पदार्थ नहीं। एक ज्ञान का प्रयोग ही उपाय है। सो बड़े स्वस्थचित्त होकर बाह्यपदार्थों से मोह हटाकर अपनी ओर अपने उपयोग को लेकर मैं का निर्णय करना, अनुभव करना सो महान पुरुषार्थ है। ऐसा जीव कर्मों से मुक्त होता है।

श्लोक-1553

अचिद्दृश्यमिदं रूपं न चिद्दृश्यं ततो वृथा।

मम रागादयोऽर्थेषु स्वरूपं संश्रयाम्यहम्॥1553॥

अज्ञानी लोग देह में आत्मा का अनुभव करते हैं और देह को इस रूप में आत्मा का अनुभव करते कि मैं पुरुष हूँ, स्त्री हूँ अथवा नपुंसक हूँ। इस प्रकार देह में जो लिंग है उस लिंग सहित शरीर को आपा मानता है। प्रायः दुनिया के सभी लोग ऐसा ही मानकर एक दूसरे से व्यवहार करते हैं, बोलचाल की भाषा में भी यही अनुभव दिख रहा है। स्त्री कहेगी कि मैं जाती हूँ, पुरुष कहेगा कि मैं जाता हूँ। तो

वचनालाप तक में भी वेदों का संस्कार पड़ा हुआ है। तो लिंग से संगतशरीर में आत्मबुद्धि करना यही तो मोह है। सो अज्ञानीजन स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग आदिक रूप में इस देह को आपा मानते हैं, परन्तु जो सम्यग्ज्ञानी पुरुष हैं, लिङ्ग की संगति से रहित आत्मतत्त्व को जानते हैं। 'जहाँ देह अपनी नहीं वहाँ न अपना कोया।' जब कि देह भी अपना नहीं जो इतना निकट साथी बन रहा है, जन्म से लेकर मरणपर्यन्त जो जीव के साथ रह रहा है और कितना निकट सम्बंध बना हुआ है जीव का देह का, इसको ज्यादा बताने की बात नहीं है। सदा साथ रह रहा है इतने काल। जब वह देह भी अपना नहीं तो फिर अपना क्या है? अपने को अकिञ्चन अनुभव करना, मेरा कहीं कुछ नहीं है। हटाते जायें उपयोग बाह्य पदार्थों से, योग मारकर स्थिर बैठकर ऐसा उपयोग ले जायें, अन्दर में यह भी मान रहे कि यह देह भी पड़ा हुआ है। ऐसा अत्यन्त अन्तरङ्ग के उपयोग में पहुँचाने वाले ज्ञानीजन चैतन्यमात्र अपने आपके स्वरूप का अनुभव करते हैं। वहाँ ही वास्तव में आनन्द है, तृप्ति भी वहाँ ही मिलती है। बाह्य पदार्थों के संचय में, धनवैभव की रखवाली में, धनवैभव के आदान-प्रदान व्यवहार में इनमें शान्ति कहाँ है। तृप्ति जो आत्मा में आत्मीय चैतन्यरस के अनुभव से हो सकती है। बाह्य पदार्थों को रखकर शान्ति तृप्ति नहीं हो सकती। जो ज्ञानी पुरुष अपने आपको देहरहित, लिङ्गरहित केवल चिदानन्दस्वरूपमात्र अनुभव करता है वह पुरुष तत्त्ववेदी है और संसार के झंझटों से शीघ्र मुक्त होने वाला है। अनुभव करना चाहिए अपने आपका कि मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। पर्याय में सर्वोत्कृष्ट शुद्ध पर्याय हर प्रकार से है सिद्ध भगवान की। और सिद्ध का स्मरण के अनन्तर ही अपने आत्मस्वभाव का स्मरण करें तो समझिये कि परमात्मदर्शन का अब लाभ पाया है। द्रव्यदृष्टि से मैं वह हूँ जो भगवानहैं, जो भगवान हैं वह मैं हूँ। पर पर्याय दृष्टि में अन्तर है। प्रभु में और हममें। वे विराग हैं और यहाँ राग का फैलाव है। ज्ञानी जीव पर्यायदृष्टि का अन्तर निरखने के समय में भी अपने को रागस्वभावी नहीं अनुभव करता। राग का फैलाव है पर वह मेरा स्वरूप नहीं, स्वभाव नहीं, औदारिक भाव है। अज्ञानी जीव स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग रूप अपने को अनुभव करते हैं।

श्लोक-1554

करोत्यज्ञो ग्रहत्यागौ बहिरन्तस्तु तत्त्ववित्।

शुद्धात्मा न बहिर्वान्तस्तौ विख्यात्कथंचन॥1554॥

संसारी जीव लोक ने अब तक इन्द्रिय के विषयों का ही परिचय किया है, उसका ही अनुभव किया है, उसकी ही चर्चा की है। आत्मतत्त्व को जो आत्मा में अनादि काल से अथवा सत्त्व के साथ ही अंतस्तत्त्व बस रहा है, परमात्मत्व बना हुआ है उसका न अनुभव किया, न चर्चा की, न परिचय किया। ज्ञानी जीवों को अपने आपके स्वरूप में अन्तःप्रकाशमान नजर आता है वह परमात्मस्वरूप, किन्तु अज्ञानी जीव को इसकी सुध ही नहीं है, उनका उपयोग बाह्य की ओर लग रहा है, अतः उन्होंने इसका परिचय नहीं किया। किन्तु जहाँ रुचि है, जहाँ लग रहे हैं उन विषयसाधनों का ही परिचय किया है। कभी विवेक जगता है तो अपने आपके स्वरूप के निर्णय में लगता है, वस्तुस्वरूप जानता है, पदार्थों की स्वतंत्रता का भान करता है। और उस भान बल से अपनेआपमें बसे हुए कारणपरमात्मतत्त्व का भी परिचय करने का भी यत्न करता है। कर ले परिचय, कर ले अनुभव, बहुत अभ्यास भी बना ले, ऐसा दृढ़ अभ्यास कि जब आत्मा को अपने अनुभव में लेना चाहें तो उस पर कुछ अपना बल चल सके, आत्मानुभव कर सके ऐसा सब कुछ परिचय निर्णय अभ्यास पा करके भी अनादि काल का विभ्रम इतना प्रबल है अथवा था कि वह समभ्यास सुनिर्णीत तत्त्व से भी प्रज्वलित हो गया। सिखाये-सिखाये भी यह जीव अपने तत्त्व से स्खलित हो जाता है। अथवा यों समझिये कि जैसे सुवा को पढ़ा दिया जाता है दोहे भी पढ़ लेता है, आत्माराम आदिक शब्द भी रटा दिये जाते और कोई चाहे तो संस्कृत के श्लोक भी रटा सकता है। तो ऐसा बोल लेता है तोता अपने अटपट बोल में। उसे यह भी सीखा दो कि ऐ तोते यहाँ से भागकर कहीं ऐसे स्थान पर मत जाना जहाँ दाने पड़े हों। उस नलनी पर न बैठ जाना जहाँ सुवा पकड़ने के लिए कुछ साधन बना हो। और कदाचित् उडकर वहाँ पहुँच जाना तो नलनी पर मत बैठना। नलनी पर बैठ जाना तो दाने चुगने की कोशिश मन करना, और दाने भी चुगना तो कहीं औंधे न उलट जाना, और औंधे उलट भी जाना तो पकड़कर न रहना, नलनी को छोड़कर उड जाना। इतना उपदेश भी तोते को रटा दो तो तोता रट लेगा। शिकारी लोग तोता पकड़ने के लिए एक ऐसा यंत्र सा बनाते हैं— नलनी गोल-गोल कोई कड़ा सा बनाते हैं, तोता उस पर बैठता है और बहुत नीचे रहता है तोता, सो उन दानों को चुगने की कोशिश करता है। दाने नीचे पड़े रहते हैं, वह औंधा भी लटक जाता है। औंधा लटकने के बाद सुवा के वह बुद्धि नहीं जगती कि मैं इसे पकड़कर उड जाऊँ। वह उस नलनी को पकड़े ही रहता है, आखिर शिकारी आता है और उसे पकड़ लेता है। तो सुवा को कितना ही सीखा दो, रट लेगा, पर भावभासना नहीं कर पाता। अतः अभी मौका मिला तो पिंजड़े से उडकर झट भग जाता है और कहीं ऐसा स्थान मिल जाय तो वहाँ जाकर नलनी पर बैठ जाता है। वहाँ भी यह बात रटेगा जो बात सिखाने और रटने से किया। दाने चुगने की वह कोशिश करता है, और उलट जाता है फिर उसे छोड़ता नहीं है। तो यों ही रट लिया कुछ आत्मा का स्वरूप, कुछ आत्मा की चर्चा कर ली तो इतने मात्र से क्या होगा इस आत्मानुभव का? आत्मानुभवन चाहिए। ऐसा आत्मानुभवन किसी को प्राप्त भी हो गया हो तब भी अनादिकाल का विभ्रम

संस्कार ऐसा लगा है जीव में कि वह तत्त्व से स्वलित हो जाता है। एक बार सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय और फिर उसकी भावना न रखी तो सम्यक्त्व छूट जाता है और मिथ्यात्व में आता है।

किसी एक पंजाबी ने एक तोता पाल रखा था, वह बड़ा सुन्दर था। एक ब्राह्मण ने उस तोते को देखा तो वह बड़ा सुन्दर जँचा। ब्राह्मण ने कहा उस पंजाबी से कि यह तोता बेचोगे? तो वह बोला 'हाँ बेचेंगे?...कितने में दोगे?...100) में।....अरे तोते तो आने, 12 आने अथवा 1 रुपया में मिल जाते हैं। ऐसी क्या बात जो इसकी 100) कीमत कहते हो? तो पंजाबी बोला कि इस ताते से ही पूछ लो कि तुम्हारी 100) कीमत है या नहीं। तो ब्राह्मण ने तोते से पूछा कि कहो तोते तुम्हारी 100) कीमत है या नहीं? तो तोता कहता है— इसमें क्या शक! तोते को इतना ही रटा दिया गया था। ब्राह्मण ने उचित उत्तर सुनकर समझा कि यह तो बड़ा विद्वान तोता दिखता है। तो उसे 100) देकर वह तोता खरीद लिया। अपने घर ले गया। दो एक दिन बाद रामचरित्र लेकर बैठ गया वह पंडित। सुनाने लगा उस तोते को। बाद में पूछा—कहो तोते ठीक है ना? तो तोता क्या कहता है? इसमें क्या शक? ब्राह्मण ने समझा कि यह तो बहुत ही अधिक विद्वान दिखता है। अब ब्रह्मस्वरूप की चर्चा करने लगा। फिर पूछा कहो तोते ठीक है ना? तो तोता फिर क्या कहता है? इसमें क्या शक? अब तो ब्राह्मण को कुछ शंका हुई कि यह कुछ जानता नहीं है, सिर्फ इतना ही रट रखा है। बाद में पूछता है कि कहो तोते भाई ! क्या हमारे 100) पानी में गये? तो वह तोता क्या कहता है? इसमें क्या शक? तो भावभासना होना और बात है, शब्दों को रटकर बोल देना और बात है। ज्ञानी पुरुष के अन्तरङ्ग में एक भावभासना रहती है तब वह वास्तविक मायने में बड़े अन्तरङ्ग में भोग और उपभोग में विरक्त रहता है। क्रोधादिक भावों से हटता हुआ रहता है। बाह्यपदार्थों से हटने का ही परिणाम रहता है। दृढ़तापूर्वक निज आत्मतत्त्व का अध्ययन चिन्तन मनन करने में लगे तो समाधिभाव में स्थिरता बन सकती है और जहाँ अपने चैतन्यस्वरूप से स्वलित हुए, दिल कमजोर किया अर्थात् समाधिभाव में शंका करने लगे तो समाधिभाव में स्थिरता नहीं बन सकती है। यदि दिख रहे विषयसाधन, भोगोपभोग में अपनी रुचि बढ़ा ले तो उसका फल यह होगा कि संसार में जन्म-मरण करता रहता है। तो इसका अभ्यास करने के लिए हमें क्या भावना और क्या अवलीन करना चाहिए, इसे अब अगले श्लोक में कह रहे हैं।

ये सब जो कि इसके सामने हैं, जिनमें इसका व्यवहार चलता है उस सबकी वृत्ति सोच रहा है यह ज्ञानी कि ये सब क्रोधादिक पदार्थ है, अचेतन है और इन्द्रिय द्वारा ग्रहण में आता है किन्तु यह मैं आत्मतत्त्व चेतन हूँ, इन्द्रिय द्वारा ग्रहण में नहीं आता हूँ, इस कारण मेरे इन परपदार्थों में जो रागादिक भाव उठते हैं वे सब निष्फल है। जो दिखते हैं वे अचेतन हैं उनमें राग करने से क्या लाभ है? और जो अचेतन हैं वे इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है। सबका एक स्वरूप है। मेरे लिए वे कुछ नहीं है, फिर क्या राग किया जाय? जो दिखता है उसमें राग से लाभ क्या? जो अदृश्य है उसमें राग किया ही किस प्रकार जाय? यों जानकर ज्ञानी

पुरुष रागादिक भावों से विराम लेता है और अपने स्वरूप का आश्रय लेता है। आत्मभावना के समान कुछ वैभव नहीं है जगत में? आत्मतत्त्व के भली प्रकार गुण पर्याय के निर्णय सहित स्वतंत्रता के भान सहित यदि अपने आपकी ओर आता है यह जीव तो अनेक आरम्भों से छूटता है और अपने स्वरूप का आश्रय लेता है। जगत में जीकर अन्य भवों के ख्याल न हो, न सही, किन्तु इस भव में ही बहुत कुछ देख लो। बचपन से लेकर अब तक की उमर तक बहुत-बहुत विकल्प कर चुके। घर बसाने की, घर सम्हालने की, संतान आदिक के बढने की ये सब बातें बहुत-बहुत की जा चुकी हैं लेकिन आज पूछा जाय कि इतना राग करके हाथ क्या लगा? तो उत्तर मिला कि हाथ कुछ नहीं लगा। आज भी रीते के रीते हैं। तो अब उन समागमों से उपेक्षा कर लें, अपने आपके स्वरूप का निर्णय कर लें, यही मंगल है, यही लोकोत्तम है, यही परमशरणभूत है। जिसने अनुभव किया चैतन्यरस से परिपूर्ण आत्मतत्त्व का उसके भावभासना होती है। बालकों के शिक्षा के कोर्स में बाहर भावनाओं का स्वरूप पढ़ाकर भावभासना करायी जाती है। किसी पुरुष में ऐसी योग्यता हो कि किसी बच्चे के मुख से उन शब्दों को सुनकर सावधान हो जाय, भावभासना हो जाय तो उसमें किसी विद्यार्थी ने भावभासना नहीं उत्पन्न किया, उस पुरुष ने स्वयं अपनी योग्यता से भावभासना उत्पन्न कर लिया। वैसे तो उन्हीं शब्दों को रटकर वे बालक भी उन्हीं शब्दों को बोल सकते, कुछ चर्चा भी कर सकते हैं पर भावभासना बिना वे व्यर्थ हैं। इस असार दृश्यमान अचेतन रूपों में मुग्ध न होकर एक अपना जो स्वरूप है, जो सदा साथ रहता है, कहीं इन्द्रियाँ न जानें ऐसे स्वरूप की ओर हम अभिमुख हों, उसके निकट रहें, भावभासना बनायें ऐसा अपना निष्पक्ष जीवन बनाये। न राग की ओर ढले, न द्वेष की ओर बहें, ऐसे इस असाधारण सनातन ज्ञानप्रकाशरूप अपने आपका अनुभव करना यही है अमोघ कुञ्जी आत्मतत्त्व के अनुभव में आने की। सो जानकर भी आत्मा को सबसे निराला है केवल ज्ञानस्वरूप, ऐसा जानकर भी आत्मा का यह जानना कहीं मिट न जाय इसके अर्थ ज्ञान का अभ्यास बराबर करते रहना चाहिए। मैं क्या हूँ। इसका विशुद्ध निर्णय कर लेना चाहिए। यह तो बात पीछे की है कि विभाव कैसे होते हैं, विभाव में निमित्त क्या है, कैसे बंधते हैं कर्म और उनके उदयकाल में कैसी दुर्गति होती है—यह सब जानकर हम विषयों में रुचि न बढ़ायें और उन सबको असार समझकर उनसे निवृत्ति होकर अपने आत्मा में अनादि से अनन्तकाल तक बसे हुए इस आत्मपरमात्मतत्त्व का स्मरण करना चाहिए। अमृतरस पान करें गटागट। जैसा चैतन्यमात्र अपने आपका अनुभव करने से ऐसा अमृतपान करने से फिर विषयों में अटक नहीं रहती। विचार करें ऐसा कि दृश्यमान पदार्थ सब अचेतन हैं, उनसे राग करना क्या? जो चित्चेतन है वह अदृश्य है उससे राग किया जा सके क्या? इसलिए मैं सब पदार्थों में राग को छोड़कर अपने स्वरूप का ही आश्रय लेता हूँ। यों समस्त पर और परभावों से हटकर अपने स्वरूप में आना और यहाँ ही स्थिरता से बैठकर विकल्प भुलाकर अपने आपके सहजस्वरूप का अनुभव कर लेना, यह इस जीवनमें ऐसी खास महत्त्व की चीज होगी और अनादि से लेकर

अब तक अनेक प्रयत्नों से काम करके भी नहीं पाया जा सकता। उस तत्त्व की भावभासना होने पर फिर उस भावभासना की रक्षा करना चाहिए और ऐसे योग्य आचरणों से रहकर अपना व्यवहार रखना चाहिए कि हम उस योग्यता के पात्र रह सकें।

श्लोक-1554

करोत्यज्ञो ग्रहत्यागौ बहिरन्तस्तु तत्त्ववित्।

शुद्धात्मा न बहिर्वान्तस्तौ विदध्यात्कथंचन॥1554॥

लोक का संक्षिप्त परिचय— इसे लोक क्यों कहते हैं? जो कुछ यह दिखता है जो यह दुनिया है उसका नाम लोक क्यों है? लोक शब्द बना है लुक् धातु से। लोकयन्ते यत्र सर्वाणि स लोकः। जिस जगह समस्त द्रव्य पाये जायें, देखे जायें उसे लोक कहते हैं। तो यहाँ अनन्त जीव हैं, उसमें भी अनन्त गुणे पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, असंख्यात कालद्रव्य, ये पाये जा रहे हैं और आकाश तो एक दीर्घकाल है, लोक में भी है और अवलोक में भी है। ये समस्त पदार्थ अनादिकाल से अब तक अपने-अपने एकतत्त्व स्वरूप को लिए हुए बने हुए हैं। यह सब इस व्यवस्था की मेहरबानी है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही चतुष्टय से अस्तित्व रखते हैं, पररूप से कोई अपना अस्तित्व नहीं रखता। स्यादस्ति और स्यान्नास्ति अपने स्वरूप अपेक्षा से तो पदार्थ है, पर के स्वरूप की अपेक्षा से पदार्थ नहीं है। अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं के गुणरूप है, प्रत्येक पदार्थ अपनी ही परिणति से, अपने ही काल से परिणमता है, प्रत्येक पदार्थ अपने ही भावरूप है, अपने ही प्रदेश में अपना अस्तित्व रखता है। ऐसा एक सर्व सामान्य स्वरूप होकर भी विभावपरिणमन अर्थात् स्वभाव के विरुद्ध परिणमन जीव और पुद्गल में होता है।

विभाव परिणमन का आद्य परिचय— विभावपरिणमन अपने से विरुद्ध किन्तु विधिविधान में अनुकूल निमित्त का सन्निधान पाकर होता है। जब जीव के दर्शन मोह का उदय होता है तो यहाँ जीव एक भ्रमरूप पड़जाता है। बाह्यपदार्थों को आत्मारूप में मानता है, और बाह्यपदार्थों को ये मेरे हैं ऐसी दृष्टि से देखता है और इस प्रकार अपने आपमें ही गुन्तारा लगाकर कषाय करके बाह्यपदार्थों को ग्रहण करता है, बाह्य को त्यागता है। अज्ञानी जीव की बात कही जा रही है। अज्ञानी जीव बाहर में बाहरी पदार्थों को ग्रहण करता है और बाहरी पदार्थों को छोड़ता है। ये सब कल्पना की बातें हैं। यद्यपि जीव बाहरी पदार्थों को न ग्रहण कर सकता और न त्याग सकता, किन्तु अपनी जीव कल्पना में यह समझ रहे हैं कि मैं बाहरी पदार्थों को ग्रहण करता हूँ और बाहरी पदार्थों को छोड़ता हूँ।

वस्तुस्वातन्त्र्य और निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध से लोकव्यवस्था— देखिये यह दृश्यमान लोक न बनता यदि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध न होता। जिस प्रकार के परिणमन से परिणम रहा है यह लोक वह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध में है, तिस पर भी यह लोक न बनता, यह लोक न रहता यदि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में हे यह व्यवस्था न होती। स्वतंत्रता और निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध— ये दोनों अपने-अपने स्थान में अपना बल रखते हैं तो बाह्य वस्तुओं के सम्बन्ध से, कल्पना से यह अज्ञानी जीव विकल्प करता है कि मैंने यह त्याग दिया, मैंने यह ग्रहण किया। उसे यह सुधि नहीं की मैं तो केवल भावों का ही करने वाला हूँ। बाह्य पदार्थ तो अपने में ही अपना अस्तित्व रखते हैं पर यह अज्ञानी जीव बाह्य में ग्रहण और त्याग करता है। तत्त्वज्ञानी जीव तो अपने अन्तरङ्ग में ही कुछ त्यागता है और अन्तरङ्ग में ही ग्रहण करता है। ज्ञानी को यह खबर हे कि मैं परपदार्थों के प्रति कल्पना से भावरूप ग्रहण बना रहा था और अब अपने ही ज्ञानबल से उस ग्रहण के भाव को त्याग रहा हूँ। बाह्य पदार्थ तो ज्यों के त्यों हैं, उन्हें मैं ग्रहण करता हूँ और न त्यागता हूँ। कोई चीज मेरे निकट आ गयी तो उससे ग्रहण नहीं हो पाया, और जब ग्रहण नहीं तो त्याग नाम किसका? ज्ञानी पुरुष जानता है कि मैं अपने ही भावों का ग्रहण करता हूँ और अपने ही भावों को त्यागता हूँ। जो शुद्ध आत्मा है, कषाय रहित है, परमात्मा है वे न बाह्य में कुछ ग्रहण त्याग करते और न अन्तरङ्ग में कुछ ग्रहण त्याग करते। वे कल्पनातीत हैं।

प्राकरणीक शिक्षण— यहाँ यह शिक्षा लेना है अपने आपके हित के लिए कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान को ही करता हूँ, ज्ञान को ही भोगता हूँ। किसी परपदार्थ का भी भोगोपभोग करता हूँ तो उस प्रसंग में भी मैंने जैसा अपना ज्ञान बनाया उसको करता हूँ और उसको भोगता हूँ। पर के साथ करने और भोगने का सम्बन्ध नहीं। किन्तु अपने आपमें ही अपनी ही कल्पनाओं में करने और भोगने का प्रसंग है। यह बात एक वस्तुत्व की कही जा रही है। इस विचार से होगा क्या? मोह दूर होगा, और मोह ही इस जीव को दुःखी किए हुए है। हम आपको दुःखी करने वाला कोई दूसरा जीव नहीं है, केवल एक मोहभाव ऐसा है कि जिसके कारण दुःखी होना पड़ता है। सभी जीवों पर दृष्टि डालकर देखो तो सबके रागभाव लगा है पर वस्तुओं के प्रति ये सोचे बैठे हैं कि मुझे यह करना है, मुझे इस वस्तु को यों बनाना है, इतना जोड़ना है ऐसा विकल्प बसाये हुए हैं। वह विकल्प दुःखी किए है। तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि बड़े-बड़े संत पुरुषों ने अन्तरङ्ग में उपेक्षा कर दी बाह्य की और इसके फल में देखो सर्व बाह्य पदार्थों का त्याग किया। यदि संसार में सुख होता तो तीर्थंकर आदिक जैसे महापुरुष इस परिग्रह को, राज्य को, वैभवों को तजकर क्यों जाते? और ये वैभव राज्य सब मन से त्यागा। जिन्होंने अपने आपके स्वरूप को ग्रहण किया उन्होंने ही बाह्य पदार्थों को त्यागा।

अपना उचित विचार— भैया ! अपने आपमें यह विचार करें कि मेरी कब ऐसी स्थिति बने कि अपने आपको अपने आपमें देखूँ। जो मेरा सहजस्वरूप है, अपने सत्त्व के कारण जो मेरा कुछ लक्षण है उतने रूप रहूँ,

ऐसी मेरी कब स्थिति बने, ऐसा अपने में भाव होना चाहिए, और जो भी समागम हैं, जितने लोग घर में आये हैं, वे हैं, उन्हें पालिये, उनकी बात पूछिये लेकिन श्रद्धा यह रखें कि सब जीवों के साथ उनका अपना-अपना कर्म लगा है और जब कभी मुक्त होंगे तो वे अपनी ही परिणति से, अपने ही शुद्ध आलम्बन से मुक्त होंगे। उनका में कुछ करने वाला नहीं हूँ। जो कभी ऐसा मालूम भी होता है कि देखो यह दो एक वर्ष का बालक है, हम इसे न खिलायें, इसकी रक्षा न करें तो कैसे यह जीवित रहेगा? अरे भाई सबका अपना-अपना उदय है। उनके पीछे पड़कर तो अपने आपको बरबाद किया जा रहा है। जिनकी इतनी फिकर करते हैं उनका इतना प्रबल पुण्य है कि उनके पीछे हमें रात दिन उनका नौकर बनकर रहना पड़ रहा है।

योग श्रद्धान और आचरण का उत्साह— कीजै शक्ति प्रमाण, शक्ति बिना श्रद्धा धरे। द्यानत श्रद्धावान अजर अमरपद भोगोगे। जब कभी शक्ति: त्याग शक्ति: तप का वर्णन चलता है तो लोग झट यह अर्थ लगा लेते हैं कि देखो भाई !शक्ति विचारकर तप त्याग करना, उससे ज्यादा न करना। किन्तु शक्ति: तप त्याग का अर्थ है कि जितनी शक्ति पायी है उसे न छिपाकर तप त्याग करना। लेकिन जिसका जैसा आशय होता है उसकी उस प्रकार की दृष्टि बन जाती है। देखनाहै अपने आपमें अपने आपके वैभव को। जो एक अलौकिक आनन्दमय है वह तब ही अपनी दृष्टि में आयगा जब अपना एकत्वस्वरूप प्रतीति में हो। मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ और ज्ञानमात्र ही निरन्तर परिणमता रहता हूँ। ज्ञान को ही करता हूँ, ज्ञान को ही भोगता हूँ। और जो ज्ञात हो रहा है बस इतनी ही मेरी दुनिया है। ज्ञान जो चल रहा है उतना ही मेरा धन है। ज्ञान के सिवाय और कुछ मेरी चीज नहीं। यों अपने एकत्वस्वरूप में आयें, ज्ञानमात्र चिन्तन करें तो सब समस्या सुलझ जायगी। शान्ति का क्या मार्ग है, हित किसमें है— ये सब बातें व्यवस्थित बन जायेंगी। जो वस्तु की इस स्वतंत्रता को नहीं समझता है वह पुरुष ही बाहर में ग्रहण और त्याग करता है, किन्तु तत्त्वज्ञानी अन्तरङ्ग में ही ग्रहण और त्याग मानता है। और वीतराग निर्दोष सर्वज्ञ परमात्मा कषायरहित शुद्ध आत्मा न बाहर में कुछ ग्रहण त्याग करता है और न अन्तरङ्ग में कुछ ग्रहण त्याग करता है।

निर्मोहता का उपायभूत विचार— इससे हमें यह शिक्षा लेनी है कि हम अपने आपमें यह निर्णय बनाये रहें कि मैं ज्ञानानन्दमात्र हूँ, इस स्वरूप का ही करने वाला हूँ और इस स्वरूप का ही भोगने वाला हूँ। मेरा किसी अन्य पदार्थ से कुछ सम्बंध नहीं है। कोई मुझे कुछ बना नहीं लेता, मैं किसी को कुछ बना नहीं देता। भले ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध में उपादान अपनी योग्यता से, अपनी कला से अपना कुछ परिणमन करे लेकिन सर्व परिस्थितियों में स्यादअस्ति वाला निर्णय अभेद्य है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप चतुष्टय से है, परस्वरूप चतुष्टय से नहीं है। अपना ही आत्मस्वरूप देखना है, उसे ही उपादेय रूप से जानना है, इसी में आत्मा का हित है। लेकिन निर्णय में यह बात जरूर आती है कि अहितरूप जितने में भी परिणमन अब तक हुए, वे हुए मेरे ही परिणमन से, किन्तु ये किसी परनिमित्त सन्निधान के बिना किसी परउपाधि के बिना होते तो ये मेरे

रागादिकभाव कभी मिटते ही नहीं, क्योंकि अन्यथा मानने पर ये तो अपने स्वरूप से ही हुए हैं, अपने ही कारण से हुए हैं। तो है यह औपाधिकता का सम्बंध लेकिन पदार्थ अपनी ही कला से परिणमते हैं। यह बात जानकर हमें परवस्तुओं से निर्मोह होने की शिक्षा लेनी चाहिए। मैं अकिञ्चन हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरा मात्र मैं ही हूँ। यों अपने आपके एकत्वस्वरूप की ओर आयेँ और निर्मोह बनें। अनन्त भगवन्त सर्वज्ञ देवों ने यह ही किया था। अपने आपका अपने में अवलोकन किया, उसमें ही रमण किया और संसार के समस्त झंझटों को सदा के लिए दूर कर दिया।

श्लोक-1555

वाक्कायाभ्यां पृथक् कृत्वा मनसात्मानमभ्यसेत।

वाक्तनुभ्यां प्रकुर्वीत कार्यमन्यन्न चेतसा॥1555॥

आत्मा की विविक्तरूपता— अध्यात्म साधना का साधक योगी कम से कम इतना तो परिणाम करे ही करे कि में वचन से और काय से न्यारा हूँ। और मन से अभ्यास करे जैसा कि अपने आपका स्वरूप है। और फिर इस दिशा में आगे बढ़ता है तो मन का आलम्बन भी छूटता है। केवल ज्ञान के द्वारा केवल स्व का ही सम्बेदन करता रहता है। ज्ञानीपुरुष वचन से और काय से अपने को पृथक् करके मन से आत्मा का अभ्यास करे और कदाचित् कोई बाहर का कार्य करना पड़े तो उसे वचन से और काय से तो कर ले, पर मन से न करे। ये दो बातें एक तुलना में रखी जा रही हैं कि अन्तरङ्ग का सम्बंध तो मन से बनाये, पर वचन और शरीर से न बनाये।लेकिन बाह्य पदार्थों का सम्बन्ध काय से और वचन से तो चाहे बना डाले पर मन से सम्बंध न बनाये।करना पड़ता है कुछ, बोलना पड़ता है कुछ, पर मन से तो बोलने का और करने का काम न कीजिए। तन्मात्र न होइए और समझिये कि परिस्थिति है गृहस्थ की, ऐसा करना होता है, करना पड़ता है, पर यह मैं आत्मतत्त्व वचन और काय से भी निराला हूँ।

ज्ञानी का अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग अवलोकन— पंच परमेष्ठी और जितेन्द्र भगवान की भक्ति में हम क्या निरखते हैं? उनकी पहिली साधनाएँ, बाद की साधनाएँ, निकट की साधनाएँइन सबको भक्त निरखता है। हे प्रभो! आपने सबसे पहिले इन्द्रियों पर विजय किया।कैसे विजय किया? यह जाना आपने अपने आपको कि यह मैं द्रव्येन्द्रिय से भी निराला, भावेन्द्रिय से भी निराला केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। यों केवल ज्ञानस्वरूप का आलम्बन लिया, इन इन्द्रियों पर विजय किया। हे प्रभो !आप फिर जितमोह बने। मोह विकल्प विचार इन सब तरंगों से निराला केवल ज्ञानमात्र अपने आपको अनुभवा। हे प्रभो !आप फिर क्षीणमोह हुए। इस ही अपने आपके

स्वरूप के आलम्बन के सहारे आपका समस्त मोह गल गया। आप वीतराग और सर्वज्ञ हुए। यह गुणानुवाद, यह भगवंत देव की चर्चा अपने आपमें अपने आपको छूते हुए होना चाहिए। ऐसा मैं भी हो सकता हूँ, वही मेरा स्वरूप है। ऐसा अपने आपमें समन्वय कर जोड़कर जिनेन्द्रदेव की भक्ति करते हैं। वहाँ भी क्या किया कि मन से आत्मा का अभ्यास किया। अब बाहिरी बात देखिये— जब बाहर में हमें कोई कार्य करना पड़ता है दूकान का, मकान का, कुटुम्ब का, समाज का तो वचन से करिये, काय से करिये, पर भीतर में यही मेरा स्वरूप है ऐसी लगन लगाकर न करिये। विरक्त बुद्धि उन बाह्य कार्यों में होना चाहिए और लगन आत्महित के कार्यों में होना चाहिए।

अपनी सुध— भैया ! अपने आपकी सुध जितनी बार आये, जितने क्षण आये उसमें अपनी भलाई है। गृहस्थ अथवा साधु दोनों की भलाई इसी में है कि अधिक से अधिक बार अपने निर्लेप स्वरूप की सुध आती रहे। यही धर्मपालन है। धर्म ही जीव का शरण है। धर्म बिना इस जीव का कहीं कुछ भी पूरा नहीं पड़ता, क्योंकि संसार का स्वरूप ही ऐसा है। धर्म से रहित हो, संकल्प विकल्प विषयकषायों में अपने आपको बसाये तो वहाँ नियम से कर्मबन्धन है। जीव के मलिन परिणामों का निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मरूप स्वयं परिणम जाती हैं। यहाँ यह बात न चलेगी कि मुझे कोई जानता नहीं, अकेला ही हूँ, मेरे कर्म कैसे बँधेंगे? अरे लोग जाने अथवा न जानें, पर कर्म का तो ऐसा ही स्वभाव है कि जहाँशुभ अशुभ संकल्प विकल्प, हर्षविषाद, रागद्वेष के परिणाम हुए वहाँ ये कर्म कर्मरूप बन जाते हैं।

विधान और स्वरूप— देखिये कर्म को कोई खबर नहीं है। कर्म में कोई चेतना नहीं है, मगर ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बंध ही है कि विभावपरिणमन होने से कर्मबन्ध होता है और कर्मोदय होने पर दुःखी होते हैं। छत के ऊपर के पत्थर गर्म हो ताते हैं। न पत्थर को यह खबर है कि अब सूर्य चढ आया है, हमें गरम होना चाहिए और न इस सूर्य को। पृथ्वीकाय के विमान को इतनी खबर है कि मेरे सामने अब यह पत्थर आया है। मुझे इसे गर्म कर देना चाहिए। लेकिन देख लो कभी किसी बात में कोई अन्तर नहीं आता। रोज-रोज तकते हैं, ऐसा होने पर भी सूर्य सूर्य की जगह है। पत्थर पत्थर की जगह है। सूर्य का सन्निधान पाकर पत्थर गर्म होता है तो सूर्य की परिणति लेकर नहीं, केवल अपने आपकी शीत परिणति को त्यागकर उष्ण-परिणति में आया है। स्वतंत्रता भी देखिये पूरे तोर से और निमित्तनैमित्तिक सम्बंध का भी निर्णय कीजिए अच्छे ढंग से, इन दोनों का विरोध नहीं है कि निमित्तनैमित्तिक सम्बंध ज्ञात हो तो स्वतंत्रता नष्ट हो जायगी। और ऐसा भी नहीं है अगर हम स्वतंत्रता मान ले पदाश्र में तो निमित्तनैमित्तिक सम्बंध नष्ट हो जायगा। और थोड़ी देर को यह समझ लीजिए कि एक बार निर्णय में आ गया निमित्तनैमित्तिक भाव, पर उसे हमें हृदय में बारबार अटकाना तो नहीं है। हमारा काम, हमारा मार्ग तो हमारे उपादान में, हमारे आत्मा में, स्वतंत्रता के

अवलोकन में, केवल एक चैतन्यस्वरूप के दर्शन में है। आत्महित की बात तो अपने आपके एकत्व में है, द्वैतभाव में नहीं है, अद्वैतभाव में है। अपने आपको अपने आपमें एक अभेदरूप से ग्रहण करिये।

पर में आत्मा का अलाभ— मैं एक अकिञ्चन हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है। यदि कुछ हो अपनातो बतावो। अपने आत्मा को शान्ति देने लायक कोई भी परपदार्थ हो तो बतावो? आत्मा को शान्ति तो अपने आपके विशुद्ध तत्त्व रस से हो सकती है। अपने एकत्व स्वरूप को देखो— सभी जीव असहाय हैं, सभी अपने-अपने जिम्मेदार हैं। कोई किसी की जिम्मेदारी नहीं ले सकता। कितना भी प्रेम हो पिता पुत्र आदिक का जैसा, फिर भी पदार्थ अपनी ही करनी से, अपने ही भाग्य से, अपने ही परिणाम से अपने आपमें सब कुछ पाता रहता है। सभी अपने आपमें अपना परिणमन करते रहते हैं। कोई किसी का सहाय नहीं है। और लोक में कुछ सहाय भी समझते हैं तो क्या वहाँ कि जब तक किसी जीव का किसी अन्य जीव के बर्ताव के कारण कुछ सुख मिलता हो, कुछ स्वार्थ साधता हो, मन के अनुकूल बात बनती हो तो वह सेवा करने में प्रवृत्त होता है। वस्तुतः तो सभी अपने-अपने कषाय भाव में, ज्ञान भाव में परिणम रहे हैं। किसी का किसी अन्य के साथ सम्बंध नहीं है।

निर्विकल्पता के आदर की उपादेयता—हे आत्महितेच्छु, पर से निर्लेप असंग केवल निज ज्ञानानन्दमात्र अपने आपको निरखिये और बिना घबडाहट, बिना संदेह के इस आत्मस्वरूप में मग्न होइये। बीच-बीच में बहुत ख्याल आयेंगे। अभी हमारी कच्ची गृहस्थी है, बच्चे छोटे हैं, सबको हम ही तो पालते हैं। यदि में निर्विकल्प बन जाऊँगा तो क्या हाल होगा? यों दया से दया निर्विकल्प न बनना चाहिए? अरे बन न पायेंगे अभी गृहस्थावस्था में, पर उत्साह यों रखना चाहिए कि यदि निर्विकल्पता आ जाय तो फिर हमारे लिए दुःख का कोई काम न रहा दूसरे जीव का, परिवार का। फिर मेरा परिवार क्या? फिर मेरा सम्बंध क्या? यों अनन्त जीव हैं और फिर वे अपने-अपने कर्मानुसार अपना-अपना लाभ लेते ही हैं। यों जानकर धर्मपालन के समय पर से निर्लेप केवल ज्ञानानन्दरस निर्भर अपने आपके अंतस्तत्त्व का निर्णय, इसका ही यत्न हर प्रसंग में करिये, यही धर्म का पालन है। और इस ही धर्म की सिद्धि के लिए बाहर में अपने अनेक कर्तव्य निभाये जाते हैं।

श्लोक-1556

विश्वासानन्दयोः स्थानं स्याज्जगदज्ञचेतसाम्।

क्वानन्दः क्व च विश्वासः स्वस्मिन्नेवात्मवेदिनाम्॥1556॥

विश्वास कहाँ किया जाय और आनन्द कहाँ पाया जाय, ऐसी दो जिज्ञासायें और दो गवेशणायें जीवों के अन्दर रहा करती हैं। इसके उत्तर में अज्ञानीजन कहते हैं कि यह जगत, यह वैभव विषयसाधन यही तो विश्वास के योग्य है, यही तो आनन्द का साधन है। जिसका चित्त आनन्द से वासित है, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का भान नहीं है ऐसे प्राणियों को यह जगत विश्वास और आनन्द का स्थान मालूम होता है। जो लोग घर में सम्पन्न हैं, संतान से सम्पन्न हैं, लड़ाई झगड़े भी घर में नहीं हो रहे हैं और कुछ सत्य का भान भी नहीं किया है ऐसे पुरुष अब भी कहते हैं— सबको विदित है। वे मानते हैं कि यह मेरी घर गृहस्थी, यह मेरा परिवार, यह मेरा समागम, यह तो मेरा सब कुछ है, ऐसा विश्वास किए हुए हैं। और आनन्द यही तो है, अन्यत्र कहाँ है। ऐसी बुद्धि बहिरात्मा जनों की है। किन्तु जिन्होंने अपने आपके आत्मतत्त्व को जाना है, समझा है— यह मैं आत्मा अपने गुण पर्याय में तन्मय हूँ, अन्य पदार्थों से अन्यत्र जुदा हूँ। पर से विविक्त अपने आपके एकत्वरूप निजजीवसत्त्व को जिन्होंने जाना है और ऐसे ज्ञानमय आत्मतत्त्व का अनुभव करके जिन्होंने आत्मा का विलक्षण आनन्द प्राप्त किया है ऐसे तत्त्ववेदी पुरुष कह रहे हैं कि इस जगत में कहाँ तो आनन्द है और कौनसी जगह विश्वास के योग्य है। आनन्द अपने आपमें है। और यह आत्मतत्त्व विश्वास के योग्य है। ये अज्ञानी पुरुष खूब भटके, जगह-जगह विश्वास करते फिरे। सब जगह से इसे कोरा उत्तर मिलता रहा। फुटबाल की तरह से यहाँ वहाँ डोलता रहा। अनादिकाल से इस जीव का यही हाल हो रहा है, पर हाय रे व्यामोही पुरुष ! यह अज्ञान परिणाम में इतना दुःखी हुआ अब तक जगह-जगह ठोकरें खाता फिरा, पर बुद्धि में चेत न आया, ज्ञान और वैराग्य में प्रीति न जगी। जो कर्मों के सम्बर का कारण है ऐसे ज्ञानबल के निकट नहीं पहुँच सका। जैसे कोई मोही बूढ़ा अपने घर के नानी पोतों से ठुकता पिटता भी है और ममता भी बसाये रहता है ऐसी ही हालत इस अज्ञानी पुरुष की है कि सब प्रकार के ज्ञेय पदार्थों में गया पर सभी जगह से कोरा जवाब मिला, सभी जगह से आकुलता ही मिली, फिर भी यह अज्ञानी प्राणी उन ही विषयसाधनों में रुचि कर रहा है। जो अज्ञान बसा हुआ है वह कैसे छूटे? एक कथानक है कि एक बार शक्कर खाने वाली चींटी नमक के बोरों में रहने वाली चींटी के पास गई। पूछा— बहिन तुम यहाँ क्या खाती हो? तो उसने बताया, नमक की डली।....अरी बहिन तुम हमारे साथ चलो, वहाँ तुम्हें बहुत मीठा भोजन मिलेगा। अनेक बार कहने पर भी नमक वाली चींटी को विश्वास न हुआ, आखिर बड़ी प्रेरणा करने पर वह नमक वाली चींटी गई। सोचा कि कहीं वहाँ उपवास न करना पड़े सो एक नमक की डली भी साथ में कलेवा के लिए लेती गई। जब शक्कर चाटा तो शक्कर वाली चींटी ने पूछा— बहिन कैसा स्वाद आया? तो वह बोली कि वही स्वाद आया जो हमारे घर आता है।....अरी बहिन मुख में कुछ लिए तो नहीं है?...हाँ हाँ एक दिन का

कलेवा साथ में लायी हूँ, वह मेरे मुख में है।....अरी बहिन तू उस नक की डली को मुख से निकालकर चख, फिर देख कि मीठा स्वाद आता है कि नहीं। उसने नमक की डली निकालकर रख दी और फिर चखा तो मीठा स्वाद मिला। यही हालत है यहाँ के अज्ञानियों की, ये विषय संस्कार विष को छोड़ना नहीं चाहते, अपने उपयोग को बदलना नहीं चाहते, फिर कैसे आनन्द के धाम परमात्मतत्त्व की ओर आये? कष्ट भी सहते जाते हैं और उन ही विषयसाधनों में रमते जाते हैं।

इस जगत में कौनसा स्थान ऐसा है जो विश्वास के योग्य हो? अनेक भव पाये, ऐसे ठाठ-बाट, ऐसा वैभव अनेक बार पाया होगा, बल्कि इससे भी बढ़कर कई गुना विभूति पाया होगा, उनमें कितना ही विश्वास जमाया होगा, पक्की रजिस्ट्री भी कर ली होगी, पर सब कुछ छोड़कर जाना पड़ा। यही हाल इस भव का है। कहाँ भूल रहे हैं प्राणी? जैसे अनेक भवों में सब कुछ समागम छोड़कर जाना पड़ा ऐसे ही इस भव में भी ये समागम छोड़कर जाना होगा। यहाँ कोई भी चीज विश्वास के योग्य नहीं है। विश्वास के योग्य तो अपना आत्मा है जो अपने साथ सदा रहता है। उसकी खबर पड़े, उसी की दृष्टि जगे तो आत्मा को विश्वास का धाम मिल जायगा, और यही आनन्द का धाम है। आत्मा में जो आनन्दानुभूति होती है वह किन्हीं परपदार्थों से निकलकर कहाँ आ सकती है? त्रिकाल भी किसी दूसरे पदार्थ का परिणमन किसी दूसरे पदार्थ में नहीं आता। आनन्द का धाम भी यह आत्मा स्वयं है। जब यह आत्मा अपने आपको मात्र आनन्द का धाम ज्ञानस्वरूप निरखता है तो जो स्रोत बहुत देर से ढका हुआ था उसके खुलने पर सारा आनन्दरस झरने लगता है। जैसे स्रोत जब किसी चीज से ढका हुआ है तब तक जल का प्रवाह नहीं होता, पर स्रोत का ढक्कन हटा कि जलप्रवाह निकल पड़ता है। इसी प्रकार अपना जो सहज आनन्द का धाम है जब तक वह ढका रहता है तब तक उससे आनन्दरस नहीं उमड़ता, पर उसका ढकाव हटा कि आनन्द स्रोत झरने लगता है और आत्मीय आनन्दरस प्रवाह बड़े वेग से बहने लगता है। अन्यत्र कहीं विश्वास न करें। कहीं अन्यत्र आनन्द मानना तो आकुलता का ही कारण है। अपने आपको ज्ञानानन्दमात्र अनुभव करना, यही तो स्वानुभव है, यही तो समस्त दुःखों से छुटाने का सच्चा उपाय है। जिस काल में ऐसे विशुद्ध आत्मा का अनुभव जगे उस काल में तो क्लेश है ही नहीं। उपयोग में क्लेश हो तो क्लेश है। हाँ इस उपयोग को छोड़कर बाहर में उपयोग देने लगे तो उसे क्लेश होने लगेगा। विश्वास और आनन्द का स्थान तो निज आत्मा ही है।

श्लोक-1557

स्वबोधादधिकं किञ्चिन्न स्वान्ते विभूयात्क्षणम्।

कुर्यात्कार्यवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामनादृतः॥1557॥

आत्महित का इच्छुक तत्त्वज्ञानी पुरुष आत्मबोध के सिवाय अन्यत्र अपना मन क्षणभर को भी नहीं रखता। एक आत्मा में ही मेरा उपयोग रहे ऐसी इच्छा तत्त्वज्ञानी की रहती है। यह काम बहुत उत्कृष्ट है। साधुजन इस कार्य को कुछ-कुछ अथवा यथावत् कर सकते हैं। गृहस्थ को कभी-कभी इसकी झलक जगती है। गृहस्थ भी जो अपने आपको ऐसा रिटायर बना लेता है, जिसमें सत्संगति, ज्ञानाभ्यास, तत्त्वचर्चा, वीतरागता की रुचि—जिनकी संगति में रहकर यथासम्भव आत्मबोध बहुत-बहुत बार बना सके। आत्मोपयोग कर सके ऐसी स्थिति पा लेता है। आत्मबोध के सिवाय अन्य कोई काम जीव के हित का नहीं है। आत्महिताभिलाषी को आत्मज्ञान से परे अन्यत्र कोई काम मन में न रखना चाहिए। जिसका उपयोग विकाररहित, कुसंगरहित केवल विज्ञानघन आनन्दस्वरूपी अपने आपमें विराजमान होता हो उस उपयोग में किसी भी प्रकार का क्लेश आना असम्भव बात है। जहाँ शान्ति के लिए, सुख के लिए अनेक उपाय रचते हैं वहाँ एक यह भी उपाय करके देखिये। जिस कुटुम्ब के बीच आप रह रहे हैं वे सब यों ही फाल्तू हैं क्या? अरे वे अपने स्वरूप में स्वरक्षित हैं और उनके अनेक प्रकार के कर्मों का भार लदा हुआ है। अपने पुण्य पाप के अनुसार वे अपनी स्थिति पायेंगे। कोई सोचे कि इस सारे घर में एक मैं ही हूँ जो कमाता हूँ और इस घरभर को खिलाता हूँ तो उसका यह सोचना गलत है। अरे कमाने वाले! आपसे बढ़कर पुण्य का उदय उनका है जिनको कमाने की भी चिन्ता नहीं करनी पड़ रही है और बैठे-बैठे आनन्द पाते हैं, विषयसाधन भोगते हैं। क्या अहंकार करना? घर में जितने भी जीव हैं उनकी आप फिकर छोड़ दो, उनका अधिक भार आप अपने ऊपर न समझिये। आखिर उनमें से किसी के पाप का उदय आये और आप उसे सुभीता देना चाहें तो बन न सकेगा यह काम। उनमें किसी के प्रबल पुण्य का उदय हो और आपको अपने ही घर वालों से ईर्ष्या हो जाय। भाई बंधु से, और उनका बिगाड़करने की चेष्टा करेंगे वैसे ही वैसे वे वैभव समृद्धि प्राप्त करने लगेंगे। छोड़िये उन सबको उनके भवितव्य पर, उनके भाग्य पर। आप पर किसी का बोझ नहीं है। आज चाहे कोई समझता हो कि हमारी स्थिति कमजोर है, कच्ची गृहस्थी है, छोड़ नहीं सकते, सबकी रक्षा करनी पड़ रही है, कोई भी परिस्थिति आप महसूस करते हों लेकिन वहाँ तो पूर्ण परिस्थिति है, पूरे डटे हुए हैं। जैसे आप अपने में भरपूर हैं वैसे ही वे सब भी अपने में भरपूर हैं। यह बात इसलिए बतायी जा रही है कि अपने आपके दिल पर कल्पनाओं का, चिंताओं का, शोक का बोझ न डालें। कदाचित् कुछ वैभव की हानि हो रही हो, कोई कठिनाई आ रही हो तो सोच लीजिए कि घर वालों का भाग्य अभी अनुकूल नहीं है क्योंकि यह भाग का बंटवारा तो सभी को है ना, कौन क्या करे? कभी वृद्धि हो जाय वैभव में तो सोचिये कि इसमें हम खुशी क्या मानें? इस घर वालों का ऐसा पुण्य का उदय है जो वैभव बढ़ रहा है, उसमें आनन्दमग्न मत होइये। ये सब लौकिक बात हैं, ये सब विपत्ति और विडम्बना की बातें हैं, ये मेरे हित में नहीं हैं। मेरा

हित तो आत्मबोध से ही है। आत्मबोध के सिवाय और कोई भी कार्य अपने मन में न धारण करें और कभी कर्मोदयवश तीव्र उदय की प्रेरणा पर समझिये ऐसी विकट परिस्थिति में कुछ काय करना भी पड़रहा हो तो कार्य बस वचन और काय से कर लीजिए पर अनाद्रित होकर न कीजिए। उसमें यह विश्वास न रखिये कि ये सब कार्य मेरा भला करने वाले हैं। इनसे ही मेरा जीवन है, अस्तित्व है। एक आत्मबोध ही वास्तविक शरणभूत है। इसके लिए ही भगवंत जिनेन्द्रदेव की पूजा की जाती है, किस प्रयोजन से कि अरहंतदेव के द्रव्य गुण पर्याय को जानकर हम अपने आपमें एक विशदता आती है। उस विशदता को प्राप्त कर प्रभु के स्वरूप से मिलाकर ऐसा अभेद बनने का यत्न कीजिए कि वहाँ केवल वह चिद्विलास ही उपयोग में रहे। गुरुवों की संगति कीजिए तो ज्ञान के प्रयोजन से। और भाव न रखिये। हमारा वैभव बढ़ जायगा, पुण्य बढ़ जायगा गुरुजनों की संगति सेवा से, यह भाव न रखिये। क्या करना है विभूति बढ़ाकर? इसे जोड़कर जाना होगा, यह भिन्न चीज है आकुलतावों का हेतु है—ऐसा भाव रखिये, और भाव न रखिये। एक आत्मबोध कि लिए ही गुरु सेवा कीजिए। ऐसी बात तो ज्ञानी जीवों में होती है। गुरुजनों के प्रति उपासकों की यह श्रद्धा होती है कि ये आत्मज्ञानी हैं आत्मध्यान में ही रत रहा करते हैं। धन्य है इनके उपयोग को। ऐसी मन की प्रशंसा में गुण, स्मरण में उपयोग जाता है तो उससे आत्मबोध ही होता है। गुरुवों की सेवा का लक्ष्य भी आत्मबोध का होना चाहिए।

स्वाध्याय में भी स्व का अध्ययन करें, जो भी विषय पढ़ें उससे मेरा क्या सम्बंध है, उससे हमें क्या शिक्षा लेना है ऐसा विवेक जरूर करना चाहिए। कुछ भी पढ़ रहे हों—कल्पना करो कि आप यह पढ़ रहे है कि यह जम्बूद्वीप है, यह मेरु पर्वत है, ऐसे-ऐसे असंख्यात द्वीप समुद्र हैं, यह एक राजू भी नहीं पूरा हुआ। ऐसा भी कथन पढ़ रहे हो तो यह उससे शिक्षा लीजिए कि ऐसी विशाल जगह में कोई प्रवेश नहीं बचा जहाँमें अनन्त बार जन्मा मरा न होऊँ। ऐसे अनन्त जन्मों में जब मैं तृप्त न हो सका, अज्ञानी भूखा रीता दीन ही रहा तो इस रफ्तार में हम क्या हित पा लेंगे? आप मानो स्वाध्याय में कुछ अतीत का इतिहास पढ़ रहे हों, पहिले चौथा काल था, चौबीस तीर्थकर हुए। उससे पहिले तीसरा काल था, मनु आदिक हुए, वहाँ वैसी-वैसी व्यवस्था हुई, यह पढ़ रहे हों तो उससे यह शिक्षा निकालें कि ऐसा-ऐसा समय गुजारा, ऐसे-ऐसे लोग हुए वे भी न रहे। हमने भी ऐसा-ऐसा समय देखा, पर यहाँ हम भी न रह सकेंगे। जब वे पर्यायें न रही तो इस पर्याय का भी हम क्या विश्वास करें और इसकी साधना में क्या जागरूक रहना?

स्वाध्याय कर रहे हों तो उन सब वचनों को आत्मबोध पर ले जाइये। आपके स्वाध्याय में यदि यह आ रहा हो कि ऐसे-ऐसे जीव हैं, ऐसी-ऐसी पर्याय वाले हैं। पञ्चेन्द्रिय में सबसे बड़ा यह मगरमच्छ है जो स्वयंभूरमण समुद्र में हजार योजन का लम्बा, 500 योजन का चौड़ा और 250 योजन का मोटा है। इसको सुनकर ऐसा लगता होगा कि यह तो कोरी बात है। लेकिन इसमें भी आत्महित की शिक्षा लीजिए। जिस

आत्मतत्त्व के बोध बिना इस जीव ने ऐसे-ऐसे शरीरों को धारण किया उस आत्मतत्त्व का श्रद्धान ही वास्तव में शरण है। बाहर में अन्य कुछ शरण नहीं है। स्वाध्याय में आ कुछ भी पढ़ रहे हों, सभी विषयों से आप आत्मबोध का नाता लगा सकते हैं।

संयम में तो अधिक नम्रता आती है, अपने आपकी ओर झुकाव होता है, क्योंकि उपयोग बहुत कुछ बाहर से हटा रखा है ना, संयत कर रखा है ना। तो आत्मबोध की तो प्रेरणा ही मिलती है। यही बात तपश्चरण में है। इच्छाओं का निरोध किया तो यह जीव अपने आपके आत्मतत्त्व की ओर बढ़ेगा ही। दान में भी आत्मबोध की बात लगायें। यह वस्तु मेरी क्या है? कुछ भी नहीं। मैं तो इन रूप आदिक से विलक्षण हूँ, ये बाह्यतत्त्व हैं, पुद्गल हैं, समीप आये हैं, इनमें विकल्प रखकर मैं अपना अनर्थ कर रहा हूँ। इसको त्याग दें। त्यागना तो है ही, क्योंकि हमें अपनी रक्षा चाहिए। ये विकल्पों के उत्पादक हैं। अतएव इन वैभवों को छोड़ना ही पड़ेगा, छोड़े बिना गुजारा नहीं। छोड़ें तो ऐसी जगह छोड़ें कि जहाँ कुछ धर्म का सम्बंध तो बने प्रचार तो हो, प्रभावना तो बने, और प्रभावना करने वाले इस धर्म का पोषण तो हो। बस यही आधार दान का है। जो कुछ भी हम कर्तव्य करें उन सबसे एक इस आत्मबोध की शिक्षा लें। आत्मबोध के सिवाय अन्य कुछ करतूत तत्त्वज्ञानी पुरुष अपने मन में क्षण भर को भी नहीं धारण करता। इसके विरुद्ध बनकर आप भी सोच लीजिए, आत्मबोध नहीं करते, हम तो घर में ही चित्त लगायेंगे, । वैभव के बढ़ाने में ही चित्त लगायेंगे तो देख लो एक तो यह चित्त स्थिर नहीं रहता। विश्रान्त, अनाकुल नहीं रहता, और कभी-कभी तो इस परवस्तु के प्रसंग में इसके बड़ा झंझट बढ़ जाता है कि यह खुद फिर उससे सुलझ नहीं सकता। तत्त्वज्ञानी पुरुष आत्मबोध के सिवाय अन्य काय को चित्त में क्षण भर भी नहीं धारण करता और प्रयोजनवश किसी अन्य कार्य में लगना पड़ता है तो वचन और काय से लगता है, मन से नहीं लगता। भीतर में उन बाह्य कर्तव्यों के प्रति आदर नहीं है कि ये सब मेरे स्वरूप हैं, मेरा हित है, इससे मेरा भला है। ऐसी विरक्त बुद्धिपूर्वक तत्त्वज्ञानी पुरुष अपना जीवन व्यतीत करते हैं, इसमें ही सार है, हित है। हम भी उनके ही कदमों के अनुसार कदम रखकर चलें तो हम भी अपने आपकी रक्षा कर सकते हैं।

श्लोक-1558

यदक्षविषयं रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणम्।

आनन्दनिर्भरं रूपमन्तज्योतिर्मयं मम॥1558॥

जो कुछ इन्द्रिय का विषयभूत रूप है, मूर्तिक पदार्थ हैं वे सब मेरे स्वरूप से विलक्षण हैं। स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा स्पर्श विषय में आता है। सरना इन्द्रिय के द्वारा रस विषय में आता है। देखिये केली विलक्षणता है, प्राकृतिकता है कि जैसे कोई फल चखा, आम चखा, तो आम में स्पर्श भी है, रस आदिक भी है और वे सब आपमें हैं, एक तन्मय से हैं अर्थात् जिस जगह रूप है उसी जगह रस है, मगर रसना इन्द्रिय रस को ग्रहण करती है, रूप, रस, गंध, स्पर्श ये चार चीजें अलग-अलग नहीं हैं कि आम किसी हिस्से में हो, रूप, रस आदि किसी हिस्से में हों। एक ही जगह चारों हैं, पर कैसा जुदा-जुदा निमित्त है कि रसना इन्द्रिय से रस जाना जाता है, चक्षु इन्द्रिय से रूप जाना जाता है, घ्राण इन्द्रिय से गंध जाना जाता है। स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श समझा जाता है। चारों गुण एक ही जगह हैं, सर्वत्र प्रदेशों में हैं, पर भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न विषय जाने जाते हैं। शब्दों को इतना इसलिए नहीं कहा कि जो कुछ होता है उसकी परिणति कोई न कोई प्रतिसमय रहती है, पर शब्दों में ऐसा नहीं पाया जाता कि शब्द बराबर प्रति समय रहे। जैसे रूप प्रतिसमय रहता है पदार्थ में, पुद्गल में इस प्रकार शब्द नहीं रहता। शब्द की उत्पत्ति तो पदार्थ के संघट्टन, संयोग, वियोग आदि ऐसी परिस्थितियों के समय होती है। इसलिए शब्द पर्याय है और वह द्रव्य पर्याय है, किसी गुण की परिणति नहीं है। तो यह सब जो इन्द्रियों के द्वारा विषय में आता है यह मेरे स्वरूप से विलक्षण है। मेरा स्वरूप तो अनादि से निर्भर अन्तः प्रकाशमय है। आत्मा में ज्ञान और आनन्द गुण है। ज्ञान आनन्द निकलकर फिर और कुछ आत्मा में देखो तो आत्मा कुछ वस्तु ही न रहेगा। और मात्र ज्ञानरूप से, आनन्दरूप से आत्मा को निरखने लगे तो आत्मा का अस्तित्व मालूम पड़ेगा। जब तक ज्ञानभाव पर दृष्टि नहीं होती तब तक न आत्मा का परिचय है और न आत्मा की अनुभूति होती है। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, ज्ञान मेरा स्वरूप है। फिर ज्ञान बढ़ाने की कोशिश क्यों की जाती किसी पदार्थ पर दृष्टि रखकर? मुझे अमुक से ज्ञान मिलेगा यों पर से ज्ञान की भीख क्यों मांगी जा रही है? शायद यह कहो कि कुछ-कुछ प्राप्ति होती तो है ज्ञान की। जैसे कोई कथा की किताब पढ़ने बैठ जायें तो वह नया ज्ञान होता तो है। कोई गुरु कुछ समझाये तो उसके वचनों से कुछ ज्ञान होता तो है, इस कारण हम परपदार्थों से ज्ञान की भीख मांगते हैं? समाधान में एक यह निर्णय रख दीजिए कि ऐसी भीख मांगने में ऐसी जबरदस्ती करने में थोड़ा लाभ मिल भी जाय, तो भिखारियों को भी तो 10-5 पैसे मिल ही जाते हैं। मिल भी जाय ज्ञान तो बस जो मिला उतने तक ही है। लेकिन परपदार्थों पर दृष्टि न रखें, पर से ज्ञान की भीख न मांगें। और मुझे बाहर का ज्ञान चाहिए ही नहीं। क्या करना है जान करके? ऐसा निर्णय रखकर अपने आपके केन्द्र में आकर स्व के ज्ञान का ही ज्ञान करें तो उस ज्ञानानुभूति के प्रताप से ज्ञानानवरणकर्म का विशिष्ट क्षयोपशम होता है कि एक साथ ऐसा ज्ञान प्रकट होता कि लोक के समस्त पदार्थ उसके ज्ञान में आ जाते हैं। आनन्द की भी यही बात है। लोग मोहवश परपदार्थों से आनन्द की प्राप्ति मानकर चेतन और अचेतन परपदार्थों से आनन्द की भीख मांगता है। कदाचित् थोड़ा

बहुत विकार रूप में आनन्द का कुछ लाभ भी हो जाय, तो वह लाभ वही तक रहेगा, उससे कुछ तृप्ति न होगी, अतृप्ति चलेगी, और जब बाह्य पदार्थों से आनन्द की धुन न रखे, मुझे न चाहिए मौज, क्या करना है, वह पराधीन है, नष्ट हो जायगा। यह मैं सुख की चाह क्यों करूँ? क्या रखा है सांसारिक सुखों में? मुझे ये सांसारिक सुख न चाहिए—ऐसा निर्णय बनाकर फिर आनन्दधाम निज जीवास्तिकाय का ही आलम्बन लें तो इसअभेद अखण्ड अद्वैत निज अंतस्तत्त्व के आनन्द से ऐसा आनन्द उमड़कर प्रकट होता है जो निर्दोष है, शाश्वत रहने वाला है, स्वाधीन है। यह आत्मा तो ज्ञान और आनन्द से भरपूर है। कुछ चिंता शोक आदि में हो तो अपने को अनुभव करता है और इस ज्ञान और आनन्द की वजह से सम्हल जाता है। ज्ञानी पुरुषअपने ज्ञानानन्द स्वरूप कोनिरखकर अन्तर डाल रहा है कि ये बाह्य के जितने मूर्तिक पदार्थ हैं ये मेरे स्वरूप से अत्यन्त विलक्षण हैं। मैं तो आनन्द निर्भर अन्तः चैतन्य ज्योतिस्वरूप हूँ, और ये मेरे से अत्यन्त भिन्न जड़ हैं, जीर्ण शीर्ण होने वाले हैं। उन पदार्थों में मेरी आकर्षण बुद्धि क्यों हो? ज्ञानी जीव अपने स्वरूप की भक्ति में चिंतन कर रहा है।

श्लोक-1559

अन्तःदुःखं बहिः सौख्यं योगाभ्यासोद्यतात्मनाम्।
सुप्रतिष्ठितयोगानां विपर्यस्तमिदं पुनः॥1559॥

संसार का कोई भी समागम मेरे लिए शरणभूत सारभूत नहीं है, सोच लीजिए खूब। जो-जो समागम मिले उन सब समागमों में आपने पाया क्या, और उन समागमों से आपके हाथ आज रखा है क्या? ज्यों के त्यों एकाकी अकेले परपदार्थों से न्यारे बने ही हुए हैं तो परपदार्थों से आत्मा को कोई सारभूत बात कोई शरण की बात नहीं मिलती। एक अपने आपके ज्ञान में अपने ज्ञानस्वभाव का स्वरूप समाया हो तो इसके प्रताप से विकल्पजाल हटेंगे और निर्विकल्प परम चैतन्यधाम में विश्राम होगा। सुख, शरण, सार यही है। यही है योग का अभ्यास। अपने आपके उपयोग को अपने आपके स्वरूप में लगाना यही एक शरणभूत है। याने अपना क्या स्वरूप है? वह स्वरूप अपने ज्ञान में बना रहे यह स्थिति है शरण की। यही स्थिति है सारभूत। तब यह जानकर कल्याणार्थी पुरुष योगाभ्यास में सुख समझता है। लेकिन जब योगाभ्यास करने बैठता है तो एक अन्तरङ्ग में क्यों कष्ट सा जँचता है? क्योंकि बहुत कठिन बात है ना कि अपना ज्ञान अपने आपके आत्मा में समा जाय। ऐसा करने के लिए अन्त में बड़ा कठिन प्रतीत होता है। तो आचार्यदेव कह रहे हैं कि जो योग के अभ्यास में उद्यमी हो रहे हैं ऐसे पुरुषों को भीतर में तो दुःख का अनुभव है और बाहर में सुख मालूम

कर रहे हैं। समाधि में योग में सुख जानकर इसके लिए बड़ा उद्यम करते हैं किन्तु कुछ उद्यम करने के बाद या करते हुए बहुत कठिन पड़ रहा है कि यह ज्ञान अपने इस ज्ञान के स्वरूप में आ जाय। तो फिर इस बात में कष्ट होता है। नहीं बनता है काम, फिसल जाता है और श्रद्धा है ऐसी कि यह आत्ममग्नता हो ही जाना चाहिए। होती नहीं है तो अन्तरङ्ग में बड़ा कष्ट अनुभव करता है। तो यों योग के अभ्यास में जिनका मन उद्यमी है उनको अन्तरङ्ग में तो दुःख होता है और बाहर में सुख है तो योग के अभ्यास में वे सुख समझते हैं और जिनको इस योग का अभ्यास हो गया है ऐसे योगी पुरुषों को अन्तरङ्ग में तो सुख मालूम होता है और बाहरी स्थिति में दुःख मालूम होता है। यह बात अपने आत्मा की चल रही है। आत्मा सब हैं। अपने आत्मा की अपने आपकी बात समझ में न आये, यह क्यों कठिन लग रही है? समझ में तो आना चाहिए। कठिन यों लग रही है कि विषयों में इसकी बुद्धि अटकी है। बाहर में रागभाव जमा हुआ है तो चित्त तो उस ओर है, लगे कहाँ से अपने आत्मा में? तो आत्मा की बात बड़ी कठिन मालूम होती है लेकिन आत्मा की बात तो स्वाधीन है, स्व की है। वह तो सरल लगना चाहिए और बाहर की बात जैसे वैभव जोड़ना, मकान बनाना, और-और भी व्यवस्थाएँ बनाना ये पर की परिणतियाँ हैं। पर की परिणति मेरे आधीन नहीं हैं तो कठिन तो लगना चाहिए बाहर का काम, और अपने आपका काम तो अतीव सरल होना चाहिए। जब चाहे अपने आपके ज्ञान में डुबकी लगा लें, लो सारे दुःख समाप्त हो गए। जैसे नदी में कोई कछुवा अपनी चोंच बाहर निकाले तैर रहा है तो चारों ओरसे पक्षी उड़कर उस कछुवा की चोंच को पकड़ना चाहते हैं तो वह कछुवा यहाँ वहाँ अपनी चोंच करके दुःख से बचना चाहता है। अरे भाई कोई उस कछुवे को समझा दे कि तू उन पक्षियों के उस आक्रमण के भय से चोंच को यहाँ वहाँ करके क्यों कष्ट पा रहा है? तेरे में तो एक कला है जिस कला के बल से तू दुःखों से छूट जायगा। याद कर। वह कला है तेरी यह कि जो चार छः अंगुल पानी के नीचे चला जा, फिर तो क्या करेंगे वे पक्षी, वे तो सब भाग जायेंगे। ऐसे ही हे आत्मन् ! तू अपने ज्ञान समुद्र से बाहर अपने उपयोग को दौड़ाये चला जा रहा है, सो इस उपयोग चोंच पर अनेक शत्रु, मित्र, बन्धु, राजा, चोर सभी के सभी तेरे ऊपर आक्रमण कर रहे हैं? और तू उन सब बातों से घबड़ाकर अपना उपयोग बदलना चाहता है बाहरी बातों में। कितने कष्ट सह रहा है और उस आत्मा को कोई गुरु समझा देता है कि हे आत्मन् ! तू क्यों बाहर ही बाहर उपयोग को डुलाकर कष्ट सह रहा है? तेरे में तो एक ऐसी कला है कि जिस कला के बल से तू संसार के सारे दुःखों से मुक्ति पा सकता है? वह तेरी कला है यह कि रे ज्ञान, तू अब अपने ज्ञान को स्वरूप को, स्वभाव को ज्ञान और अन्य बातों को छोड़ दे। तो देख जब यह ज्ञान ज्ञान का ज्ञान करेगा तो ज्ञानानुभूति प्रकट होगी। और ज्ञानानुभूति का ही अर्थ है आत्मानुभूति। तू अपने आपके ज्ञानसमुद्र में डुबकी तो लगा। इस ज्ञानसमुद्र के भीतर तो आ। ये तेरे ऊपर आये हुए सारे आक्रमण विफल हो जायेंगे और तू अपने आपमें वैभव को पा सकेगा। यह है अध्यात्मयोग की बात। जो इस आत्मध्यान के

उद्यमी हैं उन्हें तत्काल तो बड़ा सुख होता है। हम ध्यान करने जा रहे हैं। जैसे कोड़ यात्रा का विचार करे। यात्रा में जायगा तो पहिले बड़ा सुखी होता है पर जब प्रेक्टिकल चलता है तो अनेक कष्ट आ पड़ते हैं। यों ही समझिये कि आत्मानुभव की, आत्मध्यान की, आत्मयोग की बात मन में आती है कि आत्मयोग करेंगे, अपने आपकी सम्हाल करेंगे, आत्मधर्म का पालन करेंगे तो तत्काल तो बड़ा सुख मालूम होता है, पर जब करते हैं ज्ञान को सब ओर से संकोचकर समस्त बाह्यपदार्थों से हटाकर जब अपने आपके भीतर में अपने ज्ञान को जमाना चाहते हैं तो जमता नहीं है, बड़ा कष्ट होता है। इच्छा यह है कि एक बार एक साथ मग्न हो जायें पर वहाँ फिट नहीं बैठ रहा, कष्ट प्रतीत होता है, लेकिन जिसका मन अपने अध्यात्म में आ चुका, अपने ज्ञान में आ चुका, ज्ञानानुभव हो गया, आत्मानुभव का दृढ़ अभ्यास हो गया उनको तो सुखदायी मालूम होता है और कदाचित् कोई हाथ झंकोरकर कहे कि चलो रोटी खा लो तो यह भी बात बड़ी खराब लगती है। बाहर में तो सुख प्रतीत होता है उस ध्यानाभ्यासी को, जिसने अपना स्वरूप अपने आपमें दृढ़ता से बसाया है और उसे अन्तरङ्ग में सुख प्रतीत होता है। कुछ लोग सोचते होंगे कि साधुजन गर्मी के दिनों में पर्वत पर, जाड़े के दिनों में नदी के तट पर कैसे ध्यान जमाते होंगे और पैसा पास नहीं, नौकर पास नहीं, कोई राशन पास नहीं, बर्तन भी नहीं, क्षुधा तृषा आदि लगते ही हैं, ये कैसे जंगल में रहते होंगे? तो भाई उन्हें एक आत्मीय आनन्द का ऐसा उत्कृष्ट लाभ हुआ है जिस लाभ में वे ऐसा तृप्त हैं कि बाहर में कोई कष्ट भी आये तो उन्हें कष्ट नहीं मालूम होता। तो यह है कमाई ऐसी जिसकी प्राप्ति होने पर फिर संसार का कष्ट ही नहीं रहता। यह बात साधुजन निष्परीग्रही होने के कारण बहुत जल्दी कर लेते हैं। पर गृहस्थजन चूंकि उनको अनेक काम पड़े हुए हैं। व्यापार, पालन-पोषण तथा समाज आदि के, अतएव वे इस आत्मसाधना में विशेष सफल नहीं हो पाते। कदाचित् कभी-कभी झलक होती है, लेकिन यह थोड़ी सी भी झलक इस जीवन में बहुत बड़ा काम देती है। गृहस्थावस्था में करना क्या है? लक्ष्य तो वही बनाना है जो साधुओं का है पर विषय कषायों के अनेक प्रसंग लगे हैं जिससे देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, तप, दान, संयम आदिक सभी बातें गृहस्थों को बतायी गई हैं। ये कार्य इसलिए बताये गए कि वे विषय कषायों से दूर रहकर आत्मानुभव करने के पात्र बन सकें। जब आत्मा का अनुभव अपने आपमें समा जाता है तो उस पुरुष को बाहर में कुछ भी नहीं सुहाता, मोहीजन उस पर आश्चर्य करते हैं कि क्या हो गया इसके? इसे न कोई काम सुहाये, न स्त्री बच्चे सुहायें, न धन वैभव सुहाये। जैसे कृपण लोग दानीयों की चर्या पर अचरज करते हैं, कैसे ये दिए जा रहे हैं इतना वैभव, इनका कुछ दिमाग तो नहीं उल्टा हो गया, ऐसे ही मोहीजन भी उस आत्मनुभवी पुरुष पर अचरज करते हैं। अज्ञानी मोही पुरुषों को निर्मोही पुरुषों के चरित्र सुनकर आश्चर्य होता है। कैसे छोड़ दिया सब घर-बार? कैसे अकेले जंगल में रहा करते थे? पर निर्मोही पुरुष जानता है कि जिन्होंने आत्मीय

आनन्द प्राप्त किया उसमें वह विभोर रहकर सारे संकटों को भुला दिया करता है। तो जो योगाभ्यास में निपुण हो गए उनके लिए अन्तरङ्ग में तो सुख मालूम होता और बाहर में क्लेश मालूम होता है।

श्लोक-1560

तद्विज्ञेयं तदाख्येयं तच्छ्रव्यं चिन्त्यमेव वा।

येन भ्रान्तिमपास्योच्चैः स्यादात्मन्यात्मनः स्थितिः॥1560॥

हर परिस्थितियों में उस ही आत्मतत्त्व की बात सुनिये, उसका ही चिन्तन करिये जिससे भ्रम दूर हो आत्मा की आत्मा में स्थिति हो। देखिये यह सम्बोधन यह उपदेश यद्यपि साधुजनों के लिए दिया गया है पर जो बात साधुओं के लिए भली है वह बात हमें भी तो करनी है। हम इस बात को क्यों चाव से न सुनें? क्या बताया जा रहा है साधु पुरुषों को? वही तो हमें भी करना है। यह दृष्टि में रहे तो भिन्न पद में रहकर भी अनुकूल रह सकते हैं और प्रकाश पाने के कारण घबडाहट से दूर रह सकते हैं। जिस किसी भी प्रकार बाह्यपदार्थों के विकल्प छुटाकर जिस किसी भी समय केवल ज्ञानघन, ज्ञानानन्द का पुञ्ज केवल एक निज अंतस्तत्त्व आत्मानुभव में आ जाय तो समझ लीजिए कि सारा भ्रम दूर हो गया। क्या है यह बाहर में पड़ा हुआ पौद्गलिक ठाठ? यह मेरे स्वरूप से बिल्कुल भिन्न है। इस पौद्गलिक ठाठ को प्रीति में कुछ मिलना तो दूर रहा, हम अपना कुछ खो ही देते हैं। बहुत-बहुत बार इन विषय भोगों की चर्चा सुनी, अनादि से लेकर अब तक इन विषय भोगों की ही बात स्मरण में रही, उनका ही परिचय रहा, लेकिन अपने आपके आत्मा में निरन्तर विराजमान जो कि द्रव्य दृष्टि के आलम्बन से निरखा जाता ऐसा चैतन्यमात्रस्वरूप वही एक श्रवण करने योग्य है, वही पालने योग्य है और उसका ही चिन्तन होना चाहिए। यद्यपि गृहस्थावस्था में ऐसा लगता होगा कि ऊँची बात की चर्चा की जा रही है। हमें तो छोटी बात चाहिए, पर भाई बड़ी बात के सुनने चिन्तन मनन करने से छोटी बात तो आ ही जायगी। इस बड़े तत्त्व की दृष्टि रखने पर हम अपने कुछ थोड़े बहुत सही कर्तव्य में, सही आचरण में, सही चारित्र में रह तो सकते हैं और फिर लक्ष्य के योग्य तो तत्त्व वही एक है। आचरण जरूर किसी के बड़ा होता है तो हम अपने अणु व्रत में श्रावक के योग्य आचरण में चलते रहें और लक्ष्य में वही एक बात रखें कि शुद्ध चैतन्यमात्र जब मैं केवल एक अकेला रह जाऊँगा, पर के सम्बंध से रहित रहूँगा तो यही परमात्म अवस्था होगी और सदा के लिए यह आत्मा समस्त संसार के संकटों से छूट जायगा—ऐसा जानकर हमारा उद्यम कुछ अपने आपके भीतर निरखने का होना चाहिए। दोष दिखें उन्हें दूर करें। गुण नजर आयें तो उन्हें और बढ़ाने की कोशिश करें।

श्लोक-1561

विषयेषु न यत्किञ्चित्स्याद्धितं यच्छरीरिणाम्।

तथाप्येऽवेव कुर्वन्ति प्रीतिमज्ञा न योगिनः॥1561॥

इन्द्रिय के 5 विषय हैं—स्पर्शन इन्द्रिय का स्पर्श, रसना इन्द्रिय का रस, घ्राण इन्द्रिय का गंध, चक्षु इन्द्रिय का रूप और कर्ण इन्द्रिय का शब्द। जैसे कि कभी ठंडा स्पर्श सुहाता है, कभी गर्म और कभी कोमल, ऐसे नाना तरह के स्पर्श सुहाये, वह तो इन्द्रिय के विषय की बात है। रसना इन्द्रिय में किसी को खट्टा सुहाता, कभी मीठा सुहाता है, कभी कड़वा भी सुहाता। करेला कड़वा होता है पर उसका साग बनता है, मेथी कड़वी होती है उसका भी साग बनाते हैं। तो कड़वा भी सुहाता, कभी कषैला भी। चीज-चीज की बात है। तो रस सुहाना यह रसना इन्द्रिय की बात है। कभी गंध सुहाता, तो गंध नाना तरह के हैं। कभी किसी प्रकार की गंध, कभी किसी प्रकार की , ऐसी नाना तरह की गंध है, नाना तरह के इत्र हैं वे सुहाते हैं। तो घ्राण इन्द्रिय के विषय की बात है। रूप सुहाते। कभी कैसा ही रूप सुहाता, कभी कैसाही। शब्द भी नाना हैं। कोई राग भरे शब्द, कोई मोह भरे शब्द। तो ये शब्द सुहाते हैं। यह कर्णेन्द्रिय की बात है। तो ये 5 इन्द्रियों के जो 5 विषय हैं उनमें कोई भी विषय ऐसा नहीं जो इन प्राणियों को हितरूप हो। किसी से आत्मा का हित नहीं है। बहुत-बहुत विषयों के साधन जुटे हों, खूब खाने-पीने की मौज हों, हर तरह के आराम हों, उसमें भी जीवों को हित नहीं है, क्योंकि सभी समागम क्षणभंगुर हैं, भिन्न हैं, नष्ट होने वाले हैं, उनसे आत्मा की भलाई नहीं है, लेकिन जो ज्ञानीपुरुष हैं, मोहीजन हैं वे उनमें ही प्रीति करते हैं। रखा नहीं कुछ सार विषयों में, पर अज्ञानी जीवों को वही सार नजर आते हैं। सब प्रयत्न करके उन विषयों के साधनों के जुटाने में ही मग्न रहा करते हैं। हाँ जो योगीजन हैं, अध्यात्मरस के प्रेमी पुरुष हैं वे नहीं करते हैं विषयों में प्रीति। तात्पर्य यह है कि विषय प्रीति के लायक नहीं हैं। जो विषयों से प्रीति रखते हैं वे धोखा खाते हैं इस भव में भी और उनका अगलाभव भी बिगड़ता है। दुर्गतियों में जाना पड़ता है। वहाँ भी धोखा है। इससे विषयों में प्रीति नहीं करना है। प्रीति करें परमात्मा के स्वरूप में और परमात्मा के स्वरूप की तरह अपने आपका स्वरूप जानकर अपने आत्मा में प्रीति करें।

श्लोक-1562

अनाख्यातमिवाख्यातमपि न प्रतिपद्यते।

आत्मानं जडधीस्तेन बन्ध्यस्तत्र ममोद्यमः॥1562॥

ज्ञानी पुरुष चिरकाल तक अपने आत्मा के ध्यान में ही मग्न रहा करते हैं। वे लोगों से वचनव्यवहार कम रखते हैं, बोलते कम हैं, अधिकतर मौन से रहा करते हैं। वही बोलते हैं जहाँ कुछ आत्मा के उद्धार की बात निभती सी हो। मूर्खों में जो अत्यन्त मूढ़पुरुष हैं, विषयों के व्यामोहीजन हैं उनमें वचनव्यवहार योगीजन नहीं करते हैं, क्योंकि अधिक मोही व्यामोही पुरुषों में बोलकर अपने आपके समय को बिगाड़ना और अपनी बुद्धि खराब करना, उसमें कुछ सार नहीं समझते। क्यों नहीं व्यामोही आसक्त पुरुषों से बोलते हैं, उसका कारण इस श्लोक में दिखाया है कि जो अधिक मोही जीव हैं, जैसे वे बिना समझाये अपने मोह में लग रहे हैं ऐसे ही उन्हें कितना ही समझावो तो भी वे अपनी उस मोह की रीति को नहीं छोड़ते। तो न समझाये की तरह समझाया जाने पर भी तो वे बात को नहीं मान सकते, इस कारण से ज्ञानीजन सोचते हैं कि उन मूढ़पुरुषों में कुछ भी समझाने करने का उद्यम करना व्यर्थ है, ऐसा समझकर वे वचन प्रवृत्ति व्यामोही पुरुषों से नहीं करते। जो पुरुष आत्महित का इच्छुक है, मंदकषाय वाला है, जिसको अपने आपकी भलाई का कुछ मन में बात जगी है, कुछ-कुछ धर्ममार्ग में लगना चाहता है ऐसे पुरुष को तो ज्ञानीजन समझाते हैं। पर जो अति व्यासक्त हैं, मूढ़ हैं उनको समझाने के लिए वे समय नहीं रखते। जिसमें उनका उपयोग निर्मल रहे उनमें ही अपना प्रयत्न रहता है। बाह्य व्यवहार इसी कारण उनका कम रहता है।

श्लोक-1563

तन्नाहं यन्मना किञ्चित्प्रज्ञापयितुमिष्यते।

योऽहं न स परग्राह्यस्तन्मुधा बोधनोद्यमः॥1563॥

ज्ञानी पुरुष और भी विचार करते हैं कि जो कुछ मैं परपदार्थों को जानना चाहता हूँ, सो ऐसा वह आत्मा नहीं हूँ और जैसा मैं हूँ वैसा दूसरे पुरुष मुझे ग्रहण नहीं कर सकते। इस कारण किसी को कुछ भी समझाने का उद्यम करना व्यर्थ है। ज्ञानीपुरुष अपने आपकी साधना में अपनी धुन बनाये रहते हैं। जो पुरुष अति अज्ञान अंधकार में डूबे हैं, मोही हैं उनको समझाने की चेष्टा ज्ञानी पुरुष नहीं करते। इसका

कारण यह है कि उस चेष्टा में न वहाँ भलाई है और न खुद की भलाई है। फिर प्रश्न हो सकता है—तो फिर अज्ञानियों का उद्धार कैसे हो? तो कोई योगी अज्ञानियों के उद्धार का ठेका लेकर नहीं उतरा है, वह तो अपने आपके परिणामों को निर्मल रखने की धुनि बनाये है। और इस धुनि के बीच यदि किसी अज्ञानी पुरुष में जो कि मंद कषाय वाला हो, उसमें उपदेश का कुछ असर पहुँच सकता है तो वह लाभ ले ही लेता है। ज्ञानीपुरुष अज्ञानियों को देखकर, खोज-खोजकर उन्हें समझाते फिरें इसके लिए उन्होंने अपना भेष यों बना नहीं लिया है। यदि वे ऐसा करते फिरें तो उनका यह भेष धारण करना व्यर्थ है। साधुजन तो अपने आत्मा की साधना के लिए ही दीक्षा धारण करते हैं, पर के उपकार के लिए रंच भी ध्यान नहीं रखते। पर कषायें उनके भी हैं, करुणाबुद्धि उनके भी है इस कारण पर का उपकार होता रहता है। पर कोई दीक्षा लेते समय ऐसी बुद्धि बनाये, ऐसा लक्ष्य रखे कि मुझे तो अज्ञानियों का उपकार करना है तो उसने दीक्षा ही नहीं ली। आत्मा की साधना करने का नाम है दीक्षा। उसी को कहते हैं साधु। तो जो ज्ञानी पुरुष हैं वे अज्ञानियों में नहीं रमते, न उनसे वचनव्यवहार करते हैं। इसके लिए हम श्लोक में बहुत महत्त्वपूर्ण कारण बता रहे हैं कि बात यह है कि जो कुछ मैं पर को जानना चाहता हूँ, पर को जानना चाहता हूँ ऐसा तो वह आत्मा मैं नहीं हूँ और जो मैं आत्मा हूँ सो पर के द्वारा ग्रहण में नहीं आ सकता। इस कारण उनको बोधने का उद्यम करना व्यर्थ है, ऐसा जानकर पर के बोधन के विकल्प से दूर रहते हैं और अपना अधिक समय आत्मा के सम्बोधनमें व्यतीत करते हैं।

श्लोक-1564

निरुद्धज्योतिरज्ञोऽन्तः स्वतोऽन्यत्रैव तुष्यति।

तुष्यत्यात्मनि विज्ञानी बहिर्विगतविभ्रमः॥1564॥

अज्ञानी तो अपने से भिन्न परवस्तुओं में ही खुश रहते हैं क्योंकि अज्ञानी का अन्तरङ्ग ज्ञानप्रकाश रुक गया है। लेकिन ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा में ही सन्तुष्ट रहते हैं, क्योंकि उनका बाह्यपदार्थों के विषयक भ्रम नष्ट हो चुका है। ज्ञानी और अज्ञानी के रमने का अन्तर बताया जा रहा है। अज्ञानी को चूँकि अपने को कुछ पता नहीं है, जो परमविश्राम का स्थान है, आनन्द का धाम है, जहाँ उपयोग जाय और रमे तो एक विशुद्ध आनन्द का ही अनुभव मिले। ऐसे निज आत्मतत्त्व का उसे परिचय नहीं है तो वह रमे कहाँ? अनादि से बाह्यवस्तुओं का परिचय बना हुआ है और इन इन्द्रियों के द्वार से उन बाह्यवस्तुओं के प्रसंग में यह सुख मानता चला आया है। इस कारण यह अज्ञानी जीव बाह्यपदार्थों में ही रमता है, वहाँ ही सन्तुष्ट होता है। सो

देख लो—आजकल के मनुष्य लोगों में यह ही प्रवृत्ति देखी जा रही है—इन वैभवों को बढ़ाना, विषयसाधन बढ़ाना, उनमें ही खुश रहना, उनमें ही सन्तुष्ट रहना। यह वृत्ति बना रखी है। किन्तु ज्ञानीपुरुष का बाह्य में कहीं मन नहीं लगता, कहीं दिल ही नहीं थमता। कहाँ रमे? सब असार हैं, भिन्न हैं, उनसे अपना कुछ सम्बंध नहीं है, बल्कि उन बाह्यपदार्थों को अपना विषय बनाकर यह जीव अपना अनर्थ कर रहा है। इसको वहाँ कोई तत्त्व नहीं नजर आता। अतएव ज्ञानी जीव बाह्यपदार्थों में नहीं रमता किन्तु वह अपना ही अन्तरङ्ग जो कारणपरमात्मस्वरूप है उस ही तत्त्व में रमता है यह ज्ञानी। और अज्ञानी तो बाह्यपदार्थों में ही खुश रहता है। अज्ञानी का परिणाम तो उसका संसार बढ़ाने वाला है और ज्ञानी का परिणाम उसका संसार छूटाने वाला है। यों अज्ञानी और ज्ञानी पुरुष में महान अन्तर है। एक कल्याण के मार्ग पर है और एक अकल्याण के मार्ग पर है।

श्लोक-1565

यावदात्मेच्छया वत्ते वाक्चित्तवपुषां ब्रजम्।

जन्म तावदमीषां तु भेदज्ञानाद्भवच्युतिः॥1565॥

यह प्राणी जब तक मन, वचन, काय के समूह को आत्मा की इच्छा से ग्रहण करता है, मन से कुछ सोचा, मान लो यह ही मैं हूँ, यह ही मेरी करतूत है, ऐसा सोचना मेरा काम है और इस चिन्तन में मेरी भलाई है, मुझे सुख होगा। उस मन की क्रिया से बाहर अलग कुछ भी अपने आपके बारे में नहीं विचार सकता अज्ञानी जीव। यह अज्ञानी जीव वचनों का व्यवहार करता है। जिस कषाय को लिए हुए बैठा है, जिसमें यह वचन निकाला है, स्व को नहीं छोड़ सकता, उसे ग्रहण किए हुए है, यह ही तो मेरा स्वरूप है, यही तो मेरी पोजीशन है, यही तो मेरा नाम है। उस कषाय को नहीं छोड़ता, और उन कषायों के कारण जो वचन बोलने में आ जाते हैं उन वचनों को नहीं छोड़ सकते। मुझे ही तो कहा, मुझे ही तो लोग कह रहे हैं, यों वचनों में भी आत्मीयता लिए हुए है। अरे मेरी बात गिर जायगी क्या? न गिरनी चाहिए। इससे ही वह अपनी बरबादी समझता है। पर बात किसी की है भी क्या? आत्मा तो वचनों से परे है, नाम किसी का है ही क्या? लेकिन नाम में मरे जा रहे हैं। नाम के पीछे अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए तैयार रहते हैं। अरे इस आत्मा को तो कुछ नाम ही नहीं है। जब तक उस निर्नाम आत्मा का स्वरूप न समझेगा तब तक कल्याण का मार्ग न मिलेगा। तू अपने आपको नामरहित देख। मैं ऐसा विशुद्ध चैतन्यमात्र हूँ जिसका कोई नाम ही नहीं है। जो में हूँ सो समस्त जीव हैं। जो प्रभु भगवंत सिद्ध हैं सो ही मैं हूँ। सो ही समस्त जीव हैं,

हाँ पर्याय में फर्क जरूर है। अरहंत सिद्ध भगवंत तो रागादिक दोषों से रहित हैं और हम लोगों के परिणमन में रागादिक चल रहे हैं, लेकिन चीज स्वरूप, स्वभाव वही है, जो अरहंत का है सो मेरा है। कहाँनाम है? प्रभु का नाम नहीं है और अपना भी नाम नहीं है। प्रभु जो महावीर है, महावीर नाम जो ज्ञात होता है वह तो प्रभु नहीं। वह तो देहपिण्ड है। जो त्रिसलानन्दन है, सिद्धार्थ का पुत्र है, इक्ष्वाकुवंश का है, 7 हाथ का शरीर है, स्वर्ण रंग का देह है, यों जो-जो उनके बारे में जाना गया वह भगवान नहीं है, और जो भगवान हैं उनके उस आत्मा में जो विशुद्ध आत्मा है, परमात्मा है, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति अनन्त आनन्दमय आत्मा है सो परमात्मा है। तो परमात्मा भी नामरहित है। जहाँ एक विशुद्ध चैतन्यपूर्ण ज्ञानविकास है वहाँ दोषों का सर्वथा अभाव हो जाता है ऐसा विशुद्ध चैतन्य वह परमात्मा है। सो जो परमात्मा है सो मैं हूँ, जो मैं हूँ सो परमात्मा है। तो परमात्मा की उपासना तब तक नहीं हो सकती जब तक अपने आत्मा के स्वरूप का परिचय न हो।

आत्मस्वरूप का भान है तो परमात्मा का भी भान है और आत्मस्वरूप का भान नहीं है और जहाँ अपना ही भान नहीं, परमात्मस्वरूप का भी भान नहीं वहाँ यह जीव यदि प्रभु की भक्ति भी करेगा तो इस रूप से करेगा कि तुम हमारा दुःख दूर कर दो, तुम हमारी नौकरी लगा दो, व्यापार बढ़ा दो, संतान उत्पन्न करा दो, इस रूप से प्रभु की भक्ति करेंगे। इस रूप में प्रभुभक्ति वह नहीं कर सकता कि भगवान के उस विशुद्ध गुण को जानकर मैं अपने आपमें भी उस विशुद्ध स्वरूप का अनुभव करूँ। यह बात जब तक न बनेगी तब तक इस जीव का जन्म मरण बढ़ता जाता है। तब तक अपने विशुद्ध स्वरूप का भान नहीं होता तब तक यह जीव मन, वचन, काय की क्रियाओं का ही पोषण करता है। जब तक मन, वचन, काय को अपनी इच्छा से ग्रहण करता है तब तक इसका जन्म मरण लगा हुआ है। और जब भेदविज्ञान हो कि मन, वचन, काय ये अलग चीज हैं, मैं इनसे निराला केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूँ। जब ऐसा भेदविज्ञान करते हैं तब उसका जन्म मरण दूर होता है, संसार दूर होता है। क्या करना है धर्मपालन के लिए? अपने आपके निकट अपने को देखोजो जरा, क्या मैं मन, वचन, काय रूप हूँ मैं तो मन, वचन, काय—इन तीनों से परे एक विशुद्ध आत्मतत्त्व हूँ। उस ज्ञानानन्दस्वरूप निज आत्मा का अनुभव करें जो शरीर से भी निराला है, वचनों से भी जुदा है, मन से भी परे है, ऐसे विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप निज अंतस्तत्त्व का अनुभव करें।

श्लोक-1566

जीर्णं रक्ते घने ध्वस्ते नात्मा जीर्णादिकः पटे।

एवं वपुषि जीर्णादौ नात्मा जीर्णादिकस्तथा॥1566॥

इस तरह अपने आत्मा को देखो। जैसे वस्त्र पहिनते हैं ना लोग और किसी का वस्त्र फटा हो तो कोई आदमी यह अनुभव नहीं करता कि मैं फटा हूँ। वस्त्र फटा है, मैं तो अनादि से निराला हूँ। हालांकि अज्ञान दशा में शरीर को माना कि यह मैं हूँ और शरीर को ही देख रहे वस्त्र से न्यारा है तो मैं वस्त्र से न्यारा हूँ इस प्रकार समझते हैं। यह एक दृष्टान्त दिया जा रहा है। इसी तरह समझलो कि शरीर अगर जीर्ण शीर्ण हो गया,, वृद्ध हो गया तो उसे निरखकर ज्ञानी जीव यह अनुभव नहीं करता कि मैं जीर्ण शीर्ण वृद्ध हो गया हूँ। इसी प्रकार कोई मोटा कपड़ा पहिने हो तो यह अनुभव नहीं करता कि मैं मोटा हो गया हूँ, ऐसे ही इस मोटे शरीर को देखकर ज्ञानी पुरुष यह अनुभव नहीं करता कि मैं मोटा हूँ। इसी प्रकार यदि वस्त्र बिल्कुल नष्ट हो गया हो, जड़ हो गया हो, खाक हो गया हो तो वह यह अनुभव नहीं करता कि मैं खाक हो गया हूँ। जैसे कपड़े वाले लोग अपने को कपड़े से भिन्न ही देखते हैं इसी प्रकार शरीरधारी भी ज्ञानी अपने को शरीर से न्यारा ही देखता है। और ऐसा अपने आपको देह से निराला समझ सकने वाला ही ज्ञानी योगी साधन कर सकता है, जिसको शरीर से निराले अपने स्वरूप का भान ही नहीं है वह धर्मपालन का अधिकारी नहीं। मूल में अधर्म है यह कि शरीर को माना कि यह मैं हूँ। एक बहुत बड़ा भारी पाप है मिथ्यात्व मोह अज्ञान। इससे बढ़कर और क्या, पूजा, यात्रा, स्वाध्याय, सामायिक, तपश्चरण, उपवास, ये सब काम मोक्ष मार्ग को सिद्ध नहीं कर पाते, क्योंकि जिसे मुक्त होना है उसका ही पता नहीं है कि मैं क्या हूँ। अपने आपकी पहिचान करना बहुत जरूरी बात है, और यों समझ लीजिए इस श्लोक के अनुसार कि तैसे फटे वस्त्र से आत्मा न्यारा है ऐसे ही जीर्ण शरीर से भी आत्मा न्यारा है। जैसे मोटा वस्त्र शरीर से न्यारा है इसी प्रकार मोटे शरीर से भी यह जीव अलग है। देह से भिन्न केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अपने आपको देखो तो मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ। जानने वाला भी ज्ञान है। जीव को निर्वाण परिणामों से ही मिलता है। इसलिए जब दुनिया भर के इतने काम बड़े-बड़े श्रम करके किए जा रहे हैं तो यह एक भी काम कर लें कि अपने को यह अनुभव कर लें कि मैं आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूपी देह से निराला हूँ। देह मैं नहीं हूँ, नाम मैं नहीं हूँ। लोग नाम देह का रखते हैं। जब शरीर ही नहीं तो नाम किसका? देहरहित नामरहित विशुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपका अनुभव कीजिए। अपना शरणभूत कारण समयसार परमात्मस्वरूप दर्शन देगा जिसके दर्शन से कृतकृत्य हो जायगा यह जीव। संसार की किसी वस्तु की फिर वाञ्छा न रहेगी। ऐसे अपने आपमें अपने आपके उस कारणपरमात्मस्वरूप को देखिये और देह से प्रीति न रखिये। देह से प्रीति करने में कुछ नहीं रखा है। अपना शरण तो अपने आपमें ही मिलेगा।

श्लोक-1567

चलमप्यचलप्रख्यं जगद्यस्यावभासते।

ज्ञानयोगक्रियाहीनं स एवास्कन्दति ध्रुवम्॥1567॥

योगी मुनि तत्त्ववेत्ता की दृष्टि पदार्थों में ध्रुवस्वरूप देखने की होती है, तो जीवों में भी जो ध्रुव एकस्वरूप चैतन्यभाव है उसकी दृष्टि होती है, इस दृष्टि में यह चलरूप जगत भी अचल सा मालूम देता है, और चलपना यों नजर आता है कि रागद्वेष कर रहे हैं। कोई वास्तविकता नहीं है, चीज तो समस्त अचल हैं। जिस समस्त योग को यह चल जगत अचल के समान दिखता है वह मुनि इन्द्रियज्ञान से रहित और योग परिस्पंद कर्मों से रहित होने से वह ध्रुव स्थिति को प्राप्त करता है याने निर्वाण को प्राप्त होता है। जब अपना परिणाम स्थित होता है तो समस्त पदार्थ ज्ञान में निश्चल प्रतिभास स्वरूप ही भासते हैं। जब दृष्टि में पदार्थ का परमार्थस्वरूप ध्रुवस्वरूप दृष्टि में होता है तो उसे सब अचल ही नजर आता है। जो चलायवान है, जो परिणामता रहता है वह सब पर्याय है, माया है। पदार्थों में परमार्थ तो एक ध्रुवस्वरूप है।

श्लोक-1568

तनुत्रयावृतो देही ज्योतिर्मयवपुः स्वयम्।

न वेति यावदात्मानं क्व तावद्धन्धविच्युतिः॥1568॥

यह आत्मा स्वयं तो ज्ञानज्योति प्रकाशमय है और देह सहित यह देही पुरुष तीन शरीरों से ढका हुआ है—आहारक, तेजस और कार्माण। देवगति और नरकगति के जीव तीन शरीरों से ढके हुए हैं, आहारक, तेजस और कार्माण। यह आत्मा जब तक अपने ज्ञानमय आत्मा को नहीं जानता तब तक बंध का अभाव नहीं होता है। शरीर रूप जब तक मानता है यह जीव तब तक उसका बंध नहीं होता। अब अपने देह का अधिक आराम चाहना और आराम की चाह में सधर्मियों से लड़ना यह तो कोई ध्यान की दिशा नहीं है। समय बीत जायगा। दो, चार, छः दिन का समय है समाप्त हो जायगा और किया हुआ परिणाम, साधर्मियों से विद्रोह करना, शरीर का अधिक आराम चाहना, दूसरों से हिंसा रखना, इनसे मेरे को अधिक आराम हो—

यह क्या है? यह धर्म के विरुद्ध परिणाम है। और-और भी अपने शरीर का लोभी होना, सामर्थ्य होते हुए भी किसी असमर्थ का उपकार न कर सकना और यह ध्यान में रखना कि हमें अपना तन क्यों झोंकना, यह सब मोह से, अज्ञान से भरा हुआ उपयोग है। यह शरीर तीन शरीरों से ढका हुआ है और यह ज्ञानमय अपने स्वरूप को नहीं जानता। सभी जीव प्रायः करके ऐसे मिलते हैं। सभी अपने-अपने शरीर का पिंडोला लिए हैं, शरीर में आत्मबुद्धि बनी है, शरीर का आराम चाहते हैं, पर यह पता नहीं कि यह शरीर थोड़े दिनों बाद जला दिया जायगा। जिस शरीर में इतनी ममता बस रही है उस शरीर से बहुत परे भीतर में आत्मा क्या है? ज्ञानमय है। उसकी ओर दृष्टि नहीं जा रही है। शरीर-शरीर ही सब कुछ हो रहा है तो वह शरीर तो नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। जब तक यह जीव शरीर में आसक्त हो रहा है तब तक आत्मा को नहीं जान सकता। और जब तक आत्मा को नहीं जान सकता तब तक कर्मों के बंध से छूट नहीं सकता।

श्लोक-1569

गलन्मिलदणुव्रातसंनिवेशात्मकं वपुः।

वेत्ति मूढस्तदात्मानमनाद्युत्पन्नविभ्रमात्॥1569॥

यह शरीर क्या है? खिरने वाले और मिलने वाले पुद्गल पर्यायों का स्कंद है। इससे रचा हुआ यह शरीर है। उसे यह मूढबहिरात्मा अनादि से उत्पन्न हुए विभ्रम से आत्मा जानता है। यही संसार का बीज है। है क्या यह शरीर? मिलने और बिछुड़ने वाले पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड है। उस शरीर को यह मोही जीव समझता है कि यह मैं आत्मा हूँ। ऐसे भ्रम के कारण यह पञ्चेन्द्रिय के इन विषयों का ही पोषण करता है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों में ही यह रत रहता है, इस शरीर से निराला मैं एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ, इस ओर इस जीव की दृष्टि नहीं जाती। सो ऐसा भ्रम इस जीव का अनादि काल से बना चला आ रहा है। बस यही भ्रम जन्म-मरण का बीज है। मरण के समय तो इस जीव को दुःख होता ही है, पर जीव को जन्म के समय में भी दुःख है। जैसा दुःख मरते समय होता है उससे भी कठिन दुःख गर्भ से निकलते समय होता है। देखा होगा कि जब कोई गाय बछड़े को जन्माती है, बछड़े का शरीर ठीक ढंग से जैसा निकलना चाहिए वैसा नहीं निकल रहा है तो उसे देखकर लोग दया करते हैं कि हाय ! यह बछड़ा नहीं निकल रहा, अब न जाने इसका क्या होगा? अब जो बछड़ा निकल रहा है उसकी पीड़ा को कौन जाने? यही हाल मरते समय का है। मरते समय में क्या दुःख होता है जीव को सो उसका उदाहरण दिया है कवि ने कि जैसे चाँदी का तार पतला किया जाता है तो चाँदी की पत्ती होती है, जैसे छोटे बड़े

अनेक छिद्र होते हैं तो छोटे छिद्र में तार चलता है, जैसे उसे ताना जाता है इसी तरह से जीव को मरते समय तनाव होता है। और देखते हैं लोग कि पैर में से जीव निकल गया, अब पेट में रह गया, अब हाथ में रह गया, अब गले में जीव रह गया, अब लो यह जीव इस शरीर से निकल गया। तो मरते समय भी बड़े क्लेश होते हैं। ये सब क्लेश इसी बात से हैं कि इस शरीर में ऐसी बुद्धि बना ली कि यह मैं हूँ। बस यही सबसे बड़ा पाप है। आप बतावो जो हमें छोड़ना है वह कितनी स्वाधीन बात है? इसे माँ-बाप, स्त्री-पुत्र, सास-स्वसुर किसी से बाधा नहीं है। केवल अन्तरङ्ग परिणामों को बदलने भर की बात है। इस संसार में जो भटकनाएँ बनी हैं उनका मूल कारण यही है कि इस शरीर में ही आत्मीयता की बुद्धि बना ली है।

श्लोक-1570

मुक्तिरेव मुनेस्तस्य यस्यात्मन्यचलास्थितिः।

न तस्यास्ति ध्रुवं मुक्तिर्न यस्यात्मन्यवस्थितिः॥1570॥

जिसकी आत्मा में निश्चल स्थिति होती है उसकी मुक्ति ही समझिये। जिसने अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को अपने उपयोग में लिया है उस पुरुष की मुक्ति ही समझिये। और जिसमें अपने आत्मा में उपयोग रमाने की कला नहीं आयी उसको समझिये कि मुक्ति नहीं है। कोई लोग एक ज्ञानमात्र से मुक्ति मानते हैं। ज्ञान हो गया, जानकारी हो गयी अपने स्वरूप की तो इसी से मुक्ति नहीं है। जान रहे और उल्टा चल रहे तो उससे मुक्ति नहीं है। जैसा स्वरूप है वैसा जाने और वैसा ही परिणाम स्थिर रहे तो मुक्ति होती है। जो आत्मा में स्थित है, उपयोग लग रहा है उसकी मुक्ति होती है, ऐसा कहने में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही आ जाते हैं क्योंकि उपयोग वहाँ रमता है जहाँ इसकी श्रद्धा हो। विषयों में सुख की श्रद्धा है तो विषयों में चित्त रमेगा। अपने आत्मा में सुख की श्रद्धा है तो आत्मा में रमेगा चित्त। आत्मा में उपयोग रमाना इसी में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ये तीनों आ गए। इस ही रत्नत्रय में मुक्ति प्राप्त होती है। इसे यों कहो कि अपने आत्मा में जिसकी अचल स्थिति होती है उसकी मुक्ति हो जाती है।

श्लोक-1571

दृढः स्थूलः स्थिरो दीर्घो जीर्णः शीर्णो लघुर्गुरुः।

वपुषैवमसंबंधन् स्वं विन्द्याद्वेदनात्मकम्॥1571॥

जो ज्ञानी पुरुष इस शरीर को निरखकर मैं जीर्ण हूँ, शीर्ण हूँ, हल्का हूँ, भारी हूँ—इस प्रकार नहीं निरखता वही ज्ञानस्वरूप को जानता है। जरा अनुभव करो कि जिसका चित्त इसी बात में बसा है कि मैं जीर्ण हो गया हूँ, मोटा हूँ, अमुक रूप का हूँ तो उसकी बुद्धि कहाँ पर है? उसकी दृष्टि ज्ञानस्वरूप आत्मा पर है क्या? आत्मा न दुबला है, न मोटा है, न ठिगना है, न लम्बा है, न गोरा है, न काला है, वह तो अमूर्त मात्र ज्ञानस्वरूप है। आत्मा को अन्य-अन्य रूपों में मानना यही मिथ्यादर्शन है। जो अपने को देह से सम्बोधित बातों रूप नहीं मानता है वही ज्ञानमात्र तत्त्व का अनुभव कर सकता है। और अपने को ज्ञानरूप अनुभव करे यही सार है जिन्दगी में और कोई सार नहीं है। न धन वैभव में सार है, न परिजन मित्रजनों में सार है। ये सर्व दृश्यमान पदार्थ अचेतन हैं, पर हैं। यह शरीर भी अचेतन है, पर है। इसको अपनाए इस रूप अपने को अनुभव करे तो एक ब्रह्मस्वरूप का ख्याल हो। वह तो अमूर्त है, एक चित्प्रकाशमात्र है। जब ज्ञान ज्ञान की स्थिति का, ज्ञानस्वभाव का अनुभव करता है तब आत्मा का सम्बेदन होता है। ज्ञानी पुरुष इस शरीर के सम्बंध रूप नहीं अनुभव करता, किन्तु शरीर से भिन्न, शरीर की सब बातों से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आपका अनुभव करता है।

श्लोक-1572

जनसंसर्गे वाक्चित्तपरिस्पन्दमनोभ्रमाः।

उत्तरोत्तरबीजानि ज्ञानी जनस्ततस्त्यजेत्॥1572॥

जब मनुष्यों का समागम होता है, मिलन-जुलन होता है तो उनमें वचनव्यवहार बनता है, नहीं तो वहाँ बैठते ही क्यों हैं? कुछ तो वचन बोलने पड़ेगे, कुछ तो मन का परिस्पन्द होता है और फिर उससे मन में भ्रम होता, क्षोभ होता, हठ पैदा होती है, कुछ स्नेह का आग्रह है तो उससे फिर भ्रम बढ़ता ही जाता है और इस भ्रम

से फिर जन्म-मरण की परम्परा चलती है। जब वचनों में परिस्पंद हुआ, चित्त में परिस्पंद हुआ तो मन में भ्रम फैल गया और मन में भ्रम फैला तो उसकी जिन्दगी बेकार है। वह तरीके से रह नहीं सकता, कोई बात जान नहीं सकता। ज्ञानी पुरुष उन सब स्नेहों का, मनुष्यों के संसर्ग का परित्याग करते हैं। तो हम भी इन मनुष्यों का संसर्ग छोड़ें और एकान्त में बसकर अपने आपकी धुन में रहें।

श्लोक-1573

नगग्रामादिषु स्वस्य निवासं वेत्त्यनात्मवित्।

सर्वावस्थासु विज्ञानी स्वस्मिन्नेवास्तविभ्रमः॥1573॥

जो अपने आपको नहीं जानता मैं आत्मा किस स्वरूप वाला हूँ, किस तत्त्व से रचा गया है, क्रियात्मक है, जब अपने आत्मा का ही पता नहीं रहता तो वह बाहर में यों देखता है, यों समझता है कि मैं नगर में रहता हूँ, पर्वत में रहता हूँ, जंगल में रहता हूँ। लेकिन जो ज्ञानी पुरुष है वह सभी अवस्थाओं में खाते हुए, व्यापार करते हुए, जाते हुए सभी स्थितियों में ऐसा समझता है कि मैं तो अपने आत्मा में हूँ, और वास्तव में आत्मा-आत्मा में ही रह सकता, बाहर नहीं। अज्ञानी भी बाहर नहीं रह सकता। वह कल्पना में मानता है कि मैं किसी बाहर को जानता हूँ, बाहर से मेरा सम्बंध है, एक कल्पनामें वह समझता है, वह जाने वह भी बाहर में, अपने में बैठी चीज है। जैसे यह चौकी है तो चौकी अपने में रहती है, इसे चाहे जितने टुकड़ों में काट दो पर यह तो अपने में ही रहती है इसी प्रकार यह आत्मा सब अवस्थाओं में अपने में ही रहता है। चाहे सुख भोगे दुःख भोगे, जायगा कहाँ यह आत्मा? कोई पदार्थ अपने स्वरूप से बाहर नहीं जाता, पर में नहीं रमता। सभी पदार्थों की यही बात है कि वे सब पदार्थ अपने स्वरूप से हैं। अपने प्रदेशों से हैं, अपने आप स्वयं रहा करते हैं। तो ज्ञानी पुरुष जानता है कि यह आत्मा अपने आपके आत्मा में रह रहा है। अगर रागद्वेष रूप से ठहरता है तो यों समझते हैं कि यह विकारी बन रहा है और शुद्ध ज्ञान से अपने ज्ञान में लीन हुआ परिणमता है तो मोक्षमार्ग के अनुकूल बात हो ही जाती है। ज्ञानी जीव पर का आधार अथवा आधेय नहीं है परमार्थ से। यों तो यह चौकी पर घड़ी रखी है तो चौकी के औंधा देने पर यह घड़ी नीचे हो गयी, चौकी ऊपर हो गयी, यह तो व्यवहार की बात हो गयी, मगर सूक्ष्मदृष्टि से देखो तो घड़ी पर यह घड़ी स्वयं है अन्य पदार्थ नहीं है। घड़ी का संस्थान, घड़ी का अस्तित्व घड़ी में है, घड़ी से बाहर नहीं। और इस दृष्टि से जरा आकाश

और आत्मा की भी बात देख लो। लोग कहते हैं कि और बात प्रचलित है कि आत्मा आकाश में रहता है, पर आत्मा का जो स्वरूप है उस स्वरूप दृष्टि से आत्मा-आत्मा में ही है, किसी पर में नहीं, क्योंकि आत्मा का जो अस्तित्व है वह आत्मा ही रूप है, पररूप नहीं है, इसलिए परमार्थ से आत्मा-आत्मा में ही है और व्यवहार से आत्मा आकाश में है। व्यवहार किसे कहा? दो बातों को सामने रखकर फिर उसका कोई निर्णय बने वह व्यवहार है। घड़ी और चौकी इन दो चीजों को सामने रखकर व्यवहार बनता है, तो कहना होगा कि घड़ी आधेय है और चौकी आधार है। व्यवहार में यह तक रख सकते हैं कि इस चौकी को झटका देकर हटा दो तो अपने आप गिर जायगी। गिर जाने दो घड़ी तिस पर भी घड़ी-घड़ी में है। वह अपने स्वरूप को छोड़कर बाहर नहीं गई। स्वरूप दृष्टि से प्रत्येक आत्मा अपने ही आपमें है। किसी परपदार्थ में नहीं है। लेकिन ऐसा जो मान लेते हैं, जिनकी दृष्टि में यह बात समाती है वह ज्ञानी है, और जो अपने को पर्यायमात्र मानते हैं वे अज्ञानी हैं। सभी जगह यह बात लगा लो अपनी-अपनी सर्वदा। जैसे किसी के प्रति लोग कहते हैं कि यह ही सबको पाल रहा है, यह यदि न हो तो ये बच्चे, नाती, पाते सब बरबाद हो जायेंगे। तो यह बात बाहरी व्यवहार की है। अन्तरङ्ग व्यवहार से देखो तो सभी जीवों के साथ अपने-अपने कर्म लगे हैं।

कोई बड़े घर में पैदा हो तो पैदा होते ही अच्छे बुलावा वाले आते, बड़ी-बड़ी रकमें पेश की जाती हैं, बड़ी-बड़ी खुशियाँ मनायी जाती है, उसके लिए सज़ा हुआ बढ़िया मोतियों का पालना लाया जाता है। अरे अभी वह छोटा बच्चा है, किसी का कुछ काम भी नहीं कर सकता, मल-मूत्र भी उसका उठाना पड़ता, फिर भी उसकी बड़ी-बड़ी सेवायें हो रही हैं। तो कुछ बात तो हे वहाँ जिससे उसकी इतनी-इतनी सेवायें हो रही हैं। तो बात है उसका कर्मोदय। और जो ऐसा जानता है उसको अपनी जिन्दगी में क्लेश नहीं होता। कभी कोई पुत्र अपने प्रतिकूल पड़जाय, यथातथा बात बिगाड़ने लगे, सेवा सुश्रूषा न करे, तो भी ज्ञानी को कष्ट नहीं होता, जो यह समझता है कि मुझे इसके पुण्योदय के कारण इसके पढ़ाने लिखाने तथा पालन पोषण की सेवायें करनी पड़ी थी। इसका पुण्य इतना प्रबल था कि मुझे इसकी नौकरी बजानी पड़ी थी। इसका पुण्य का प्रबल उदय था तो मैं इसकी सेवायें न करना तो मेरी जगह पर और किसी को इसकी सेवायें करनी पड़ती। एक घटना है कि राजा सत्यन्धर की रानी के गर्भ था। उसी समय सत्यन्धर ने अपना राज्य एक काष्ठ बेचने वाले को दे दिया था। क्यों दे दिया था कि उस राज्य की वजह से उसके आनन्द में, मौज में, घर में बाधा आती थी। काष्ठ बेचने वाले ने सोचा कि जब तक सत्यन्धर राजा जीवित है तब तक दुनिया यही कहेगी कि यह इसका दिया हुआ राज्य है, सो सत्यन्धर पर उसने चढ़ाई कर दी। राजा सत्यन्धर ने अपनी गर्भवती रानी को एक विमान में बिठाकर उड़ा दिया। वह विमान ऐसा था कि दो घंटे तक उड़कर कहीं भी गिर जाय। सो वह विमान बड़ी दूर पर एक मरघट में जा गिरा। वही पर जीवन्धर नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। रानी ने सोचा कि यदि इस लड़के का भाग्य है तो मनुष्य क्या, देवता भी इसकी रक्षा करेंगे और यदि भाग्य नहीं है तो हम

चाहे गोद में लिए रहें तो भी नहीं रह सकता है। सो रानी उसे वही मरघट में छोड़कर बहुत दूर जाकर छिप गयी। एक बड़ा भारी शेर उस मरघट में आया, उसे वह बच्चा प्रिय लगा। उसे पाला पोसा। तो जब पुण्योदय है तो घर का आदमी न हो तो कोई और नौकर बनेगा सेवा करने के लिए। यह सोचना मिथ्या है कि मैं परिवार के सभी लोगों को पालता हूँ। अरे उन्हें आप नहीं पालते। उनका उदय उनके साथ है। हाँ उनका यदि पुण्य का उदय है तो आपको उनकी नौकरी बजानी पड़रही है। यहाँ कोई किसी का कुछ नहीं करता। सभी अपने आपमें अपना परिणमन कर रहे हैं। ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता है कि जीव-जीव में ही है, और जगह नहीं, आकाश आदिक में जीव नहीं। जीव में जीव है, यह परमार्थ दृष्टि की बात है। आकाश में जीव है—ऐसा सोचने में दो द्रव्यों पर दृष्टि है, व्यवहार दृष्टि है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें ही रहता है। यह मर्म ज्ञानी जानता है कि सभी अवस्थाओं में यह आत्मा अपने आत्मा में ही रहता है ऐसा अपने को देखता है और ऐसा ही अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करता है। और जब अज्ञान का अनुभव प्रबल होता है तो इस आत्मा में आनन्द की लहर ऐसी उत्कृष्ट वेग के साथ उठती है कि यह आत्मा उस समय उस आनन्द में तृप्त हुआ अपने आपको पहिचानता है और सर्व क्लेशों से मुक्त होता है। जब यह आत्मा-आत्मा में हो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप से ठहरता है तो इसे मुक्ति की प्राप्ति होती है। सो हमें भी चाहिए कि अपने आपको जानें और अपने आपमें अपने उपयोग को रमाने का यत्न करें।

श्लोक-1574

आत्मेति वपुषि ज्ञानं कारणं कायसन्ततेः।

स्वस्मिन् स्वमिति विज्ञानं स्याच्छरीरान्तरच्युतेः॥1574॥

जीव की दो स्थितियाँ मुख्य हैं—एक तो शरीर सहित स्थिति और शरीररहित स्थिति। जीव दो स्थितियों में मिलेगा—या तो शरीरधारी या शरीर से परे। जो शरीर से परे हैं यह तो हैं सिद्ध भगवान और अरहंत भगवान भी शरीर से परे हैं। शरीर में रहते हुए भी अरहंत भगवान शरीर से निवृत्त ही रहते हैं—क्योंकि शरीर से प्रयोजन है जन्म मरण। सो अब उनका जन्म मरण न होगा। तो शरीररहित में प्रभु आ गए और शरीरसहित में ये सब संसारी जीव आ गए। उनमें से दो तरह के प्राणी होते हैं—एक तो मिथ्यादृष्टि और दूसरे ज्ञानी जीव। जिनमें मिथ्यादृष्टि जीव तो आत्मा में आत्मतत्त्व को नहीं निहारते हैं। तो शरीर में यह मैं आत्मा हूँ—इस प्रकार का जो ज्ञान है वह तो शरीर परम्परा मिलते रहने का कारण है। और शरीर से परे अपने आपके स्वरूप में वह मैं आत्मा हूँ इस प्रकार की जो दृष्टि है वह मुक्ति प्राप्त कराने का कारण है। मूल

में दो ही चीजें हैं। जिसे धर्म करना है उसे प्रारम्भ में क्या करना चाहिए, कैसा अनुभव करना चाहिए कि धर्म लगता रहे। अपने आपका ऐसा अनुभव करें कि मैं शरीर से न्यारा केवल ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र यह मैं आत्मतत्त्व हूँ—ऐसा ज्ञान करें, निर्णय करें और इसकी दृष्टि प्रबल बनायें। धर्म के लिए जो अनेक प्रकार के परिश्रम किए जाते वे सब परिश्रम भी सफल हो जायेंगे यदि एक यह दृष्टि अपने को मिल सके। कौनसी दृष्टि? समस्त इन्द्रियों का व्यापार रोककर शरीर से और भीतर शरीर को छोड़कर कुछ ऐसा देखें कि अपने आपमें केवल एक ज्ञानज्योति का परिचय रहे, शरीर का भी भान न रहे, ऐसी परिस्थिति में ज्ञान की अनुभूति होगी, आत्मा की अनुभूति होगी और विशुद्ध आनन्द का अनुभव मिलेगा। फिर यह दृष्टि बनी रहे कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर से निराला ज्ञानानन्द आश्रयभूत कोई जुदा तत्त्व हूँ। ऐसी दृष्टि बन जाय तो समझिये कि अब इस मोक्षमार्ग में चल रहे हैं, और जहाँतक शरीर की दृष्टि है, यह मैं हूँ, इस मुझको आराम चाहिए। अरे ऐसी दृष्टि रहने में आराम सारा खतम होगा। जहाँशरीर में आत्मबुद्धि की, शरीर को विषयों का आराम चाहिए तो आराम उसी समय में खतम हो गया। यह जीव अनादि से शरीर में आत्मबुद्धि करके अपने आत्मीय आनन्द को नष्ट करता चला आ रहा है। जब यह जीव अपने आपमें अपने आपका अनुभव करता है तब उसे एक आराम मिलता है, क्योंकि आराम है अपने विकल्प और निर्विकल्प में। जहाँविकल्प हो वहाँ आराम कहाँ? जहाँ-जहाँक्षोभ नहीं वहाँ सब आराम है। इससे प्रथम यह निर्णय बनायें कि जिसे कोई जानता है वह तो मैं नहीं हूँ। जिससे कोई बोलता हैवह मैं नहीं हूँ। लेकिन जिसे निरखकर लोग व्यवहार करते हैं भला या बुरा वह मैं नहीं हूँ। मैं तो वह हूँ जिसे लोग जानते नहीं, अथवा कोई जानने वाला हो तो वह मेरे स्वरूप में घुल जाता है, जो स्वरूप मेरा है वही स्वरूप उसका है। अपने उस स्वरूप को जान लिया। सो मैं सबसे परे निराला कोई ज्ञानमात्र तत्त्व हूँ ऐसी दृष्टि बने तो समझिये कि हमको मनुष्यभव का लाभ मिल गया। और यह दृष्टि जब तक न बने तो आप अनुभव करते होंगे कि अशान्ति ही अशान्ति है। चाहे वैभव पर दृष्टि हो, चाहे शरीर पर, सभी एक स्वार्थ भरी बुद्धि हो जाती है। और जहाँअपना व्यक्तितत्त्व माना, अपनी स्वार्थभरी दृष्टि बनी वहाँ फिर सर्वत्र विपदा ही विपदाहै।

भैया ! अब तो धर्म करें मायने विपत्ति से बचें, यह सीधा अर्थ है। धर्म करने का अर्थ है कि शान्ति पावें, परमविश्राम पावें, अपने में आराम पायें तभी कल्याण भी हो सकता है। जो धर्म कर रहा है उसे शान्ति नहीं मिल रही, कषाय जग रही है तो समझिये कि वहाँ धर्म नहीं है। केवल नाममात्र का धर्म कर रहा है। तो धर्म वहाँ है जहाँ शान्ति है, जहाँपरमविश्राम है, और यह विश्राम कब हो सके जब आत्मा आत्मा के सही स्वरूप को जाने और वही उपयोग लग जाय। बाहर में सब ओर से अपना मुख मोड़ लें तो शान्ति आ सकती है। धर्म के लिए भीतर में इतना महान पुरुषार्थ करना पड़ता है वह पुरुषार्थ कैसे मिलता, कैसे बनता, उसका प्राथमिक उपाय है देव शास्त्र गुरु की सेवा। देव के सही स्वरूप को जानें। जो वीतराग है, सर्वज्ञ है

वह देव है। जिसके जन्म जरा मरण आदिक कोई ऐब नहीं रहा, शरीर के सब दोषों से पृथक् हो गया है, अपने आपके विकास में परिपूर्ण हो गया वह देव है और उसे उपयोग में रखने से, उस देव की भक्ति का परिणाम रखने से हम उसकी ओर बसे रहेंगे। हमारे चित्त में वह देवस्वरूप बसा रहेगा जो मेरे स्वरूप के समान है। तो हमें अपने स्वरूप की सुध रहेगी और उस भक्ति के कारण कभी कोई प्रतिकूलता भी आये तो चूंकि हमें देव में विनय है तो उसके कारण हम बहुत सी विपत्तियों से बचे रहेंगे। इस कारण देवभक्ति का आलम्बन इस मुमुक्षु को बहुत बड़े सहारे का आलम्बन है। इसी प्रकार शास्त्र का आलम्बन है। जो सर्वज्ञ देव की दिव्यध्वनि में प्रकट हैं वह शास्त्र हैं। आचार्यदेवों ने बड़ा परिश्रम करके इन शास्त्रों को तैयार करके रख दिया है। जैसे बना बनाया भोजन रखा हो और कोई भोजन न करना चाहे तो कोई वश नहीं है इसी प्रकार सज़ा सजाया आत्मीय भोजन ग्रन्थों में लिखा पड़ा हुआ है, आचार्यदेवों ने बड़े-बड़े अनुभवों से बड़ी कठिनाई से जाना है, उस सबका सब अनुभव आचार्यों ने लिख दिया फिर भी हम उसका अध्ययन न करें, उसमें उपयोग न लगायें, उसका मर्म न पहिचानें, उसका मर्म जानने के लिए गुरुजनों का संसर्ग न बनायें तो यह कितनी मूढ़ता भरी बात कही जाय?

ये संसार के सर्व समागम मिटेंगे। इन समागमों में कहाँ विश्वास बनायें? कौन चीज यहाँ ऐसी है चेतन अथवा अचेतन, घर के पुत्रादिक अथवा ये धन, वैभव, सोना, चाँदी व्यापार रोजगार आदि जो कि इस जीव का साथ निभा देंगे? सभी बिछुड़ जायेंगे। जीव का साथ कोई न निभा सकेगा। जब मेरा साथ निभाने वाला इस दुनिया में नहीं है तो मैं यहाँ किसकी भक्ति करूँ? यहाँ रुचि के लायक कोई तत्त्व नहीं है। अरहंत भगवंत ने जो उपदेश किया है, जो शास्त्रों में निबद्ध है, जिसे ऋषिजनों ने अपने आत्मा में उतारकर सही निर्णय किया है। तो आप समझिये कि यह शास्त्रों का उपदेश कई जगहों से निर्माण होकर हमें मिला हुआ है। जैसे कहीं से पानी बहा, एक बार मशीन से छाना, फिर दूसरी जगह छाना, फिर तीसरी जगह छाना, कई जगहों से छानकर आया पानी जैसे वह निर्मल है इसी प्रकार यह तत्त्व पहिले निर्मल था लेकिन उस तत्त्व को संतों ने अपनी युक्ति और अनुभव से उतारा है, अपने दिल में छाना है, यों अनेक संतों ने छाना, निर्णय किया, खोजा, फिर कितना छन-छन करके आया हुआ तत्त्व आज शास्त्रों में उपलब्ध है। उसे भी न समझें, उसके माध्यम से हम अपने आपके स्वरूप को न जानें तो यह हमारी कितनी बड़ी भूल भरी गलती है? हम आप सबके ज्ञान का क्षयोपशम है, आत्मा के मर्म की बात समझ सकते हैं, अच्छी तरह जान सकते हैं। जिसके इतना ज्ञान है कि बड़े-बड़े रोजिगार बना लें, बड़ी-बड़ी युक्तियाँ बना लें, हिसाब किताब बना लें, अनेक तरह के पदार्थों का निर्माण कर लें, अनेक कलायें जानें, संगीत कला, लेखन कला, भाषण कला, जहाँ इतना ज्ञान है, क्या यह ज्ञान अपने ज्ञान के स्रोतभूत एक अपने आपके आत्मा का निर्णय न कर सके सो कठिनाई है क्या? केवल रुचि चाहिए। थोड़ा यह समझकर कि संसार का समागम मेरा साथी नहीं है इसलिए

इनमें ही दिमाग लगाना उचित नहीं है, ऐसा जानकर थोड़ा अपने आपके आत्मा की रुचि जगे, बाह्य समागमों से मुख मोड़े। ज्ञानसाधना में बढ़ें तो इससे हम आपका भविष्य निर्भर है। इस श्लोक में मूल बात इतनी कही जा रही है कि इस शरीर में जो यह मैं आत्मा हूँ इस प्रकार का ज्ञान करता है वह तो शरीर के मूल की परम्परा बढ़ाता है। और कोई अपने आत्मस्वरूप को नजर में रखकर अपने आपका ज्ञान करें, अनुभव करें कि यह मैं ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूँ तो यही विज्ञान शरीरों से निवृत्त होने का कारण है। चाहिए क्या? निर्वाण। निर्वाण मायने सारे दुःख बुझ जायें, कोई कष्ट न रहे, परमशान्ति हो तो उसका उपाय है परमशान्तस्वरूप इस आत्मा में ही 'यह मैं हूँ' इस प्रकार का निर्णय रखे। तो यही धर्म है, यही मोक्षमार्ग है। इसी से ही ऐसा दुर्लभ नर जन्म पाना, श्रावककुल पाना, जैन शासन का पाना सफल है।

विषय और कषायों में कोई तत्त्व लाभ नहीं है। लोग तो कषायें करके कुछ लाभ मिल जाने पर समझते हैं कि इस कषाय के करने से मुझे लाभ मिला, पर यह उनका मेरा भ्रम है। कषायें करने से तो बुद्धि काम नहीं देती है। बुद्धि काम न देने से फिर वह अटपट व्यवहार करने लगता है। इससे कषायें करने से लाभ कुछ नहीं है। इस क्रोध कषाय को भी छोड़ें। किस पर क्रोध करना, कौन मेरा शत्रु? दुनिया में अनन्त जीव हैं, सभी स्वतंत्र-स्वतंत्र हैं। सभी के अपने-अपने कर्म लगे हैं, मेरा कोई बिगाड़ नहीं कर सकता। हाँ मेरे ही पाप का उदय हो तो मेरे बिगाड़ का कोई न कोई कारण बन जायगा। तो किस पर क्रोध करना? मेरा बिगाड़ तो पापोदय से होता है, मेरा बिगाड़मेरे ही अज्ञानभाव से होता। यहाँ कोई मुझ पर क्रोध भी नहीं करता, क्रोध करने वाला अज्ञानभाव से अपने आपमें ही क्रोध करता है इस प्रकार का सही ज्ञान बने तो आप यह समझ लीजिए कि हमने अपने आपमें अपना वैभव पाया।

क्रोध करना तो आसान है, भोग भोगना तो आसान है। क्रोध न जगे, भोग भोगने की बात भी मन में न आये, इसमें बड़े पुरुषार्थ की जरूरत है, बड़ी गम्भीरता की आवश्यकता है। पर हमें भोग न चाहिए, भोगों का परिहार कर दे, इसमें आवश्यकता है बड़े ज्ञानबल की। तो प्रयत्न करे अपने आत्मस्वरूप का निर्णय करके कि क्रोध न आये। अभिमान भी किस बात का? आज कोई राजा है, वह मरकर कीड़ा बन गया तो क्या रहा? और राजा भी है तो क्या हुआ? शान्ति और अशान्ति का निर्णय राज्य वैभव से नहीं किन्तु सम्यग्ज्ञान से होगा। सम्यग्ज्ञानी पुरुष अभिमान नहीं करना। अभिमान तो अहितकारी चीज है। अभिमान किस बात है? बड़े-बड़े चक्रवर्ती भी नहीं रहे। चक्रवर्ती जब 6 खण्ड पर विजय प्राप्त करके कई हजार मिल पृथ्वी पर जब अपना नाम खोदने लगता है तो उसे अपना नाम खोदने के लिए ऐसी जगह नहीं मिलती जहाँ पर दूसरे चक्रवर्ती का नाम न खुदा हो। तो कितने-कितने चक्रवर्ती हो गए पर सभी मर गए। दूसरों का सम्मान करने का अपना परिणाम जगे, दूसरों का बड़प्पन रखने की वृत्ति जगे तो इसमें अपनी भलाई समझिये।

मायाचार किससे करना?मायाचार किया जाता हैकिसी चीज की प्राप्ति के लिए। कोई इष्ट वस्तु प्राप्त करने के लिए मायाचार करना पड़ता है। तो संसार में कौनसा ऐसा पदार्थ है जो परम इष्ट है, जो हमारा कल्याण कर दे? मायाचार भी किस बात पर करना? ये सब विनाशीक बातें हैं। मायाचार भी किस बात पर करना? इसी प्रकार लोभ कषाय में किस बात पर करना? यहाँ पर कोई चीज अपनी नहीं है। सभी परद्रव्य हैं, उदय के अनुसार प्राप्त हो जाते हैं। प्राप्त हो जाने के काल में भी यह वैभव अपना नहीं है। और फिर लोभ से इस वैभव का संचय भी न होगा, बल्कि मिटता है। कषायों से पाप जगे तो इस आत्मा में पाप ही बढ़े, पुण्य घटा, वैभव दूर हो गया। तो क्षोभ भी न करना चाहिए। भोग विषयों की भी धुन न बने। शरीर की रक्षा के लिए थोड़े से भोजन की आवश्यकता है। यह शरीर धर्मसाधना करने में सहायक है इसलिए इसकी रक्षा के लिए भोजन करना भी आवश्यक है। तो शरीर स्थिति का कारण भोजन है। इससे भोजन किया जाता है, पर किसी भी प्रकार विषय कषायों की, भोगों की रुचि न रखें। और अपने आपमें अपने आत्मा के स्वरूप की सुध रखें तो समझिये कि हम धर्म का पालन कर रहे हैं। अपने आपकी सुध करें और बाहरी तत्त्वों में अपने ज्ञान को न अटकायें तो समझिये कि हमने धर्म किया। शरीर को यदि मानाकि यह मैं हूँ तो इससे तो शरीर मिलते रहने की परम्परा बनेगी और जब शरीर से अत्यन्त भिन्न अपने आत्मतत्त्व को लगावो तो उससे संसार की भटकना मिटेगी। जिसने इस शरीर को इष्ट मानाहै वह इस शरीर के वियोग काल में दुःखी होता है।क्षुधा, तृषा, ठंड-गर्मी, फोड़ा-फुंसी, रोगादिक ये सबके सब इस शरीर के कारण होते हैं। शरीर का मिलते रहना तो अपने लिए एक कलंक की बात मानना चाहिए। मैं तो इस शरीर से रहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आपका अनुभव करूँ। इससे शरीरों का मिलते रहना बंद हो जाय तो यह हमारे भले की बात है। यह जीव जब यह अनुभव कर ले कि मैं शरीर नहीं हूँ। हमारा धर्म प्रकट हो, हमारे ज्ञान का पूर्ण विकास हो, यदि यह बात इष्ट है तो यह अनुभव करें कि मैं शरीर से निराला केवल ज्ञानानन्दमात्र आत्मा हूँ। ऐसे अनुभव से ही इस जीव को शान्ति प्राप्त होगी। जिसे अपना कल्याण चाहिए उसका यह कर्तव्य है कि इस शरीर से भिन्न अपने आपको केवल चैतन्यप्रकाशमात्र निरखे।

श्लोक-1575

आत्मात्मना भवं मोक्षमात्मनः कुरुते यथा।

अतो रिपुर्गुरुश्चायमात्मैव स्फुटमात्मनः॥1575॥

इस शरीर को ही निज आत्मा मानकर शरीरों की संतति बढ़ाना—इसी का नाम है अपना संसार बढ़ाना। और शरीर में आत्मा का अनुभव न करके ज्ञानानन्दस्वरूप यह मैं आत्मा हूँ ऐसा अनुभव करने के बल से यह जीव संसार के आवागमन से छुटकारा पा लेता है। यही परमशान्ति का स्थान है। अब हम यह विचार करें कि हमें शान्ति चाहिए अथवा अशान्ति, मोक्ष चाहिए या संसार का आवागमन? इन दोनों ही बातों की प्राप्ति हमारे अपने आपके परिणामों पर निर्भर है। अपने ही द्वारा यह आत्मा अपना संसार बनाता है और अपने ही द्वारा यह आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है। मुक्ति प्राप्त करना भली बात है और संसार में जन्म-मरण की परम्परा बढ़ाना यह बुरी बात है। यहाँ कौन किसका दुश्मन? कौन किसका मित्र? हमीं अपने आपके दुश्मन हैं, हमीं अपने आपके मित्र हैं। अगर अपनी जन्ममरण की परम्परा बढ़ाते हैं तो हमीं अपने दुश्मन हैं और अगर मुक्ति प्राप्त करते हैं तो हमीं अपने आपके मित्र हैं। जब अपने में अज्ञानभाव है, परपदार्थों को अपनाते की बुद्धि चलती है तो इस परिस्थिति में यह आत्मा स्वयं अपने आपका बैरी है और यह आत्मा जब दुर्विचारों से बचकर, बाह्य विकल्पों से छुट्टी पाकर, परपदार्थों के ग्रहण से विराम लेकर अपने आपमें आरूढ़ होता है तो इसी का नाम है मोक्ष। यही परम अतीत है। आत्मा का हित मोक्ष ही है क्योंकि इसमें ही परम शान्ति है। तो ऐसे मोक्ष का बनाने वाला कौन है? साक्षात् प्रभु भी मिल जायें, उनका दर्शन हो, उनकी दिव्यध्वनि भी सुनें, तिस पर भी मेरा मोक्ष प्रभु न कर देंगे। वह प्रभु हमारा रक्षक तो है पर वह मेरा मोक्ष कर दे ऐसी स्वतंत्रता नहीं है। उनकी दिव्यध्वनि को सुनकर उनके बताये हुए पथ पर खुद चले तो मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञान भी यह खुद करे। अपने आपका श्रद्धान भी यह खुद करे और अपने आपमें मग्न होने का काम भी यह खुद करे। मोक्ष का करने वाला भी यही आत्मा है। आत्मा का अभीष्ट हुआ यह खुद आत्मा। किस परिस्थिति का आत्मा? जहाँ विषयकषाय, माया, मिथ्या, निदान, संकल्पविकल्प—इन सबसे निराला केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र, जिसका कि अनुभव करने से परम विशुद्ध आत्मीय आनन्द झरता है ऐसे ज्ञानस्वरूप को मानता कि यह मैं हूँ। यह मैं तो सबसे छूटा हुआ ही हूँ, सदा से मुक्त हूँ, इसी कारण इस आत्मा को शिव कहते हैं। यह आत्मा अपने ही स्वभाव से कल्याणरूप है। सर्व से निराला अपने स्वरूप अस्तित्व का रखने वाला केवल चैतन्यस्वभावमात्र यह मैं आत्मा हूँ—इस प्रकार सबसे मुक्त अपने स्वभाव को देखेंगे तो कर्मों से मुक्ति होगी, सब विकल्प बंधनों से मुक्ति होगी। इस कारण जो भी मुक्त हुए वे अपने आपके परिणामों से हुए, अतएव आत्मा का मित्र स्वयं यह आत्मा ही है। अन्यत्र दृष्टि इस प्रकार लगाना कि यह मेरा बैरी है, यह मित्र है, यह मेरी भूल भरी दृष्टि है। मेरे लिए तो मात्र मैं ही हूँ। यह जीव अपने आत्मस्वरूप को भूलकर जब बाह्यविषयों को अपनाता है, इन इन्द्रियों को ही, इस शरीर को ही अपना सर्वस्व समझ लेता है तो समझ लीजिए कि वह खुद अपने आपका बैरी है। तो परिणामों से ही हम स्वयं

अपने आपके मित्र बन सकते हैं और हम ही अपने आपके शत्रु बन सकते हैं। तो मैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप अपना परिणाम बनाऊँ, इसी से अपने आपकी भलाई है।

श्लोक-1576

पृथग्दृष्ट्वात्मनः कार्यं कायादात्मानमात्मवित्।

तथा त्यजत्यशङ्कोऽङ्गं यथा वस्त्रं घृणास्पदम्॥1576॥

आत्मा के जानने वाले पुरुष देह को आत्मा से भिन्न देखें और आत्मा को देह से भिन्न देखें तभी वह निःशंक होकर देह को त्यागता है। देह के त्यागने का अर्थ यह है कि देह से उपेक्षा बुद्धि हो। देह में आसक्ति न हो, उसमें आत्मीयता न हो, यह देह का त्यागना कहलाता है। यदि ऐसा विरक्त परिणाम है तो देह में रहते हुए भी देह का त्यागी है और जिसके ऐसा ज्ञानतत्त्व का परिणाम नहीं है वह देह को छोड़ता हुआ भी देह का त्यागी नहीं है। जैसे कोई पुरुष जब कभी किसी से ग्लानि होती है तो वह उसे निःशंक होकर त्याग देता है, इसी प्रकार ज्ञानी जीव इस देह को भी ग्लानि का स्थान समझकर इसको त्याग देता है, आशंका नहीं रहती। जैसे घर में रहते हुए भी घर वालों से मन न मिले और उपेक्षा ही रखे तो घर में रहता हुआ भी घर के लोगों का त्यागी है। इसी प्रकार देह में रहता हुआ भी ज्ञानी पुरुष चूंकि देह से भिन्न अपने आत्मा को जानता है तो वह भी देह का त्यागी है। सबका आधार इतना है कि जो देह को मानता है कि यह मैं हूँ उसे तो देह मिलते रहेंगे अर्थात् जन्म मरण चलता रहेगा और जो देह से भिन्न ज्ञानमात्र अपने को देखता है उसके देह की परम्परा न रहेगी अर्थात् उसका निर्वाण होगा। तो उस देह से ममता न रहे, देह से विमुख बुद्धि रहे उसका यह विचार चल रहा है। तो उन विचारों में एक विचार यह भी है कि इस देह को लक्षण से भिन्न जानें और देह को घृणास्पद जानें। इस देह में रमने लायक कुछ चीज नहीं है। इस देह को ही सब कुछ समझते हैं। इस देह में ऊपर से लेकर नीचे तक भरा हुआ है? खून, पीप, नाक, थूक, मल, मूत्रादिक अपवित्र वस्तुवें ही तो भरी हैं। यह देह प्रीति करने लायक नहीं है, ऐसा जानकर हम देह से ममता त्यागें।

श्लोक-1577

अन्तर्दृष्ट्वाऽऽत्मनस्तत्त्वं बहिर्दृष्ट्वा ततस्तनुम्।

उभयोर्भेदनिष्णातो न स्वलयात्मनिश्चये॥1577॥

अब आत्मा का लक्षण तकना चाहिए अन्तरङ्ग में और देह का लक्षण तकना चाहिए बहिरङ्ग में। जैसे देह का स्वरूप जानना हो तो आँखों से देखकर देह को जानें और आत्मा का स्वरूप जानना हो तो आँखें बन्दकर भीतर में उपयोग को ले जाकर जानें। ज्ञानी पुरुष आत्मा के स्वरूप को अन्तरङ्ग में देखता है और देह को बाह्य में देखता है। जब दोनों के भेद में वह प्रवीण होता है फिर आत्मा के निश्चय में नहीं रहता है। जब अपने आत्मा का स्वरूप तकना हो तो बाह्य समस्त इन्द्रियों का व्यापार रोककर जिसमें नेत्रइन्द्रिय प्रधान है सभी को रोकना चाहिए और नेत्रइन्द्रिय को भी रोककर अर्थात् बाहर में कुछ न निरखकर, देह का भान न रखकर केवल उस एक चैतन्यज्योति ज्ञानमात्र अपने को तकता है तो वह सत्य सनातन आत्मतत्त्व को देखता है। जब आत्मा अपने आपके अन्दर पहुँचता है तो इसे अद्भुत विशुद्ध आनन्द प्राप्त होता है। और उस आनन्द में अनुभव के कारण ही यह ज्ञानी पुरुष अपनी श्रद्धा को दृढ रखता हुआ निभा लेता है इस बात से कि बाह्य में इसकी रुचि न हो और अपने अंतस्तत्त्व में ही रमकर रहे। तो जो आत्मा और देह में भली प्रकार से भेद निरखता है वह अपने आत्मा के निश्चय में स्थलित नहीं होता।

श्लोक-1578

तर्कयेज्जगदुन्मत्तं प्रागुत्पन्नात्मनिश्चयः।

पश्चाल्लोष्टमिवाचष्टे तद्दृढाभ्यासवासितः॥1578॥

जब कोई पुरुष प्रथम ही प्रथम ज्ञानमार्ग में आया और उसमें आत्मा के स्वरूप का निश्चय किया तो सबसे पहिले जब वह जगत पर दृष्टि डालता है तो सारा जगत उसे उन्मत्त की तरह दिखता है क्योंकि उस आत्मा के स्वरूप की जानकारी की ना? मैं आत्मा तो विशुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ। जो आत्मा को जानने का अभ्यासी होता है उसको ये जगत के लोग उन्मत्त जैसे दिखते हैं। जब पहिले-पहल उसने जानना शुरू किया था आत्मा के स्वरूप को उस समय यह जगत पागल दिख रहा था और जब यह आत्मतत्त्व का दृढ अभ्यास कर लेता है, उस चैतन्य ज्योति के अभ्यास से खूब वासित हो जाता है तब फिर इसे सासरा

जगत लोहा पत्थर की तरह निश्चल मालूम देता है। फिर तो यों लगता है कि आत्मा कैसा पागल है? आत्मा तो जो है सो है। यह तो सब पुद्गल का ठाठ है। इस चलायमान जगत में पुद्गल देखता है और अन्तर में जो आत्मस्वरूप है उसे निश्चल देखता है। जब ज्ञान उत्पन्न होता है तो उत्पन्न होने के समय चूंकि पहिली बार ज्ञान किया ना आत्मा का तो दूसरे लोग जो जगत में भ्रमण करते हैं, नाना प्रकार की प्रवृत्तियाँ करते हैं उन्हें यह जगत पागल की तरह दिखता है। लेकिन जब उस तत्त्वस्वरूप का दृढ अभ्यास होता है तो ऐसा लगता है कि पागल कोई नहीं हो रहा। यह नृत्य तो पुद्गल का है। आत्मा तो निश्चल, स्वतंत्र, निष्काम, शुद्ध अनादि सिद्ध विराजमान है।

श्लोक-1579

शरीराद्भिन्नमात्मानं शृण्वन्नपि वन्दनपि।

तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठितः॥1579॥

कल्याणार्थी पुरुष को आत्मा और देह के भेदविज्ञान से इतना निरूपण होना चाहिए, मेरे आत्मा में इतनी धुन होनी चाहिए कि ऐसी स्थिति बन जाय कि वह सुनता हुआ भी नहीं सुन रहा, बोलता हुआ भी नहीं बोल रहा। जैसे जब कभी किसी इष्ट बात में ध्यान रहता है, किसी मनोज्ञ विषय में प्रीति अधिक रहती है तब उसकी ऐसी स्थिति होती है कि दूसरा आदमी कोई बात सुना रहा है तो सुनता हुआ भी न सुनने की तरह सुन रहा है और किसी से कुछ बोलता है तो है तो बोलता हुआ भी न बोलने की तरह बन रहा है। तो जब बाह्यपुद्गल में कोई ध्यान विशेष जम जाय, जब यह स्थिति बन जाती है तो फिर आत्मा में जिसकी धुन बन जाय उसकी स्थिति तो इस प्रकार बन ही जाती है कि वह सुनता हुआ भी नहीं सुनता है और बोलता हुआ भी नहीं बोलता है। जब ऐसी स्थिति बन जायतो समझिये कि अपने आत्मा के दर्शन का, आत्मा के रुचने का उसे दृढ अभ्यास बना है, और वह विशिष्ट तत्त्वाभ्यासी बन चुका है। जब तक ऐसी स्थिति नहीं बनती कि सुनते हुए भी कुछ नहीं सुन रहे, बोलते हुए भी कुछ नहीं बोल रहे, ध्यान उस एक चिदानन्दमय प्रभु परमेश्वर पर है तो समझिये कि अब हमारा कल्याण निकट है।

श्लोक-1580

व्यतिरिक्तं तनोस्तद्वद्भाव्य आत्माऽऽत्मनाऽऽत्मनि।

स्वप्नेऽप्ययं यथाऽभ्येति पुनर्नाङ्गे संगतिम्॥1580॥

आचार्य उपदेश करते हैं कि आत्मा को आत्मा के ही द्वारा आत्मा में रहकर शरीर से भिन्न ऐसा विचार करें, ऐसा दृढ़ भेदाभ्यास करें कि जिससे फिर यह आत्मा स्वप्न में भी शरीर की संतति को प्राप्त नहीं होता और स्वप्न में भी शरीर में आत्मबुद्धि न करे। इस प्रकार भेदविज्ञान का दृढ़ अभ्यासी बने। स्वप्न में भी यह दृष्टि बन जाय कि जो शरीर हे वह मैं हूँ ऐसा होता है जागृत अवस्था में या जैसी जिसने वासना बनाया है स्वप्न में उस वासना के अनुरूप स्वप्न आता है, कल्पनाएँ जगती हैं और कभी-कभी जैसे जिसको यात्रा में बहुत चित्त है या मंदिर के दर्शन में बहुत चित्त है उसे स्वप्न में भी मंदिर दिखते हैं, यात्रा दिखती है, क्षेत्र दिखते हैं और यहाँ तक कि जिसको अपने आत्मा के अनुभव की धुन लगी है और समय-समय पर आत्मा के अनुभव की दृष्टि बनती है उसे स्वप्न में भी आत्मा का अनुभव बन जाता है। तो स्वप्न में भी इस शरीर से भिन्न अपने आत्मतत्त्व का ही अनुभव करे तो समझिये कि वह तत्त्वज्ञानी है और भेदविज्ञान का उसने दृढ़तम अभ्यास कर लिया है।

श्लोक-1581

यतो व्रताव्रते पुंसां शुभाशुभनिबन्धने।

तदभावात्पुनर्मोक्षो मुमुक्षुस्ते ततस्त्यजेत्॥1581॥

व्रत और अव्रत, शुभ और अशुभ दो प्रकार के बंधों के कारण हैं, अर्थात् व्रत परिणाम से तो शुभ प्रकृतियों का बंध होता है और अव्रत परिणाम से अशुभ प्रकृतियों का बंध होता है, किंतु मोक्ष शुभ अर्थात् पुण्य, अशुभ अर्थात् पाप दोनों प्रकार के कर्मों का अभाव होने से होता है। इस कारण मुक्ति का इच्छुक मुनि इन व्रत और अव्रत दोनों को ही त्यागता है अर्थात् इनमें करने न करने का अभिमान नहीं करता। ज्ञानीपुरुष व्रत भी पाल रहा है, पर व्रत के करने में उसे ऐसा आग्रह नहीं है जैसा कि वह स्वरूप में अपना आग्रह बनाये हुए है कि मैं चैतन्यस्वरूप हूँ। इस तरह का हठ नहीं है कि मेरा व्रत करना ही काम है, व्रत ही मेरा सर्वस्व है। वह तो परम्परा के कारण व्रत करता है पर व्रत में आत्मीयता का आग्रह नहीं रखता है। और अव्रत में तो रहेगा ही क्या? तो ज्ञानी पुरुष पुण्य तथा पाप दोनों प्रकार के भावों से रहित केवल ज्ञानमात्र अपने को निरखता है और उस ही ज्ञानस्वरूप में आत्मवैभव का आग्रह रहता है।

श्लोक-1582

प्रागसंयममुत्सृज्य संयमैकरतो भवेत्।

ततोऽपि विरमेत्प्राप्य सम्यगात्मन्यवस्थितिम्॥1582॥

अब अव्रत का, असंयम का त्याग कर संयम में अनुरक्त होवे, पश्चात् सम्यक भली प्रकार से जब आत्मा में अवस्थित बनने लगे तो उस संयम से भी विरक्त हो जाय। त्यागमार्ग की ऐसी विधि है कि पहिले तो तत्त्वज्ञानी बने, फिर असंयमभाव को त्यागे, संयमभाव को ग्रहण करे और जब उस संयमी जीव के ऐसी दृढ़ अवस्थित हो जाय आत्मा में कि आत्मानुभव समय-समय पर होता रहे। आत्मा में मग्नता बनने लगे तो फिर वह संयम को ही खोजकर संयम और असंयम दोनों प्रकार के विकल्पों से छुट्टी प्राप्त करे, त्याग की विधि यह है, न कि कोई ऐसा सुनकर कि शुभ भाव का भी छोड़ना बताया है, अशुभ भावना का भी जोड़ना बताया है। तो कम से कम पहिले एक से निपट लें, याने शुभ भाव से निपट ले बाद में अशुभ भाव से निपटने की कोशिश करेंगे। पहिले असंयम का अर्थात् अशुभ भाव का त्याग बताया है। जब आत्मा में ऐसी स्थिति हो जाय कि आत्मा में मग्न रह सके तो फिर वह संयम भाव का परित्याग करे, ऐसा परित्याग क्या करना है? जब आत्मा की ऐसी उच्च स्थिति बन जाती है तो संयम के विकल्प भी उनके छूट जाया करता है।

श्लोक-1583

जातिलिङ्गमिति द्वन्द्वमङ्गमाश्रित्य वर्तते।

अङ्गात्मकश्च संसारस्तस्मात्तद्वितयं त्यजेत्॥1583॥

अब लोक में ये विकल्प भी हुआ करते हैं कि मैं इस जाति का हूँ और अनेक लिङ्ग का हूँयाने पुरुष हूँ, स्त्री हूँ आदिक विकल्प भी रहते हैं। और देख लो व्यवहार में कि स्त्री लोग अपने चित्त में कैसी बुद्धि बनाये कि मैं स्त्री हूँ। बोल-चाल, रंग-ढंग, उठना-बैठना, वस्त्रादिक पहिनना सभी बातों में प्रति समय ऐसी वासना झलकती है कि इस जीव को ऐसी दृढ़वासना है कि मैं स्त्री हूँ। यही बात पुरुषों में है। पुरुष भी अपने को यही अनुभव करते हैं कि मैं पुरुष हूँ और वैसी ही उनकी प्रवृत्तियाँ हैं। ये सब प्रवृत्तियाँ देहमें आत्मीयता की बुद्धि रखने के कारण हैं। आचार्य देवों ने बताया है कि इस शरीर में आत्मीयता की बुद्धि को छोड़ना चाहिए। मैं अमुक जाति का हूँ, वैश्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, अग्रवाल हूँ, खंडेलवाल हूँ, अमुक हूँ— इस प्रकार की जो शरीर

में आत्मीयता की बुद्धि रहती है, यह बुद्धि ही इस आत्मा को उन्नति से रोकती है। और इस बुद्धि में यह देख लो कि हर एक कोई कुछ प्रकृति से अपनी जाति को दूसरे से कुछ उच्च मानता हैं। कुछ वासना ऐसी रहती हैं। बहुत कम लोग ऐसे हैं कि जो यह जानते हों कि और लोग भी मेरे ही समान हैं अथवा मेरे से भी बढ़कर हैं। कुछ ही लोग ऐसा सोचते हैं। प्रायः सभी के यह वासना बनी है कि जिस जाति में हुआ है वह उसी को उच्च मानता है उसी को सबसे अच्छा और चतुर समझता है। एक बार मैं बरहानपुर से नैनागिरि में पैदल जा रहा था कोई 18-20 मील की जगह थी। तो साथ में एक गाँव का हरिजन भी साथ में था। और उनमें भी कोई और छोटी जाति का था। तो रास्ते में हमारी और उसकी खूब खुल-खुलकर बात होने लगी। खूब दिल खोलकर वह भी बातें करे और हम भी। समय तो काटना ही था। तो हमने सभी जातियों के नाम लेकर उससे पूछा कि लोग कैसे होते, ये लोग कैसे होते? उसने बहुत-बहुत बताया। आखिर निष्कर्ष यही था कि वह अपने से सबसे चतुर ईमानदार बताने लगा। तो मनुष्यों में प्रायः करके प्रकृति ऐसी है कि जो जिस जाति में उत्पन्न होता है वह अपनी जाति को महत्त्व देता है। तो जैसे लोग अपनी जाति का विकल्प रखते ऐसे ही मैं स्त्री हूँ, अथवा मैं पुरुष हूँ— इस प्रकार की शरीर में आत्मीयता की दृढ़बुद्धि बनी हुई है। देह को आत्मा समझ रहे हैं। तो देह के आश्रय से ही जाति है और लिङ्ग है, ऐसे ही मुनि होना, श्रावक होना, अर्जिका होना, त्यागी होना ये भी शरीर के आश्रित भेष है। जैसे दो चद्वर लँगोटी पहिने सो क्षुल्लक है, जो नग्नभेषधारी है वह मुनि है, यों ही उस मुनि को भी भेष में आग्रह हो जाय कि यह मैं साधु हूँतो उसने क्या किया कि यह भेष तो था शरीर के आश्रय से और उसने उस भेष में ममता करके, आग्रह करके शरीर का ही आग्रह किया। जो पुरुष शरीर का आग्रह करता है वही तो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी कहलाता है। तो ज्ञानी पुरुष जाति और लिङ्ग के विकल्प का परित्याग करते हैं। अर्थात् ज्ञानियों को न अपनी जाति पर अभिमान रहता है, न अपने भेष पर। वह तो अपने आपको वेषों से रहित विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप मानता है। यह बात जब तक चित्त में नहीं समाती तब तक समझिये कि हम धर्मपालन नहीं कर रहे हैं। शरीर से निराला ज्ञानानन्दस्वरूप मैं आत्मा हूँ, इस प्रकार की बुद्धि जब तक नहीं बनती तब तक समझना चाहिए कि वह धर्मपालन में नहीं है। यों लोकरूढ़ि से किसी भी बात में धर्म मानकर उसके लिए प्रवृत्ति कर रहे हैं। कोई सा भी कार्य हो वह विधि सहित हुआ करता है। व्यापार का कार्य भी विधिपूर्वक होता है तो ढंग से चलता है। ऐसे ही धर्म की बात भी विधिपूर्वक हो तो उसका विभाव होता है। धर्म की विधि है कि सर्वप्रथम मूल में अपना यह दृढ़ निर्णय होना चाहिए कि मैं शरीर से निराला केवल ज्ञानानन्दस्वरूप अंतस्तत्त्व हूँ, अमूर्त हूँ, जो छेद से छिदा नहीं जा सकता, भेद से भेदा नहीं जा सकता, ग्रहण में नहीं आ सकता, बंधन में नहीं आ सकता, ऐसा यह ज्ञानमात्र में आत्मतत्त्व हूँ, पहिले यह निर्णय हो तो समझिये कि हम धर्मपालन बराबर विधि से कर रहे हैं। यह बात जिनके होती है वे शरीर में आत्मबुद्धि नहीं करते, उनकी तो यह दृढ़प्रतीति है कि मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र

अमूर्त आकाशवत् निर्लेप अंतस्तत्त्व हूँ। जैसे कोई पुरुष ऐसी स्थिति में आते हों कि अंधे के कंधे पर लँगड़ा बैठा है तो उसे देखकर लोग ऐसा ख्याल करते कि देखो यह अंधा ही तो चल रहा है। उस लंगड़े की दृष्टि को अंधे में जोड़ते हैं। इसी प्रकार जो अज्ञानी जीव हैं वे शरीर को ऐसा चलते-फिरते देखकर ऐसा सोचने लगते हैं कि देखो यह शरीर कैसा चल रहा है, यह पिण्ड कैसा दिख रहा है? तो दिखाता तो आत्मा है, मगर आत्मा के देखने को शरीर में जोड़ देते हैं। शरीर जो दिख रहा है, चल रहा है उसे ही चलता हुआ, देखता हुआ समझता है। उसे यह परख नहीं कि दिखने वाला यह आत्मा नहीं है, और ये जो क्रियाकलाप हो रहे हैं ये सब शरीर के आधार में हो रहे हैं। तो ये अज्ञानीजन आत्मा और देह को भिन्न-भिन्न नहीं मान पाते। वे तो यह शरीर दिख रहा है उसी को सर्वस्व समझते हैं। तो इस शरीर में ही आत्मीयता की बुद्धि होने में सारे क्लेश लग रहे हैं। सम्मान और अपमान—ये दोनों भी इस देह में आत्मीयता की बुद्धि करने में होते हैं। जो ज्ञानी जीव होगा उसे शरीर और आत्मा में पूर्ण भिन्नता विदित है, अतः वह जानता है कि इस मुझ ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का न कोई सम्मान कर सकता है और न अपमान। उस ज्ञानी पुरुष में ये व्यर्थ के विकल्प नहीं उठते, अतः वह सर्वविकल्पों के बोझ से रहित हो जाता है।

श्लोक-1584,1585

अभेदविद्यथापङ्गोर्वेति चक्षुरचक्षुषि।

अङ्गेपि च तथा वेत्ति संयोगाद्दृश्यमात्मनः॥1584॥

भेदविन्न यथा वेत्ति पङ्गोश्चक्षुरचक्षुषि।

विज्ञातात्मा तथा वेत्ति न काये दृश्यमात्मनः॥1585॥

जैसे ऊपर उस अज्ञान की वृत्ति समझाने के लिए अंधे लंगड़े का दृष्टान्त दिया है जाता कि लोग चलते हुए अंधे को निरखकर दोनों ही बातें अंधे में मान बैठते हैं कि यह नेत्रों से देखता भी है और जानता भी है। लेकिन जिसे भेदविज्ञान हुआ है, लंगड़े और अंधे के स्वरूप में जानकारी हुई है वह यह समझता है कि लँगड़ा देखता है, रास्ता बता रहा है और अंधा अपने शरीर से चल रहा है, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष शरीर में और आत्मा में भेदविज्ञान किए हुए है तो वह भली प्रकार जानता है कि देह की क्रिया देह में

होती है और आत्मा का भाव आत्मा में होता है। वह आत्मा की बात को देह में नहीं लगाता, किन्तु यथार्थ समझता है कि जो जाननहार है सो तो आत्मा है और जो रूप, रस, गंध, स्पर्श का पिण्ड है वह सब अनात्मा है। ऐसा भेदविज्ञान किए हुए है, सो इस सम्बंध में भी निःशंक होकर यथार्थ जानता है कि जानन देखनहार तो आत्मा है, शरीरनहीं है। यों अपने-अपने स्वरूप की दृष्टि अपने-अपने पदार्थ में है, ऐसा ज्ञानी पुरुष जानता है और ज्ञानीपुरुष इसी सम्यग्ज्ञान के प्रताप से अन्तरङ्ग में प्रसन्न रहा करता है। हम आपको भी चाहिए कि धर्म के लिए इतना परिश्रम करते हैं तो यह भी समझ लें कि हमारा धर्म क्या है, हम क्याहैं? अपने स्वरूप का परिचय होगा तो धर्मपालन उनका सही होगा और सुगम होगा। हमें चाहिए कि भेदविज्ञान के प्रयत्न में अधिकाधिक लगे, जिससे भिन्न वस्तुओं को भिन्न जानकर अपने आपको शान्ति में परिणमा सकें।

श्लोक-1586

मत्तोन्मत्तादिचेष्टासु यथाज्ञस्य स्वविभ्रमः।

तथा सर्वास्वस्थासु न क्वचित्तदर्शिनः॥1586॥

ज्ञानी जीव को सभी अवस्थाओं में आत्मा की बेसुधी नहीं रहती। जैसे कितने ही लोग ऐसी शंका रखते हैं कि जब मरणकाल आता है तो इन्द्रियाँ काम नहीं करती, बेसुधी हो जाती है तो वहाँ आत्मा का इसे चेत न हो सकता होगा, लेकिन ऐसी बात नहीं है। जैसा संस्कार है, जैसी भीतर में ज्ञानप्रकाश है, बेसुधी इन्द्रिय की हो गई, ऊपर से अचेत लग रहा है, लेकिन भीतर में वही वासनाहै, वही ज्ञानप्रकाश है। ज्ञानी पुरुष के मरण के समय बेसुधी हो जाय तो भी ज्ञान का काम बराबर रहता है। तो यहाँ एक दृष्टान्त विरुद्ध में दे रहे हैं कि जैसे अज्ञानी पुरुष को आत्मा का भ्रम आत्मा की अचेत तब होती है जब कोई पागल हो जाय या मदिरा पीकर बेहोश हो जाय तो लोग समझते हैं कि यह अचेत हो गया और जब जग जाता है तो लोग समझते हैं कि इसके चेत हो गया, लेकिन तत्त्वज्ञानी पुरुष की बात सब अवस्थाओं में अचेत की रहती है। उसने अपनेआपमें अपना ज्ञान, अपना अनन्त आनन्द पाया है। उस पुरुष के ऐसा चेत हुआ है कि कुछ भी अवस्थाएँ गुजर जायें पर उसे चेत रहता है। जैसे जिसके परिजनों का संस्कार रहता है तो वह स्वप्न में भी इन परिजनों को ही अपने चित्त में बसाये रहता है। गुरुजी सुनाते थे कि एक दफे स्वप्न में हम गंगानदी में गिर गए और फिर ऐसे किनारे बहकर लगे जहाँपर एक रागी देवता का मंदिर था। वहाँ पहुँचने पर उस मंदिर के माली ने मुझे उस देवता का नमस्कार करने के लिए जोर दिया। उसने बहुत कहा पर हमने

नमस्कार नहीं किया। यह स्वप्न की बात है। तो ज्ञानी पुरुष सभी अवस्थाओं में जागरूक रहता है। जैसा जिसका संस्कार होता है स्वप्न में भी वही बात चलती है। और तो क्या, स्वप्न में भी आत्मानुभव हो जाता है। जैसे स्वप्न में जंगल, शेर, हाथी, घोड़ा, तालाब आदि नहोने पर भी दिख जाते हैं ऐसे ही आत्मस्वरूप के दर्शनाभिलाषी को स्वप्न में भी आत्मस्वरूप के दर्शन हो सकते हैं और जो आनन्द जगने में पाता था वही आनन्द वह स्वप्न में भी पाता है। तत्त्वज्ञानी पुरुष का ऐसा दृढ़श्रद्धान रहता है कि सोती हुई अवस्था में भी जागरूक रहता है। जैसे स्वप्न में अनेक चीजें सभी लोग प्रायः देखा करते हैं ऐसे ही ज्ञानी पुरुष अपने आपके ही जानने का काम करे यह बात असम्भव नहीं। जैसे स्वप्न में देवदर्शन करते, मंदिर देखते, मूर्ति देखते ऐसे ही आत्मज्ञानी पुरुष आत्मा की बात जानने लगे तो इसमें अचरज की कोई बात नहीं है। और इस बात में उसका ऐसा दृढ़निश्चय की स्वप्न में भी दुःख का अनुभव हो सकता है। तो तत्त्ववेदी पुरुष के सभी अवस्थाओं में आत्मा का विभ्रम नहीं होता। इसके फल में सभी अवस्थाओं में कर्मनिर्जरा चलती है। कभी कोई डाकू चार उस तत्त्ववेदी पुरुष को सताये भी, हथियारों से बेहोश भी कर दें तो भी उसे अपने आपका प्रकाश मिलता है और उस बेहोशी में भी उसके कर्म निर्जरा है।

श्लोक-1587

देहात्मदृग्म मुच्येत चेज्जागर्ति पठत्यपि।

सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्येत स्वस्मिन्नुत्पन्ननिश्चयः॥1587॥

जिस देह की आत्मा की दृष्टि है वह पुरुष मिथ्यादृष्टि है। बहिरात्मा है, वह यदि जानता है, पढ़ता है तो भी कर्मों से नहीं छूटता। धर्मपालन के लिए सबसे बड़ी मूल बात यह है कि शरीर में आत्मबुद्धि न होना। शरीर से भिन्न निराला ज्ञानानन्दस्वरूप मैं हूँ—यह बात अगर प्रतीति में आये तो धर्मपालन हुआ समझिये। और यही बात प्रतीति में नहीं है। कभी किसी भावना से श्रावक के योग्य तपश्चरण करे। साधु के योग्य तपश्चरण करे तो करे, पर भीतर में जिसने आत्मस्वरूप का स्पर्श नहीं किया वह कितने ही व्रत, तप, उपवास आदि करे पर उसका मोक्षमार्ग नहीं बन सकता। कारण यह है कि कर्मों की निर्जरा होती है अपने आपके निर्लेप स्वरूप का अनुभव करने से। अपने उस ज्ञानानन्दमात्र स्वरूप का प्रत्यय करने से कर्म हटते हैं। जहाँकर्मों से निराला केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपको माना तो जब निर्लेप अपने उपयोग को कर लिया जाय तो कर्मनिर्जरा होती है, पर उपयोग में ऐसा निर्लेप ज्ञान न कर सकने से उसकी देह पर बहुत दृष्टि रहती है। इस देह की ममता के कारण अपने ही शरीर को आराम से रखना चाहते हैं, दूसरे का उपकार करने की बात ही नहीं

सोचते। इस देह में कितनी आसक्ति है? इन्द्रिय के साधनों में ऐसी रुचि है कि चाहे सर्वस्व अर्पित हो जाय पर इन्द्रिय के विषयों की पूर्ति होना ही चाहिए ऐसी बुद्धि लगी है। वे पुरुष धर्मपालन नहीं कर सकते। धर्म नाम है आत्मा के स्वभाव का। स्वभाव है ज्ञान, किन्तु उसका पता नहीं है तो कर्मों की निर्जरा कहाँसे हो? उन कर्मों के निमित्तभूत पदार्थों की उपेक्षा कर देवे और अपने स्वभाव की आराधना में लगे तो कर्मों की निर्जरा है। जिस पुरुष को देह में आत्मा की बुद्धि है वह चाहे पढ़े, तपश्चरण करे, भजन पाठ करे, धर्म के नाम पर बड़े अनशन आदिक भी करे तो भी उसकी मुक्ति नहीं हो सकती, किन्तु जो तत्त्वज्ञानी पुरुष है, जो अपने आपको जाने कि यह मैं आत्मा हूँ, ऐसी बुद्धि जो रखता है वह सोया हुआ भी जागृत है। एक सम्यक्त्व की महिमा बतायी है। यहाँ ऐसा जानना कि जिसे अपने आत्मा के स्वभाव का परिचय हुआ है वह सो भी रहा है तो इन्द्रियों से सो रहा है, पर भीतर में ज्ञानप्रकाश बराबर बना है। यों समझिये कि जिसे जो चीज इष्ट है, जिसके मन में जो बात समाई है, सुप्त अवस्था में भी उस चीज का ज्ञान बना रहता है, उसे स्वप्न में भी वह चीज दिखती है।

तत्त्वज्ञानी पुरुष को अपने आपका स्वरूप समाय है। उसकी धुन है अपने को केवल ज्ञानरूप रखने की। जिसका ऐसा प्रयत्न है ऐसे पुरुष के भीतर में तत्त्व का ज्ञानप्रकाश बराबर बना रहता है। क्योंकि उसकी धुन है ना? तो उस ज्ञानप्रकाश के कारण वह मोक्षमार्ग में बराबर चलता रहता है। और यों समझिये कि भावना की दृष्टि में क्षोभ होता है। तो तत्त्वज्ञान की बात जिसके चित्त में है वह समझें कि संसार के दुःखों से दूर हो गया और जिसके इस देह में ही आत्मबुद्धि लगी है वह अच्छा खाना, अच्छा पहिनना, बड़ा-बड़ा शृंगार करना, दूसरों का दिल दुःखाना, दूसरों से बड़ा कहलवाना, अपने आपको बड़ा जाहिर करना आदिक प्रवृत्तियाँ करता है। जिसे इस शरीर में ही आत्मा की बुद्धि है वह धनी बनने की अपनी धुन रखता है। पर पुण्य के उदय में धन आता है। और पुण्य के उदय में जो धन आता हो सो ठीक है, पर में इस लोक में सबसे बड़ा वैभववान बनूँ, धनी बनूँ, ताकि लोग समझें कि यह बहुत बड़ा आदमी है। तो इस लक्ष्मी का आना यह कोई पाप नहीं, मगर उसकी धुनि बनाये, उसकी आशा रखे, अधिकाधिक धनी होने की चाह करे तो वह पाप का परिणाम है। पहिले तो यह देखिये कि धन की चाह रखने में कुछ आनन्द आया क्या? जब उस धन की चाह रखा तब आकुलित रहा और जब धन मिल गया तब भी आकुलता ही रही। जब धन आ गया तो और भी चाह बढ़ गयी। जो धन मिला है उसकी चाह नहीं रही बल्कि आगे की चाह हो जाती है। चाह का होना और चीज का मिलना—ये दोनों ही बातें एक साथ कभी नहीं हो सकती हैं। जब चाह और चीज दोनों का मेल नहीं बनता तो उसका आनन्द ही क्या है? तो चाह में तो आकुलता ही रहा करती है। तो इन जीवों ने अपना लक्ष्य बिगाड़ा है। लक्ष्य होना चाहिए था यह कि मनुष्यभव जो पाया है चौरासीलाख योनियों में भ्रमण करके नाना देह पार करके यह मनुष्यभव पाया है? आप सभी ने कल ही शायद अजायबघर में जाकर देखा होगा।

कितनी-कितनी तरह के जीव उसमें देखने को मिले होंगे। उसको देखकर यह भाव आना चाहिए कि यह जीव कैसे-कैसे शरीरों में बंधा फिरता है? इन नाना प्रकार की देहों में बसने का मूल कारण है अज्ञान।

एक इस मनुष्यभव में अपनी सम्हाल न कर सका तो यह जीव इस प्रकार के विचित्र शरीरों को धारण करता फिरता रहेगा। तो मनुष्य जन्म जो पाया है वह किसलिए पाया है? इसीलिए तो पाया है कि अपना मोक्षमार्ग बना लें। विषयसाधनों से इस जीव को मिलता क्या है? वृद्ध हो जाते हैं और फिर पछतावा ही हाथ रहता है, मरणकाल आ जाता है और फिर पछताना पड़ता है। तो भोगों के जुटाने में, धन के जुटाने में, संतानों के मिलाने में आखिर इन सब समागमों में इस जीव को अन्त में मिलता क्या है, सो खूब सोच लो। इनके लिए ही मनुष्य की जिन्दगी नहीं है, यह चित्त में रहना चाहिए कि भोगों के साधन जुटाने के लिए हमारा जीवन नहीं है। यह मनुष्यजीवन इसलिए है कि हम अपने स्वरूप को पहिचानें और उसकी ही दृष्टि रखकर धर्मपालन करें। लक्ष्य तो अपना यह होना चाहिए। फिर चूंकि गृहस्थी है सो आजीविका भी चाहिए तो उसका एक साधन बनने पर आजीविका का साधन बनाकर मन में यह लोभ न करें कि मुझे इतने खर्च बिना काम नहीं चलता। वहाँ तो यह विचार रखना चाहिए कि कैसा ही कितना ही धन आता है उसके अनुसार हम अपनी व्यवस्था बनायेंगे। हमें दूसरों से अपना बड़प्पन नहीं जताना है। उसमें कुछ भी तो तत्त्व नहीं रखा है। अपना लक्ष्य तो यह होना चाहिए कि इस जीवन का लाभ उपयोग धर्मपालन के लिए करना है, भोगसाधनों के लिए नहीं, ऐसा निर्णय हो और फिर जो आय हो उसके अनुसार अपनी आजीविका बनायें। यह सोचना भ्रम है कि मेरा इतने बिना काम नहीं चल सकता। जिनका चलता है उनको देखकर अपना भ्रम दूर कर लें, पर चित्त में जो हठी बना है, लक्ष्य बिगाड़ा है, उससे आकुलता मची है। यदि यह लक्ष्य बन जाय कि हमारा मनुष्य जीवन तो जैन दर्शन की सेवा के लिए है, अपने आत्मस्वरूप की उपासना के लिए है ऐसी दृष्टि बन जा यतो सब संकट हमारे दूर हो जायेंगे। जब तक अपने कल्याण की धुनि नहीं बनती तब तक उसे सब आकुलताएँ ही दिखती हैं। तो बतलाते हैं कि देह में जब तक आत्मबुद्धि है तब तक यह जीव चाहे जगे, चाहे पड़े, चाहे तपश्चरण करे, कुछ भी करे तो भी मुक्त नहीं होता। परन्तु तत्त्वज्ञानी पुरुष को सोई हुई अवस्था में भी जागृत सा समझिये याने उसे अपने आत्मज्ञान का पूरा प्रकाश है, यह तो अपने-अपने उपादान की बात है। जो जैसा उपादान लिए हुए है वह वैसा ही आगे परिणमता है, वह सोया हुआ हो चाहे जगा हुआ हो।

श्लोक-1588

आत्मानं सिद्धमाराध्य प्राप्नोत्यात्मापि सिद्धताम्।

वर्ति: प्रदीपमासाद्य यथाभ्येति प्रदीपताम्॥1588॥

एक व्यावहारिक उपाय से भी चलकर अपने आत्मकल्याण की ओर यह कैसे प्रवृत्त होता है? उस बात को इस श्लोक में दिखाया है। जैसे दीपक की बत्ती जलती है तो दूसरा दीपक उसके निकट ले जाते हैं तो वह भी आग जलने लगती है, इसी प्रकार सिद्ध प्रभु जो ज्ञानानन्दरस निर्भर हैं, सर्व दोषों से दूर हैं उन सिद्ध प्रभु की जो उपासना करेगा वह आत्मा भी सिद्ध बन जायगा। यह एक व्यावहारिक उपाय से कथन किया गया है। उसमें भी मर्म यह समझना कि सिद्ध भगवान की उपासना करने के समय में इसे अपने आपके स्वभाव की सुध होती है क्योंकि जिस उपयोग ने निर्दोष ज्ञानमात्र आत्मा की उपासना का काम किया है, कर रहा है तो चूँकि ऐसा ही यह आत्मा है जिसका उपयोग इस निर्दोष ज्ञानपुञ्ज में लग रहा है तो निर्दोष ज्ञानपुञ्ज में उपयोग लगने का नाम अपना निर्दोष ज्ञानस्वभाव है। यह मेरे लक्ष्य में आ जाता है, इस कारण वह भी मुक्त हो जाता है, पर मर्म उसके अन्दर यह है कि जो सिद्ध प्रभु की उपासना करेगा वह स्वयं सिद्ध बन जायगा। यह तो बताया है एक व्यवहार साधन। अब एक अध्यात्म साधन बतला रहे हैं परमात्मपद की प्राप्ति के लिए।

श्लोक-1589

आराध्यात्मानमेवात्मा परमात्मत्वमश्नुते।

यथा भवति वृक्षः स्वं स्वेनोद्धृष्य हुताशनः॥1589॥

जैसे की बांसों का वन बांसों की परस्पर की रगड़ से जल उठता है इसी प्रकार यह आत्मा अपने आपके आत्मस्वरूप की उपासना से स्वयं प्रदीप्त हो जाता है, ज्ञानविकास उसका परिपूर्ण हो जाता है, परमात्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है। कुछ तो थोड़ी बहुत ऐसी दृष्टि बनाकर अनुभव भी कर सकते कि जब यह उपयोग सबको छोड़कर केवल अपने आत्मा के स्वरूप के जानने में लगता है तो कितना बोझ सिर पर से हट जाता है? और जब यह आत्मा के स्वरूप में नहीं लग पाता, वहाँ दृष्टि नहीं रहती तो परपदार्थों में दृष्टि रहती है, फिर कितने चिंता शोक आदिक बोझ अपने आप पर लद जाते हैं? तो उन बोझों से दूर होने का नाम मोक्ष है। संकटों से, क्लेशों से, जन्म मरण से रहित हो जाने का नाम मोक्ष है। यह बात कैसे बनेगी? पहिले अपने आपमें यह श्रद्धा हो कि मैं ऐसा हो सकता हूँ, मेरा यही स्वभाव है, कर्मों से, शरीरों से मैं दूर हो सकता हूँ, क्योंकि स्वरूप ही मेरा ऐसा है। इस आत्मस्वरूप में ये कर्म ये शरीर नहीं बसे हैं। मेरा स्वरूप तो मात्र ज्ञानरूप है। तो क्या ऐसा बन नहीं सकता यह? बन सकता है। न बन सकने की कोई बात

नहीं। यदि यह श्रद्धा हो कि मैं आत्मा ऐसा हो सकता हूँ। अभी तो अपनी ही भूल में मैं इन शरीरों में बंधा रहा। बंधा भी क्या रहा, इन शरीरों से बंधा हुआ भी यह आत्मा शरीरों से बंधा नहीं है। जैसे गाय के गले को लोग रस्सी से बाँध देते हैं तो वहाँ भी गला नहीं बाँधा, रस्सी का एक छोर दूसरे छोर से बाँध दिया गया है। गाय का गला तो पूर्ण मुक्त है। ऐसे ही अपने आपमें देखें—कर्मों में कर्म बंधे हैं, शरीर के परमाणु शरीर में बंधे हैं पर ऐसी हालत में भी गाय के गले की तरह यह आत्मा किसी चीज से बंधा नहीं है। जैसे हाथ में कोई रत्न लेकर मुट्टी में बाँध लिया तो बन्धन में तो मुट्टी है हाथ में, रत्न तो उसके भीतर पूरा का पूरा मौजूद है, वह बंधा हुआ नहीं है। बराबर मुट्टी से अलग है। इसी तरह शरीर और कर्म से यह आत्मा अवस्थित है, बहुत जकड़ा हुआ है, इस पर भी स्वरूप में दृष्टि लगावें तो आत्मा कुछ भी बंधा नहीं है, जकड़ा नहीं है। यह स्वयं अपनी स्वतन्त्रता से जकड़ जाता है। जैसे किसी का किसी से प्रेम बंध बढ़ जाय तो यह खुद उससे बंधा-बंधा फिरता है, एक पिता जो बड़ा समर्थ है, जवान है, वह भी इस स्नेह के कारण एक छोटे से बालक से बंधा-बंधा फिरता है। तो उस बालक ने उस जवान पिता को नहीं बाँधा, वह पिता ही खुद अपनी कल्पना से अपनी ही गलती से बंध गया। ऐसे ही कर्मों का बन्धन क्या बन्धन है, शरीर का बन्धन क्या बन्धन है? शरीर और कर्म ये दोनों इस आत्मा से बिल्कुल भिन्न चीज हैं—है तो यह हालत पर यह आत्मा अपनी ही गलती से इन शरीरों में बंधा-बंधा फिर रहा है। जैसे गाड़ियों में टिकटचेकर लोग आते हैं। उन्होंने अगर किसी का सामान ज्यादा देखा और टिकट वह कम का लिए हे तो झट अपनी टिकट को अपनी जेब में धर लेता है। तो वह व्यक्ति क्या करता है कि जहाँ-जहाँ भी टिकटचेकर जाता है उसके पीछे-पीछे वह भी लगा फिरता है। चूँकि उसका 20-25 रुपये का टिकट है तो उन रुपयों के स्नेह के कारण वह व्यक्ति उस टिकटचेकर से बंधा-बंधा फिरता है। ऐसे ही यह आत्मा भी परवस्तुओं के स्नेह के कारण इन कर्मों से शरीरों से बंधा-बंधा फिर रहा है। इन कर्मों के बन्धन से तथा शरीरों के बन्धन से छूटने का उपाय है ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति। जिन अरहंत और सिद्ध भगवान की हम आप उपासना करते हैं वे कर्मों से और शरीरों से मुक्त हैं। वे हम आपकी मुक्ति न करा देंगे। उनकी उपासना करके हम आप उनके गुणों को अपने में उतारकर मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। जैसे सिद्धप्रभु ने अपने आत्मस्वरूप की उपासना की वैसी ही उपासना हम आपको भी करनी होगी तब मुक्ति हो सकती है। अपने परिणाम खोटे बनाकर हम आप इस संसार में रुल रहे हैं। इस संसार के आवागमन से छुटकारा पाने का उपाय है एक आत्मज्ञान। हम आपको सोचना चाहिए कि अनादिकाल से इस संसार में रुलते चले आ रहे हैं, बड़ी मुश्किल से यह मनुष्यभव मिला है। इस दुर्लभ मनुष्यभव को पाकर अपना लक्ष्य आत्मकल्याण का होना चाहिए। इस आत्मस्वरूप की उपासना करें। इसी से हम आपको परमात्मपद प्राप्त हो सकता है।

श्लोक-1590

इत्थं वाग्गोचरातीतं भवयन्तपरमेष्ठिनम्।
आसादयति तद्यस्मान्न भूयो विनिवर्तते॥1590॥

यह आत्मा वचनों के विषयभूत नहीं है। कोई आत्मा वचनों से जानना चाहे तो अशक्य है। वचनों से तो जो कुछ बताया जाय उस तरह का कोई अपना प्रयत्न करे तो प्रयत्न से आत्मा जाना जा सकता है, जिसे पूजन कहते हैं। आचार्य उपदेश करते हैं कि आत्मा ज्ञानमात्र है। तो जिसे आत्मानुभव की इच्छा हो वह आत्मा को इस प्रकार विचारे कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। ज्ञान क्या ज्ञान करता है? ज्ञान का काम जानना है। जानने का क्या स्वरूप है? जानने के साथ रागद्वेष न हो तो जानने का सही स्वरूप होता है। किसी पदार्थ का विकल्प न हो, प्रेम न हो, द्वेष न हो, केवल जाननमात्र जो स्वरूप है। उसमें अपने आपको अन्तरङ्ग में तर्कें, केवल ज्ञानप्रकाश मात्र हूँ, इस प्रकार से अपने ज्ञानोपयोग का कोई प्रयत्न करे तो आत्मा का अनुभव होगा। वह आत्मा वचनों के विषय से अतीत है। जैसे कोई मिश्री का स्वाद जानना चाहें तो वचनों से कितना ही समझाया जाय पर स्वाद नहीं आ सकता। स्वाद तो खाने में ही आयगा। इसी प्रकार आत्मा का अनुभव वचनों से न आयगा। आचार्य भगवंत कितना भी उपदेश करें उनके वचनों से आत्मा का अनुभव अतीत है। हाँ जो मार्ग उन्होंने बताया उस मार्ग पर चलने का प्रयत्न करें तो आत्मा का अनुभव हो सकता है। ऐसा वचनों के विषय से अतीत जो परमपद हैं सिद्ध अरहंत के स्वरूप और यह सहज ज्ञानस्वभाव ज्ञानमात्र ऐसे परमतत्त्व की भावना इस प्रकार भाना चाहिए कि फिर कभी आत्मा के अनुभव से न चिगें, फिर आत्मा का अनुभव न छूटे ऐसे सिद्धपद को प्राप्त होता है।

श्लोक-1591

अयत्नजनितं मन्ये ज्ञानिनां परमं पदम्।
यदात्मन्यात्मविज्ञानमात्रमेव समीहते॥1591॥

यदि कोई आत्मा आत्मा में ही विज्ञानमात्र स्थिति को चाहता है, मेरा आत्मा ज्ञानमात्र रहे, मेरा उपयोग केवल जाननमात्र रहे, ज्ञाताद्रष्टा की मेरी स्थिति रहे। ऐसा यदि कोई चाहता है तो समझना चाहिए कि उस ज्ञानी के वह परमपद बिना किसी क्लेश के, बिना किसी परिश्रम के प्राप्त हो ही गया। ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं कि हम तो यही समझते हैं, क्योंकि अन्त में होना क्या है? कोई पुरुष यदि धर्म के मार्ग में चलता है तो चल रहा है। चल-चलकर समृद्धि प्राप्त करके, आत्मा में मग्न होकर आखिर उसे मिलेगा क्या? मिलेगा यह कि वह आत्मा अपने को केवल ज्ञानमात्र अनुभव करता रहे। तो इस तत्त्व को जो चाहता है भीतर से रुचि पूर्वक उसकी ही धुनि बनाता है तो समझिये कि उसको परमपद प्राप्त हो गया। प्रत्येक व्यक्ति के चित्त में कोई न कोई आखिरी अभिलाषा रहती है कि मैं यह बनना चाहता हूँ। कोई कहेगा कि मैं ऐसा व्यापार बढ़ाना चाहता हूँ। कोई कहेगा कि मैं ऐसा वैभववान बनना चाहता हूँ। यों कोई कुछ बतायेगा कोई कुछ। ज्ञानी पुरुष की यह अभिलाषा रहती है कि मैं केवल ज्ञाता द्रष्टा बना रहूँ। इसके सिवाय मैं अन्य कुछ नहीं चाहता। यदि किसी का इस प्रकार का उत्तर मिले तो समझ लो कि उसकोवह पद प्राप्त हो ही गया, इसमें कुछ संदेह नहीं रहा। ऐसा चाहने वाला अपनी उस चाह के अनुकूल प्रयत्न करेगा। मूर्छाहो जायगी पर उसकी उपेक्षा करेगा। अपने आपमें अपना ज्ञानरूप अवलोकन करने की धुन बनायेगा और ज्ञाताद्रष्टा रहने की स्थिति बनायेगा, वह मुक्त भी हो जायगा। इससे यह शिक्षा लेना है कि अपनी ऐसी इच्छा बना लें कि मुझे तो आखिर निर्विकल्प ज्ञाता द्रष्टा होना है और कुछ न चाहिए। वैभवशील नहीं होना है। यह तो सब मायारूप है इससे मेरी कोई सिद्धि नहीं है। लोगों में मुझे अपनी महत्ता नहीं बताना है, मैं तो अपने आपमें यही चाहता हूँ कि मुझमें किसी पर का उपयोग न रहे। मैं केवल ज्ञानमात्र, जाननदेखनहार रहूँ। मेरे में कोई रागद्वेष न रहे, ऐसी कोई अपनी इच्छा बनाये तो समझिये कि वह धर्मपालन कर रहा है।

श्लोक-1592

स्वप्ने दृष्टविनाशोपि यथात्मा न विनश्यति।

जागरेऽपि तथा भ्रान्तेरुभयात्रविशेषतः॥1592॥

यह आत्मा अमूर्त है, अविनाशी है, इसका कभी अभाव न होगा। सों यों समझिये कि कदाचित भ्रान्ति से कोई अपने मरा हुआ भी मान ले (जैसे कि स्वप्न में भी कभी-कभी अपन को मरा हुआ देख लिया जाता है किसी

सिंह द्वारा मारा गया, या किसी तालाब में डूब गया, या किसी मगर द्वारा खाया गया) तो उससे कहीं उसका आत्मा नहीं नष्ट हो गया। वह तो जग जाने पर अपने को जिन्दा पाता है। तो इसी तरह से समझ लो जगते हुए भी विनाश नहीं होता। दोनों जगह विनाश का केवल भ्रम है। तो जैसे कोई घर के लोग या इष्ट जन सोचे कि मैं मर रहा हूँ, तो यह उन घर के लोगों का या उन इष्टजनों का कोरा भ्रम है कि यह मर रहा है और मरने वाला का भी कोरा भ्रम है कि मैं मर रहा हूँ अरे उस आत्मा का तो कभी मरण होता ही नहीं। जो सद्भूत वस्तु है उसका कभी विनाश ही नहीं होता। जैसे पुद्गल में एक-एक परमाणु सत् हैं, उनकी केसी ही स्थिति हो जाये, पर परमाणु कभी नष्ट न होंगे। बहुत से परमाणु मिलकर जला दिये जायें तो चाहें वे परमाणु जलकर राख रूप में हो जायें, हवा में उड भी जायें पर वे परमाणु नष्ट नहीं होते। जितने परमाणु थे उतने के उतने ही परमाणु बने रहते हैं। नवीन परमाणु उत्पन्न नहीं होते और पुराने परमाणु विनष्ट नहीं होते हैं, ऐसे ही जितने आत्मा हैं, वे सब अनन्त आत्मा कभी नष्ट नहीं होते। और जो कुछ भी नहीं है वह कोई चीज बन जाय तो ऐसा नहीं हुआ करता। जो है वह सदा रहेगा। अपने आपको कोई मरा हुआ भी समझ ले तो वह उसका कोरा भ्रम है। इष्टजन केवल अपने स्वार्थ को तकते हैं। न तो किसी परिजन की अथवा इष्टजन की उस शरीर से प्रीति है और न आत्मा से। यथार्थ दृष्टि से सोचो तो यह बात बिल्कुल तथ्य की कही जा रही है। शरीर से तो वे कोई प्रीति करते नहीं, क्योंकि शरीर से यदि प्रीति करते होते तो मरने के बाद उस शरीर को अपने घर से बाहर न जाने देते। पर मर जाने पर फिर सभी को जल्दी पड़ती है कि इसे यहाँ से जल्दी ले जावो। तो शरीर से कोई प्रीति नहीं करते। और इस आत्मा से कोई प्रीति कर ही नहीं सकता। यदि किसी ने इस आत्मा से प्रीति कर ली तो वह भी जैसा वह अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा है वैसा ही वह भी रह गया। तो कोई पुरुष न इस शरीर से प्रीति करता है और न इस आत्मा से प्रीति करता है। स्वयं में कषाय की वेदना जगती है तो उस वेदनाको शान्त करने के लिए, उस पीड़ा से दूर होने के लिए जो कुछ कल्पना में बात बनती है वह रागभरी चेष्टा करता है, स्नेह बढ़ाता है। लेकिन इस रागभरी चेष्टा से, स्नेह के देखने से शान्ति नहीं हो पाती। रागद्वेष करके यह जीव चैन मानता है। वास्तव में कोई किसी से प्रीति नहीं रखता। आत्मा मरता है नहीं, यह जीव इस शरीर को छोड़कर अन्य शरीर को ग्रहण कर लेता है, मरता नहीं है, क्योंकि आत्मा एक अविनाशी तत्त्व है। तो जैसे स्वप्न में अपना मरण दिखे तो वह कोरा भ्रम है, ऐसे ही यही निर्णय रखिये कि हर समय हम आपके शरीर का वियोग हो रहा है, आत्मा तो अमर है।

श्लोक-1593

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्त कल्पनाच्युतम्।

चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना॥1593॥

हे आत्मन् ! तू आत्मा को आत्मा में ही अपने आपको ऐसा जान कि मैं अतीन्द्रिय हूँ। ऐसा जानने के लिए बाहर में कोई साधन न चाहिए कि कहीं दीपक हो, उजेला हो तो मैं आत्मा को जानूँ, या किसी घर में बैठा हुआ हो वह आत्मा तो मैं उसे जानूँ। ऐसी बात है नहीं। अपने आपमें अपने आप आत्मा को जान लेना है। तो हे आत्मन् ! अपने आपमें अपने ज्ञानबल से अपने को जानें। कैसे जानें कि मैं अतीन्द्रिय हूँ? कोई चाहे कि मैं कान से सुनकर, हाथ से छूकर, जिह्वा से चखकर, नाक से सूँघकर, तथा नेत्रों से देखकर मैं आत्मा को जान लूँ तो वह नहीं जान सकता है। यह आत्मा किसी भी इन्द्रिय के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। मन का भी विषयभूत यह आत्मा नहीं है। यद्यपि मनोबल से बहुत कुछ प्रयत्न कर लिया जाता है आत्मा को समझने के लिए। मन द्वारा इतना बड़ा भारी प्रयत्न हो सकता है आत्मा के समझाने का कि आत्मा के अतिनिकट इस उपयोग को यह मन पहुँचा दे। पर आत्मा से साक्षात् मिलन नहीं करा सकता। निकट पहुँचा दे इतना तो किसी विशुद्ध मन का काम बन जायगा, पर अनुभव केवल ज्ञानबल से अपने आपके आत्मा को जानेगा। मन का काम है विकल्प करना, तो विकल्प की स्थिति में आत्मा नहीं जाना जा सकता है। यों समझो जैसे कई द्वारपाल राजदरबार में पहरे पर खड़ा है, कोई राजा से मिलने आये तो द्वारपाल इतना कर सकता है कि उसे राजा के निकट पहुँचा दे और बता दे कि यह राजा है। पर राजा से मिलना, बात करना यह द्वारपाल का काम नहीं है। इसी प्रकार यह मन इस आत्मा के निकट पहुँचाने के लिए द्वारपाल का काम करता है। पर आत्मा का अनुभव कराना यह मन का काम नहीं। वहाँ मन शान्त हो जाता है, एक निर्विकल्प स्थिति हो जाती है तब उस आत्मा का अनुभव होता है। तो यह आत्मा इन्द्रिय और मन से परे है। इसलिए कहा गया कि यह आत्मा कल्पना से भी च्युत है। तो हे आत्मन् ! तू अपने आपको अपने आपमें ऐसा ही समझ कि मैं अतीन्द्रिय हूँ, कल्पना से बाहर ही, इसका कोई नाम नहीं, अर्थात् वचनों द्वारा आत्मा को जान नहीं सकता, अतः ये वचन अनिर्देश्य हैं और यह आत्मा अमूर्त है, रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द से रहित यह आत्मा है, इसलिए हे आत्मन् ! अपने आपके उपयोग में ऐसा अनुभव बना। केवल ज्ञानमात्र निर्लेप हूँ, किसी प्रकार का जहाँ विकल्प नहीं है, केवल जहाँ एक ज्ञानमात्र का अनुभवन है वहाँ पहिचाना जाता है कि यह मैं आत्मा कैसा हूँ? यह मैं आत्मा अतीन्द्रिय हूँ, अनिर्देश्य हूँ, कल्पना से परे हूँ, अमूर्तिक हूँ। फिर हूँ मैं क्या? इन्द्रिय द्वारा नहीं जाना जाता; किसी नाम से नहीं जाना जाता; रूप, रस, गंध,

स्पर्श से रहित हूँ। आचार्य महाराज कहते हैं कि हम अपने आत्मा को इस प्रकार अनुभवें कि मैं चिदानन्दमय हूँ, ज्ञानदर्शन और आनन्दमय हूँ, ऐसे चैतन्यमात्र अपने आपका अनुभव करें, अर्थात् अपने आत्मा को इस प्रकार जानें, और बहुत-बहुत कहने से क्या, समझाने से बात नहीं आती। जिसमें योग्यता है, जिसमें सामर्थ्य है वह अपने आपका अनुभव कर लेता है। हम अपने आपमें ऐसा अनुभव करें कि मैं विशुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। जिसमें कल्पना नहीं रहती, विकल्प नहीं रहता ऐसा शून्य केवल एक शुद्ध प्रकाशमात्र चिदानन्दस्वरूप अपने आत्मा को जानें।

श्लोक-1594

मुच्येताधीतशास्त्रोऽपि नात्मेति कल्पयन्वपुः।

आत्मन्यात्मानमन्विष्यन् श्रुतशून्योऽपि मुच्यते॥1594॥

कोई पुरुष ऐसी ही प्रतीति बनाये हो कि शरीर को निरखकर शरीर में ही 'यह ही मैं आत्मा हूँ' इस प्रकार कोई अपना अभ्यास बनाये हो ऐसा कोई अपने को जानता हो तो उसे मिथ्याबुद्धि वाला कहो, बहिरात्मा कहो। ऐसा बहिरात्मा पुरुष यदि अनेक शास्त्र भी पढ़ जाय, अनेक शास्त्रों का उसे परिज्ञान भी हो जाय तो भी वह मुक्त नहीं हो सकता। मुक्त तो मुक्ति की पद्धति से ही हुआ जा सकता है। आत्मा का ज्ञान करें और उस ही आत्मा में रम जायें। यही है मोक्ष का उपाय। इसके विरुद्ध शरीर में ही 'यह मैं हूँ' ऐसी दृढ़ प्रतीति बन जाय तो बाह्य में कितने ही शास्त्रों का अध्ययन कर लें, कितने ही मत-मतान्तर कर लें तो भी वह कर्मों से नहीं छूटता। और एक ऐसा पुरुष जो शास्त्रों में निष्णात नहीं है, विद्वान नहीं है लेकिन आत्मा में ही आत्मा को जानता है, मानता है यह मैं आत्मा हूँ, यह निर्दोष है, अतीन्द्रिय है, कल्पनाओं से परे है, विशुद्ध चैतन्यमात्र है। ऐसा यह मैं अमूर्त, निर्लेप, ज्ञानप्रकाशमात्र आत्मा हूँ इस प्रकार जिसने अपना ज्ञान कर लिया है वह मुक्त हो ही जाता है। इसका कारण यह है कि शास्त्रों का नाना प्रकार का परिज्ञान तो आत्मज्ञान के लिए है। और यह आत्मज्ञान जिसने सहज प्राप्त कर लिया, विद्याओं का विशेष अभ्यास कर लिया तो उसने फल पा लिया। अब शास्त्र पढ़ने से क्या फल रहा? तो जो आत्मतत्त्व का अनुभव कर ले उसकी तो मुक्ति अवश्य है। चाहे उसने शास्त्राभ्यास किया हो अथवा न भी किया हो, पर जो अपने आत्मा के निजानन्द स्वरूप को नहीं जानता वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। इससे हमको यह शिक्षा लेनी है कि हम आत्मज्ञान से शून्य रहेंगे तो हम कुछ भी धर्म नहीं कर सकते। इसका यत्न करें, और उस यत्न के लिए ऐसा निर्णय

बनायें। दूसरा कोई भी आत्मा मेरा कुछ नहीं है, सब मायाजाल है। सभी मुझसे अत्यन्त—पृथक् हैं, ऐसा निर्णय बनायें जिसके प्रताप से पर के विकल्प हटेंगे और आत्मा अपने आपमें अपने आपको जान जायगा।

श्लोक-1595

पराधीनसुखास्वादननिर्वेदविशदस्य ते।

आत्मैवामृततां गच्छन्नविच्छिन्नं स्वमीक्षते॥1595॥

हे आत्मन् ! यदि तू पराधीन सुख का स्वाद लेने से विरक्त हो गया है ओर इस वैराग्य के प्रसाद से तेरी बुद्धि निर्मल बन गई है तो समझ ले कि अब यह आत्मा अमूर्त पाने को प्राप्त होता हुआ निरन्तर बिना विच्छेद के अपने आपको देखता है, अपने आनन्द को भोग सकता है। प्रयोजन यह है कि आत्मा की विशुद्धि, आनन्द का अनुभव तब तक नहीं हो सकता जब तक इन्द्रिय के विषयों में प्रीति बनी रहे, क्योंकि इन्द्रिय के विषयों में प्रीति में उपयोग बाहर में रहा करता है। बाहर में दृष्टि गई तो अपने में क्या मिला? खुद ज्ञानानन्दस्वरूप हे लेकिन जब उपयोग अथवा दृष्टि बाहर में चली जाय तो फिर खुद तो रीता हो गया। खुद में अब वह क्या अनुभव करेगा? और जो पुरुष इन बाह्यपदार्थों में सुख नहीं समझता, परवस्तुओं के प्रति विरक्ति का परिणाम है, अपने आपको अमूर्त ज्ञानप्रकाश अनुभव कर चुका तो समझ लीजिए कि वह तो अमृत पी चुका, अर्थात् उसे यह दृढ़ प्रतीति हो गई कि मैं अविनाशी हूँ, मैं कभी नष्ट नहीं होता, सबसे निराला हूँ। अब उसे काहे की आकुलता? वह अमृत तत्त्व को पी चुका है ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् वह अमर हो चुका है, जन्ममरण से रहित हो चुका है। अभी नहीं जन्म मरण से रहित हुआ जिसके जन्म मरण का विनाश नियम से होगा उसे यह कह दिया जाता कि वह तो जन्ममरण समाप्त कर चुका, इसमें कोई संदेह नहीं।

श्लोक-1596

यदभ्यस्तं सुखाद् ज्ञानं तद्दुःखेनापसर्पति।

दुःखैकशरणस्तस्माद् योगी तत्त्वं निरूपयेत्॥1596॥

तत्त्वाभ्यासी पुरुष, ज्ञानाभ्यासी पुरुष ज्ञान का अभ्यास तो करे पर साथ ही यह बात न भूले कि हम कुछ साथ-साथ तपश्चरण भी करें। कुछ हमको कष्ट आयें, दुःख आयें उस मार्ग में तो उनके भी हम सहनशील बन जायें। इसके लिए जान-जानकर अनशन करें, ऊनोदर करें, तपश्चरण करें, सर्दी-गर्मी सहें, इष्ट वियोग अथवा अनिष्ट संयोग में अपने ज्ञानबल को यथार्थ रखें, ऐसी बात यदि वह कर सकता है तो उसका प्राप्त हुआ ज्ञान आगे कायम बना रहेगा। यदि कभी बड़े आराम से, बड़े सुख से ज्ञान का अभ्यास बना हुआ है तो वह दुःख उसे घबड़वा देगा। तो ज्ञान की सम्हाल तो करें, मगर साथ-साथ तपश्चरण भी करें ताकि कभी विपत्ति आ जाय तो हम उस ज्ञान को न भूल सकें। ऐसा ज्ञानी विचारता है कि जो ज्ञान सुख का अभ्यास किए है वह ज्ञान प्रायः दुःख आने पर नष्ट हो जाया करता है। इस कारण योगी दुःख को अंगीकार करके तत्त्व का अनुभव करता है, तपश्चरण करता है, परिषह सहता है ताकि कभी-कभी तो यह मेरा ज्ञानावलोकन, मेरा वह ज्ञानाभ्यास बन जाय। तो ज्ञान को स्थिर बनाने का, ज्ञानानुभव करते रहने का सम्बंध संयम से है। अपने आपके उपयोग को चारों ओर से हटाकर अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में संयत करें, यहाँ से कहीं बाहर न डुला सकें ऐसा कोई भीतर में यदि अभ्यास करता है तो उसका यह परमार्थ तपश्चरण है और जिसके बाह्य तपश्चरण में ऊब आ जाती है, कुछ खेद होने लगता है, कुछ आकुलता सी बन जाती है वह। एक कठिनाई वाला काम है, ऐसा कुछ अनुभव में रहता है। इस प्रकार कोई भीतर में यह परमार्थ तपश्चरण कर रहा हो तो प्रथम ही प्रथम इस तपश्चरण का अभ्यास करने वाले ज्ञानी को कुछ खेद होने लगता है। इसकी भी यदि वह कुछ परवाह न करे, अपने उपयोग को बराबर चलाये जाय तो बस यह समझिये कि बहुत प्रयत्न तो वह कर चुका था, थोड़े समय और यत्न करने का काम था सो उसने कर लिया, अब उसके बराबर आत्मानुभव जग गया, और अपने आपके आत्मा में वह अमृत तत्त्व पा चुका। इससे यह शिक्षा लेनी है कि हम परिषहों के सहने का अभ्यास रखें और ज्ञानार्जन करें ताकि हम अपने किसी क्लेश के आने पर इससे घबड़ा न जायें और ज्ञान के अनुभव को छोड़ न दें। योगी पुरुष अपने आत्मा को ही अपना शरण मानकर आत्मा में ही अपना उपयोग लगाते हैं, ज्ञानाभ्यास करते हैं और बड़े-बड़े तपश्चरण करते हैं।

श्लोक-1597

निखिलभुवनतत्त्वोद्भासनैकप्रदीपं,
निरूपधिमधिरूढं निर्भरानन्दकाष्ठाम्।

परममुनिमनीषोद्भेदपर्यन्तभूतं,
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव॥1597॥

हे आत्मन् ! तू अपने आपको अपने आत्मा में ही इस प्रकार विशुद्ध अनुभव कर। अपने आत्मा को जो आत्मा का स्वरूप है उस स्वरूप में अनुभव करें, जो बिगड़ गया रूप है, जो अनित्यस्वरूप है उस रूप अपने को मत समझिये। यद्यपि यह भी एक परिणति है। कोई मनुष्य है, पशु है, पक्षी है, पेड़, पौधा है इस प्रकार विशुद्ध पर्यायें बन रही हैं तिस पर भी प्रत्येक द्रव्य जो निजस्वरूप होता है वह उसके कारण अपने आप होता है। उस स्वरूप में अपने को अनुभव करें।

इस जगत के बाहर कहीं भी कुछ भी सार और शरण तत्त्व नहीं है। बाहर में जो भी धनवैभव हैं, जो-जो समागम दिख रहे हैं उन सबमें कैसा उपयोग कर रहा है यह जीव? यह जीव लोगों में नामवरी चाहता है, लोगों से अनेक प्रकार की आशाएँ कर रहा है। धन वैभव का उपयोग तो विषय साधनों के लिए है। हमारे इन्द्रिय के विषयों की खूब पूर्ति हो, इस शरीर को लक्ष्य में रखकर वह कह रहा है—यह में आराम से रहूँ। साथ ही दुनिया के लोग मुझे समझ जायें कि मैं भी कुछ वैभववान व्यक्ति हूँ। धन वैभव का ऐसा उपयोग करना चाहते हैं परन्तु जरा भली बुद्धि करके, आत्महित की दृष्टि करके निर्णय तो करिये। इस लोक में मेरा क्या भला होने का है? जिन लोगों की ऐसी उपासना कर रहे हैं कि भगवान न कुछ हैं। भगवान की ऐसी उपासना नहीं करता यह मनुष्य जिस लीनता के साथ दुनिया के लोगों की उपासना करता है। इसका उदाहरण एक यह लो। कोई व्यक्ति मंदिर में पूजन-भजन कर रहा है तो जब तक कोई पास में नहीं है तब तक जिस चाहे तरह से वह पूजन करता है परन्तु मंदिर में जब कोई दो चार व्यक्ति आ जाते हैं और यह पुजारी उन लोगों को देख लेता है तो उसके गान तान में फर्क पड़जाता है। तो यह गान तान किसे सुनाया जा रहा है? यह गान तान तो उन चार लोगों को सुना रहा है। लोगों से कुछ आशा बनाये है और कुछ नहीं तो ऐसी आशा बना ली है कि लोग मुझे कुछ समझें। मेरे बारे में लोग अच्छी ही बात रखें तो क्या यह उनका भीख मांगने की तरह नहीं है? अरे इन बातों से कुछ भी सार न मिलेगा। जैसे स्वप्न में कोई देखे कि मैं राजा हो गया, लोग मुझे नमस्कार कर रहे हैं, मेरी बड़ी मान्यता है तो स्वप्न का काल व्यतीत होने के बाद फिर वह ज्यों का त्यों है। स्वप्न के समय की वह एक कल्पना है, इसी प्रकार मोह और राग के समय की यह कल्पना है कि मैं कुछ हूँ। अरे आत्मन् ! जब तू शरीर ही नहीं है, शरीर से निराला विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप तत्त्व है तो तू अपने इस चैतन्यस्वरूप की सम्हाल कर धनवैभव कुटुम्ब परिजन मित्रजन इनकी सम्हाल करने से तो तुझे कुछ भी लाभ न मिलेगा। इस जीवन को चाहे आराम में गुजारो, चाहे कष्ट में, इस शरीर का आराम कोई आराम नहीं। आराम तो मन का है। आराम तो ज्ञान का है। विशुद्ध भावना

रहे, अपने आत्मस्वरूप का लक्ष्य रहे तो आराम वहाँ है। बल्कि शरीर को आराम से रखा जायतो रोज-रोज कुछ न कुछ इसे कष्ट आता है। मन का दुःख छूटता है सम्यग्ज्ञान से। धन वैभव से भी कुछ पूरा नहीं पड़ने का है। जब इन सबसे दृष्टि हटाकर यह तो पुण्यानुसार जैसा आता है आने दो, उसके ज्ञाताद्रष्टा रहें। यह धन वैभव के पीछे हैरान होकर कुछ भी लाभ की बात न मिलेगी। इस धन वैभव से अपना बड़प्पन न समझें। जब अपने में सम्यक्त्व बना रहे तो तब समझिये कि हम मोक्षमार्ग में बढ़ रहे हैं। रत्नमय धर्मपालन बिना किसी भी बात में बड़प्पन नहीं है। अपने उस स्वरूप को निहारो।

देखिये जैन शासन की उपासना के लिए मूल मंत्र है णमोकार मंत्र। और णमोकार मंत्र के बाद तुरन्त ही बोला जाता है विशुद्ध वातावरण बनाने के लिए एक दण्डक, जिसे चत्तारि मंगल से शुरू करते हैं। चार चीजें मंगल हैं। मंगल शब्द का अर्थ है, मं अर्थात् पाप, गल अर्थात् गला दे, जो पापों को गला दे उसे मंगल कहते हैं। दूसरा अर्थ मंग अर्थात् सुख, ल अर्थात् ला दे, जो सुख ला दे उसे मंगल कहते हैं। भला इस संसार में ऐसा कौन है जो पापों को गला दे अथवा सुख को उत्पन्न करा दे। निमित्त से तो एक अरहंत सिद्ध देव की उपासना ही अनेक भवों के कमाये हुए पापों को क्षणभर में ध्वस्त कर देती है, जिनेन्द्र भक्ति अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूप की भक्ति। समवशरण में चारों ओरसे बड़े-बड़े देव और इन्द्र खिंचे आते हैं। आनन्द में मस्त होकर बांसुरी, झांझ आदि अनेक प्रकार के बाजे बजाते हुए चले आते हैं। अरे वह आकर्षण किस बात का है? वह आकर्षण है वीतरागता का। वह प्रभु रागद्वेषरहित निर्मल सर्वज्ञ हुए हैं। उसी सर्वज्ञता का यह प्रताप है कि वे सभी के सभी आकर्षित होकर चले आ रहे हैं। जैसे कभी किसी मनुष्य को देखकर करुणा उपजती है तो क्यों उपजती है? उसको देखकर अपने आपमें भी ऐसी गुप्त रूप से कुछ वासना बनती है कि ऐसा मैं भी तो हो सकता हूँ। उसकी तकलीफ से अपनी तकलीफ की तुलना करने लगते हैं यों दूसरे को देखकर दया आती है। तो एक तुलना की बात बतला हे हैं पर अरहंत प्रभु की भी एक विशुद्ध तुलना है। वीतरागता का जो स्वरूप प्रकट है उसकी तुलना ज्ञानी पुरुष अपने में करता है। वह उत्कृष्ट है, वही मंगल है, वही सुख शान्ति को उत्पन्न करने वाला है। उसी वीतरागता के कारण इन्द्र और देव खिंचे चले आ रहे हैं। जो कुछ नहीं चाहता, किसके किसी में राग नहीं है, देखो उस पर ये तीनों लोक के इन्द्र खिंचे चले आते हैं। तो वह विशुद्ध स्वरूप प्रकट हुआ है वही मंगल है। अरहंत सिद्ध एक समान है, केवल घातिया कर्मों का अन्तर है। मगर स्वरूप में सर्वज्ञता, अनन्त चतुष्टय उसी तरह के अरहंत में प्रकट है जैसा कि सिद्ध में। चूंकि अरहंत भगवान हमारे शासन के मूल आधार हैं। उनकी दिव्यध्वनि को गणधर देवों ने लिखा, अनेक आचार्यों ने बाद में उसका प्रतिपादन किया। तो अरहंत प्रभु ही हमारे इस जैन शासन के मूल आधार हैं।

तो देखो सबसे पहिले अरहंत देव को मंगल बताया है। अरहंत प्रभु के बाद सिद्ध प्रभु को मंगल कहा है। सिद्ध मायने जो पूर्ण आनन्दरस से तृप्त हो गए हों, संसार के आवागमन से पूर्ण मुक्त हो गए हों।

तीसरी बार कहते हैं कि साहू मंगल। साधु मायने जो समता का पुञ्ज हो। जगत के जीवों में किसी जीव के प्रीति यह बैरी है, ऐसी भावना न बने, यह मेरा मित्र है ऐसी भावना न बने, किन्तु सब जीवों को एक स्वरूप में निरखता है ऐसा जो समता का पुञ्ज है और अपने इस समता के पुञ्ज आत्मतत्त्व के ध्यान में किसकी धुन बन गयी है ऐसा जो संत है वह साधु मंगल है। फिर चौथे बारे में कहते हैं कि केवलीपरणत्तोधम्मो मंगलं। भगवान के द्वारा कहा गया जो धर्म है वह मंगल है। उसे केवली भगवान ने बताया है। हे आत्मन् ! यदि तू बाह्य संसार जगत को असार जानकर किसी भी क्षण उनको भुला दे, उनकी उपेक्षा कर दे, उनमें कुछ सार नहीं है ऐसा जानकर उस ओर से मुख मोड़ ले, परमविश्राम में आ जाय तो तू अपने आपमें ऐसा आनन्द पायगा, ऐसा विशुद्ध ज्ञान प्रकाश पायगा जिसके समान लोक में कुछ भी मंगल नहीं है। वह मंगल क्या है। हमारा हममें ही बसा हुआ स्वरूप मंगल है। उसी को जान लें, उसी का अनुभव बनायें तो हमें वह मंगल मिलेगा। अपने विशुद्ध आत्मतत्त्व का अवलोकन करें, रागद्वेष रहित विशुद्ध परिणाम रखे यही लोक में उत्तम है। प्रथम तो दुनिया की चीजों को देखना ही न चाहिए कि यहाँ क्या है क्या नहीं है? यहाँ कुछ भी चीज देखें तो उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श का पिण्ड ही मिलेगा। जो भी आकार बनावट सजावट होगी वह सब पौद्गलिक रूप है, बाहर में कहीं कुछ भी सार की बात नहीं है। कुछ सार नहीं है—इस निर्णय के लिए बाहर में कहाँ क्या देखना, देख ही रहे हैं। यहाँ यदि कोई सार है तो एक अरहंत प्रभु का शरण ही है। अरहंत प्रभु हमें कुछ दे न देंगे। उनके पास हमें देने के लिए कुछ है भी क्या? वह तो हमें कुछ भी नहीं देंगे। कोई पूछे कि अगर वह कुछ न देंगे तो फिर उनकी शरण में क्यों पहुँचते हो? तो मैं उनकी शरण में यों जाता हूँ कि मुझे जो कुछ मिलना है वह मेरे से मिलता है। मैंने भ्रम से अनेक विकल्प मचा रखे हैं जिनके कारण मैं अशान्त हो रहा हूँ। तो अरहंतस्वरूप की शरण में आकर, उन्हें निरखकर मैं अपने आप ही अपने में शान्ति प्राप्त कर लेता हूँ। इस कारण मैं अरहंतों की शरण को प्राप्त होता हूँ।

प्रभु के गुणों में जबखूब अनुराग जगे, अपना चित्त लगे तो सब कुछ मिल गया, अब उनसे क्या मांगना? लोग कहते हैं प्रभु को कि सुख देना दुःख मेटना यही तुम्हारी बाना। पर यह भी कहना ठीक नहीं। अरहंत प्रभु में चित्त लग गया तो समझो सब कुछ मिल ही गया। धनंजय कवि ने कहा है कि हे भगवन ! मैं आपकी स्तुति करके आपसे कुछ नहीं मांगता। कहीं आप ऐसा न सोचने समझने लगना कि यह भक्त हमसे कुछ मांगने के लिए हमारी शरण में आया है, मैं जानता हूँ कि आप उपेक्षक हैं। आपका किसी के प्रति राग अथवा द्वेष है नहीं। आप तो अपने अनन्त आनन्दस्वरूप में मग्न हो रहे हो। मैं जानता हूँ कि आप उपेक्षक हैं। तुमको किसी से ममता नहीं रही।....तो भाई ! स्तुति क्यों करते हो?कहते हैं कि स्तुति हम इसलिए कर रहे हैं कि उस स्थिति में हमें स्वयं भी अपने में शान्ति मिलती है। क्योंकि आपके गुणानुराग से हमें अपने गुणों का स्पर्श हो जाता है। और फिर एक बात और सुनो ! यदि कोई पुरुष छाया वाले पेड़ के नीचे बैठा

हुआ उस पेड़ से प्रार्थना करे कि ऐ पेड़ तू मुझे छाया दे तो यह कितनी मूढ़ता भरी बात होगी? यदि कोई उसके मुख से ऐसा सुन ले तो वह तो उसे पागल कहेगा। तो हे भगवन ! आपकी छत्रछाया में बैठकर मुझे आपसे कुछ न चाहिए। आपके गुणों में हमारा उपयोग रम रहा है, बस अब तो हमें सब कुछ मिला ही हुआ है। हे प्रभो ! मैं किसकी शरण जाऊँ? जहाँ बसा, जिसमें रहा, चाहे कितना ही प्रेम का वातावरण हो, मगर वहाँ से ठोकर ही मिली, अशान्ति ही मिली, विकल्प ही चले। मैं किसकी शरण जाऊँ? ढूँढ़ता-ढूँढ़ता हे प्रभो ! मैं आपकी शरण में आया तो मुझे आपसे परम शरण मिला। हे सिद्ध भगवंत ! मैं तुम्हारी शरण को प्राप्त होता हूँ, हे सिद्ध परमेष्ठी, हे समता के उपासक, हे ज्ञानमात्र तत्त्व के लखनहारे, हे संसार से विरक्त हुए साधु पुरुष ! मैं तुम्हारी शरण को प्राप्त होता हूँ। ये तीन शरण तो व्यावहारिक शरण है। आखिरी निचोड़ की बात अन्त में कहते हैं कि मैं उस धर्म की शरण को प्राप्त होता हूँ जिस धर्म को केवली भगवान ने बताया, वह धर्म अपने आपमें ही है।

भाई अपने आप पर दया करो, अपनी रक्षा करो, अपनी सुध लो, अपने में शान्ति उत्पन्न करो। अपने को संसार के दुःखों से छुटा लो। यह एक बड़ा मौका मिला है। मनुष्य हुए हैं, श्रावक कुल में आये हैं, जैन शासन मिला है, मन भी उत्तम मिला है। दूसरे के हृदय की बात समझ सकते हैं, अपने हृदय की बात दूसरों को बता सकते हैं। इतना दुर्लभ समागम प्राप्त कर इसका पूर्ण सदुपयोग करें। यह सदुपयोग हे अपने आपमें अपने धर्म की दृष्टि कर लेना। हे आत्मन् ! तू अपने आपको ऐसा अनुभव कर कि यह आत्मा समस्त लोक के यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने वाला एक अद्वितीय तत्त्व है। यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है, जानन के अतिरिक्त इसमें और कुछ नहीं है। ज्ञानी पुरुष तो जानन से आगे कुछ नहीं चाहता। जानना भी न चाहे, पर जानन स्वरूप है सो जानता रहता है। यह आत्मा कितना जानने की शक्ति वाला है? अरे कितने का सवाल क्या? इसके जानने का स्वभाव है सो सब कुछ जानने में आ जाता है। समस्त द्रव्य अलग-अलग हैं, सबके यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने वाला एक अद्वितीय प्रतीक है। अपने आपको इस प्रकार अनुभव करें कि यह आत्मतत्त्व अलौकिक अनुपम सातिशय विशुद्ध सहज आनन्द की काष्ठा को प्राप्त होवे अर्थात् यह आनन्दस्वरूप है। अपने आत्मा को इस रूप में निरखना है कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ। मनुष्य चाहता क्या है? मेरा ज्ञान बढ़े और मेरा आनन्द बढ़े। जो कुछ भी चाहता है वह इन दोनों की पूर्ति के लिए। बड़े-बड़े ऋषिसंत जन बता गए हैं कि हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा का ऐसा अनुभव कर कि मेरा जो एक विशुद्ध स्वरूप है, जो ज्ञानानन्दरस निर्भर आत्मतत्त्व है वही कल्याणरूप है। अन्य उपयोग में अन्य बुद्धि में, अन्य विकल्पों में पड़ने से कल्याण नहीं है।

श्लोक-1598

इति साधारणं ध्येयं ध्यानयोधर्मशुक्लयोः।

विशुद्धिः स्वामिभेदेन भेदः सूत्रे निरूपितः॥1598॥

यहाँ इस अधिकार से पहिले धर्मध्यान का और शुक्लध्यान का प्रकरण चल रहा था। ध्यान चार प्रकार के होते हैं—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान। इसका वियोग होने पर, अनिष्ट का संयोग होने पर, शारीरिक कोई पीड़ा होने पर अथवा वैभव की आशा बनाने से जो कुछ अन्तरङ्ग में पीड़ा होती है उस पीड़ा के समय जो ध्यान है उसे आर्तध्यान कहते हैं। यह ध्यान संसारबन्धन का कारण है, दुःखों से भरा हुआ है। दूसरा है रौद्रध्यान। क्रूर आशय करके पञ्चेन्द्रिय के विषयों में आनन्द मानना, किसी जीव के घात से आनन्द मानना, ये जो परिणाम हैं वे रौद्रध्यान हैं। यह भी संसार का बीज है। एक धर्मध्यान और दूसरा शुक्लध्यान, ये आत्मा को उन्नति के पथ में ले जाने वाले हैं। विशुद्ध ध्यान में साधारण रूप से बताया गया कि इस बहिरात्मा को छोड़ दें, अन्तरात्मा का अनुभव करें और परमात्मतत्त्व का ध्यान करें। यह एक उपदेश है। बीच में अन्तरात्मा है अर्थात् यह बहिरात्मा के परिहार का और परमात्मतत्त्व के ग्रहण का माध्यम है। एक सम्यग्ज्ञान बनाने से बहिरात्मापन भी छूट जाता है और परमात्मतत्त्व का ग्रहण हो जाता है। जो धनवैभव आदिक बाह्यपदार्थों में आत्मबुद्धि करे वह बहिरात्मा है और अपने अन्तरङ्ग में विशुद्ध दर्शन ज्ञानस्वरूप अपनी चेतना में आत्मबुद्धि करे वह सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। और जो समस्त कर्मों से रहित है, गुणों में सम्पन्न है वह परमात्मा है। परमात्मतत्त्व अत्यन्त उपादेय है, उसकी प्राप्ति के लिए तू अपने आपमें बसे हुए सहज सिद्ध परमात्मतत्त्व का ध्यान कर। उसकी विधि इस अधिकार में बताया है, उसको संक्षेप में इतना कह लीजिए कि इन्द्रिय के व्यापार को रोककर, मन के संकल्प विकल्प को दूर कर बड़े विश्राम के साथ जरा अपने आपमें पैठ तो जायें, एक विशुद्ध आनन्द जगेगा तब समझ लेगा कि मेरा विशुद्ध स्वरूप क्या है? फिर जो समझा उसे कभी भूलेगा नहीं। उस तत्त्व का स्मरण कर, उसकी शरण गह, वही मंगल है, वही लोक में उत्तम है। ऐसे उस परमविविक्त अपने स्वरूप में लगना, सद्भूत ऐसे अंतस्तत्त्व की रक्षा करना, अपने आपमें परमात्मस्वरूप का निरखना, इन कार्यों में अपने आत्मा की दया हेतु अपने को लगाना चाहिए। मन थोड़ा लगे तो कुछ जबरदस्ती हमें धर्म के कार्यों में मन लगाना है, क्योंकि धर्म की शरण गहे बिना हमारा पूरा न पड़ेगा। एक धर्म ही हमारा रक्षक है। वह रक्षक हमारा हममें है। जरा विषयों से दृष्टि हटे, अपने आपमें निरखें तो अपने में वह ज्ञान प्रकाश मिलेगा जिसकी शरण गहने से नियम से संसार के संकट दूर होंगे।